श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला पुष्प

— = सर्वज्ञवीतरागाय नमः = —

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीतं

श्री

प्रवचनसार

मूल गाथा, संस्कृत छाया, हिंदी पद्यानुवाद
श्री अमृतचन्द्राचार्य देव विरचित संस्कृत टीका और उसके
गुजराती अनुवादके हिन्दी अनुवाद सहित

गुजराती टीकाकारः—

श्री हिंमतलाल जेठालाल शाह

बी. एस. सी.

हिन्दी अनुवादकः—

श्री पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ

ललितपुर (झांसी)
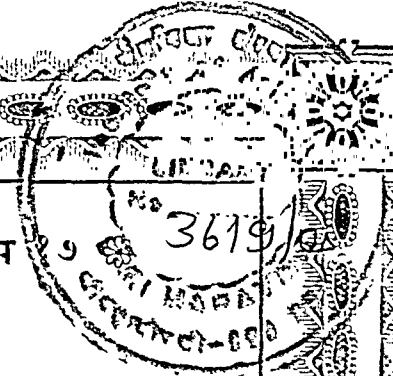
प्रकाशक:—
श्री मगनमल हीरालाल दि० जैन
पारमार्थिक ट्रस्टान्तर्गत
श्री पाटनी दि० जैन ग्रंथमाला
मारोठ (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति १००० | मूल्य ६॥) रुपये | सितम्बर १९५० श्री वीर नि० संवत २४७६

—: मुद्रक :—
नेमीचन्द बाकलीवाल
मैनेजर:—एम० के० मिल्स प्रेस
मदनगंज (किशनगढ़) राजस्थान

— प्रकाशकीय —

आज मुझे अत्यन्त अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि इस श्री प्रवचनसार परमागमकी तत्वदीपिका नामकी टीकाके अक्षरशः अनुवाद द्वारा श्री कुंदकुंदाचार्य्य देव एवं श्री अमृतचन्द्राचार्य्य देव के अन्तर हृदयको पहिचानकर, अपने आपको पहिचान सकनेका सौभाग्य हिंदी भाषाभाषियोंको आज प्राप्त होरहा है।

आजसे अनुमानतः २००० वर्ष पूर्व भगवान् श्री कुंदकुंदाचार्य्य द्वारा सूत्ररूपमें श्री प्रवचनसारकी गाथाओंकी रचना हुई, उसके अनुमानतः १००० वर्ष पीछेही उन सूत्रों पर श्रीअमृतचन्द्राचार्य्य देव द्वारा तत्वदीपिका टीका रची गई उसके आज १००० वर्ष पीछेही उसकी अक्षरशः टीका—जो अमृतचन्द्र देवके हृदयमें छिपे अमृतको स्पष्ट रूपसे सरल भाषामें प्रकाशित करती है—उसकी रचना हुई व अपूर्व शैलीसे विशद और स्पष्ट, विवेचन परमपूज्य श्री कानजी स्वामीके द्वारा सोनगढमें अविच्छिन्न रूपसे होरहा है व हजारों मुमुक्षु निरंतर लाभ लेरहे हैं। इसप्रकार यह परम अध्यात्मका प्रवाह अत्रुटरूपसे, क्रम परम्परासे, यथार्थ मोक्ष मार्गका प्रकाशन करता हुआ चलता आरहा है व भविष्यमें भी इसीप्रकार चलता रहेगा तथा इसके साधक जीव भी होते रहे हैं, वर्तमानमें हैं व आगामी भी होते रहेंगे।

इस ग्रन्थराजकी रचनाके संबंधमें, ग्रन्थके विषयके बाबतमें, गुजराती भाषामें अनुवाद करनेका कारण एवं अनुवादमें कौन कौन ग्रन्थोंका आधार आदि लिया गया आदि२ अनेक विषयोंको भाई श्री हिम्मतलाल भाई ने अपने 'उपोद्घात' में सुन्दर रीतिसे स्पष्ट किया है वह पाठकोंको जरूर पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत् भाई श्री हिंमतलाल भाई के विषयमें तो क्या लिखा जावे उनको जितना भी धन्यवाद दिया जावे थोड़ा है। उनके विषयमें श्रीयुत् भाई श्री रामजीभाई माणकचन्दजी दोशी प्रमुख श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ भी गुजराती प्रवचनसारके प्रकाशकीय निवेदनमें लिखते हैं जो कि अक्षरशः सत्य है कि:—

"भाई श्री हिंमतलाल भाई अध्यात्मरसिक, शांत, विवेकी, गम्भीर और वैराग्यशाली सज्जन हैं, इसके अलावा उच्च शिक्षा प्राप्त और संस्कृतमें प्रवीण हैं। इसके पहले ग्रन्थाधिराज श्री समयसार का गुजराती अनुवाद भी उन्होंने ही किया है और अब नियमसार का अनुवाद भी वे ही करनेवाले हैं। इस प्रकार कुन्दकुन्द भगवानके समयसार, प्रवचनसार और नियमसार जैसे सर्वोत्कृष्ट परमागम शास्त्रोंके अनुवाद करनेका परम सौभाग्य उनको मिला है, इसलिये वे यथार्थ रूपसे धन्यवादके पात्र हैं।"

"इस शास्त्रका गुजराती अनुवाद इनने इतना सुन्दर किया है कि इसके लिये यह ट्रस्ट उनका जितना उपकार माने उतना कम है। इस कार्यसे तो समस्त जैन समाजके ऊपर उनका उपकार है। यह कहने की आवश्यका नहीं है कि जो यह काम उनने हाथमें नहीं लिया होता तो अपन यह सर्वोत्कृष्ट शास्त्र अपनी मातृभाषामें प्राप्त नहीं कर सकते थे-ऐसा यह संस्था विश्वासपूर्वक कहती है। भाई श्री हिंमत-

लाल भाईने कोई भी प्रकारकी आर्थिक सहायता लिये विना ही, मात्र जिनवाणी माताके प्रति भक्तिसे प्रेरित होकर ही यह कार्य किया है, इस कार्यके लिये संस्था उनकी ऋणी है, इस अनुवादमें और हरिगीतिका छंदों में तो उन्होंने अपनी आत्माका संपूर्ण रस भर दिया है, उनके लिखे हुवे उपोद्घातमें उनके अंतर का प्रतिबिंब दिखाई दे जाता है, वे लिखते हैं कि 'यह अनुवाद मैंने प्रवचनसारके प्रति भक्तिसे और अध्यात्ममूर्ति श्री कानजीस्वामीकी प्रेरणासे, अपने कल्याणके लिये, भव-भयसे डरते डरते किया है।

इसप्रकार भाई श्री हिंमतलाल भाईका समस्त जैन समाज पर महान् उपकार है।

इस परमागमका गुजराती अनुवाद होकर जब यह प्रेसमें छप रहा था तब सोनगढमें इसके दर्शन करके पढ़ने पर एवं पूज्य श्री कानजी स्वामीके मुखसे इसके अनुवादकी प्रशंसा सुनकर मेरे हृदयमें तीव्र भावना उत्पन्न हुई कि इसका लाभ हिन्दी भाषा भाषी भी लेसकें तो बहुत ही अच्छा हो इसी भावनाको लेकर मैंने उसका हिन्दी अनुवाद करनेकी श्रीयुत पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थसे प्रेरणा की, जिन्होंने इसको सहर्ष स्वीकार कर इसका परिश्रमसे यह सुन्दर अनुवाद तैयार किया है, जिसके लिये पंडितजीको अनेकर धन्यवाद है।

यह अनुवाद तैयार होजाने पर इसको अक्षरशः मिलान करके जांचनेके लिये अपना अमूल्य समय देने के लिये श्रीयुत माननीय भाई श्रीरामजी भाई माणकचन्दजी दोसी को बहुत बहुत धन्यवाद है तथा श्रीयुत भाई श्री खेमचन्द भाई एवं ब्रह्मचारी श्री चंदूभाई भी धन्यवादके पात्र हैं कि जिन्होंने अपना अमूल्य समय इस कार्यमें लगाया।

इस ग्रंथराजकी सुन्दर व आकर्षक छपाईके लिये प्रेस मैनेजर श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल धन्यवादके पात्र हैं तथा इसका प्रूफरीडिंग, शुद्धिपत्र तैयार करने, विषयसूची आदि तैयार करनेका कार्य बहुत भक्ति एवं सावधानीसे पं० महेन्द्रकुमारजी काव्यतीर्थ मदनगंज (किशनगढ़) ने किया है अतः उन्हें भी धन्यवाद है।

अनेक सावधानी रखने पर भी ग्रन्थमें अनेक स्थानों पर भूल रह गई है उसको शुद्धिपत्रसे शुद्ध करके पाठकगण पढ़ें एवं कमीके लिये क्षमा करें, इस ग्रंथराजके प्रकाशनमें अनुमानसे भी ज्यादा समय लग गया इसका कारण प्रेसकी योग्य टाइपकी एवं कागज आदि की अव्यवस्था रही।

सबके अंतमें परमपूज्य परम उपकारी अध्यात्म मूर्ति श्री कानजी स्वामीके प्रति अत्यंतर भक्ति पूर्वक नमस्कार है कि जिनकी यथार्थ तत्व प्ररूपणासे अनंतकालमें नहीं प्राप्त किया ऐसे यथार्थ मोक्षमार्गको समझनेका अवसर प्राप्त हुवा है तथा इस ओरकी रुचि प्रगटी है। अब आंतरिक हृदयसे यह भावना है कि आपका उपदेशित मार्ग मेरे अन्तरमें जयवन्त रहे तथा उस पर अप्रतिहत भावसे चलनेका बल मेरेमें प्राप्त हो।

द्वि० आषाढ़ शुक्ला ८
वीर नि० सं० २४७६

नेमीचन्द पाटनी
प्रधानमन्त्री—
श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट मारोठ (मारवाड़)

❀ ॐ ❀

— श्री वीतरागगुरवेनमः —

उपोद्घात
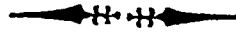
भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत यह प्रवचनसार नामक शास्त्र 'द्वितीय श्रुतस्कंध' के सर्वोत्कृष्ट आगमोंमें से एक है।

द्वितीय श्रुतस्कंधकी उत्पत्ति कैसे हुई यह पट्टावलियोंके आधारसे संक्षेपमें हम सब विचार करें:—

आजसे २४७४ वर्ष पूर्व इस भरतक्षेत्रकी पुण्य भूमिमें जगत्पूज्य परम भट्टारक भगवान महावीरस्वामी मोक्षमार्गका प्रकाश करने लिये समस्त पदार्थोंका स्वरूप अपनी सातिशय दिव्यध्वनिके द्वारा प्रगट करते थे। उनके निर्वाणके बाद पांच श्रुतकेवली हुये, जिनमें से अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु थे। वहां तक तो द्वादशांग शास्त्रकी प्ररूपणासे निश्चय-व्यवहारात्मक मोक्षमार्ग यथार्थरूपमें प्रवर्तित रहा। तत्पश्चात् काल दोषसे क्रमशः अंगोंके ज्ञानकी व्युच्छित्ति होती गई। और इसप्रकार अपार ज्ञानसिंधुका बहुभाग विच्छिन्न होनेके बाद दूसरे भद्रबाहुस्वामी-आचार्यकी परिपाटी (परम्परा) में दो समर्थ मुनि हुये। उनमें से एक का नाम श्रीधरसेनाचार्य और दूसरेका श्री गुणधराचार्य था। उनसे प्राप्त ज्ञानके द्वारा उनकी परम्परामें होनेवाले आचार्यों ने शास्त्रोंकी रचना की और वीर भगवानके उपदेशका प्रवाह चालू रखा।

श्रीधरसेनाचार्यको अग्रायणीपूर्वके पंचम वस्तुअधिकारके महाकर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृतका ज्ञान था। उस ज्ञानामृतमें से क्रमशः उनके बादके आचार्यों द्वारा षट्खण्डागम, धवल, महाधवल, जयधवल, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्रोंकी रचना हुई। इसप्रकार प्रथम श्रुतस्कंधकी उत्पत्ति हुई। उसमें जीव और कर्मके संयोगसे होनेवाली आत्माकी संसार पर्यायका,—गुणस्थान, मार्गणा आदिका-वर्णन है, पर्यायार्थिक नयको प्रधान करके कथन है। इस नयको अशुद्ध द्रव्यार्थिक भी कहते हैं, और अध्यात्म भाषामें अशुद्ध निश्चयनय अथवा व्यवहार कहते हैं।

श्रीगुणधर आचार्यको ज्ञानप्रवादपूर्वके दशमवस्तुके तीसरे प्राभृतका ज्ञान था। उस ज्ञानमें से बाद के आचार्योंने क्रमशः सिद्धान्त-रचना की। इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान महावीरसे चला आनेवाला ज्ञान

आचार्य परम्परासे भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवको प्राप्त हुआ। उन्होंने पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड आदि शास्त्रोंकी रचना की। इसप्रकार द्वितीय श्रुतस्कंधकी उत्पत्ति हुई। उसमें ज्ञान को प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे कथन है,—आत्माके शुद्धस्वरूपका वर्णन है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम संवत्के प्रारंभमें हुये हैं। दिगम्बर जैन परम्परामें भ० कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

यह श्लोक प्रत्येक दिगम्बर जैन, शास्त्रस्वाध्यायके प्रारंभमें मंगलाचरणके रूपमें बोलता है। इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और श्री गौतम-गणधरके पश्चात् तत्काल ही भगवान कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान है। दिगम्बर जैन साधु अपनेको कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्पराका कहलाने में गौरव मानते हैं। भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यके शास्त्र साक्षात् गणधर देवके वचन जितने ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके बाद होनेवाले ग्रंथकार आचार्य अपने किसी कथनको सिद्ध करनेके लिये कुन्दकुन्दाचार्यके शास्त्रोंका प्रमाण देते हैं, इसलिये वह कथन निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। उनके बादके लिखे गये ग्रंथोंमें उनके शास्त्रोंमें से बहुतसे अवतरण लिये गये हैं। वास्तवमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यने अपने परमागमोंमें तीर्थंकर देवोंके द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धान्तोंको सुरक्षित कर रखा है, और मोक्षमार्गको स्थिर रखा है।

विक्रम संवत् ९९०में होनेवाले श्री देवसेनाचार्यने अपने दर्शनसार नामक ग्रंथमें कहा है कि—* "विदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकर सीमंधर स्वामीके समवसरणमें जाकर श्री पद्मनन्दिनाथ (कुन्दकुन्दाचार्य) ने स्वयं प्राप्त किये गये ज्ञानके द्वारा बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?" एक दूसरा उल्लेख है, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यको 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहा गया है। श्री श्रुतसागरसूरिकृत षट्प्राभृत टीकाके अंतमें लिखा है कि-"पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य,—इन पांच नामोंसे युक्त, तथा जिन्हें चार अंगुल ऊपर आकाशमें चलनेकी ऋद्धि प्राप्त थी और जिन्होंने पूर्व विदेहमें जाकर सीमंधर भगवानकी वंदना की थी तथा उनके पाससे प्राप्त श्रुतज्ञानके द्वारा भारतवर्षके भव्यजीवोंको प्रतिबोधित किया था, उन श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारकके पट्टके आभरणरूप कलिकाल सर्वज्ञ (भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव) के द्वारा रचित इस षट्प्राभृत ग्रंथमें······ सूरीश्वर श्री श्रुतसागरके द्वारा रचीगई मोक्षप्राभृतकी टीका समाप्त हुई।"

---

* मूल श्लोकके लिये देखिये पृष्ठ १४

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यकी महत्ताको प्रदर्शित करनेवाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्यमें मिलते हैं। कई शिलालेखों* में भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सनातन जैन संप्रदायमें कलिकाल सर्वज्ञ भगवान कुंदकुंदचार्यका अद्वितीय स्थान है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित अनेक शास्त्र हैं, जिनमें से थोड़े से वर्तमानमें विद्यमान हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेवके मुखसे प्रवाहित श्रुतामृतकी सरितामें से भर लिये गये अमृतभाजन वर्तमानमें भी अनेक आत्मार्थियोंको आत्मजीवन प्रदान करते हैं। उनके समयसार, पंचास्तिकाय और प्रवचनसार नामक तीन उत्तमोत्तम शास्त्र 'नाटक त्रय' अथवा 'प्राभृत त्रय' कहलाते हैं। इन तीन परमागमोंमें हजारों शास्त्रोंका सार आजाता है। भ० कुन्दकुन्दाचार्यके बाद लिखे गये अनेक ग्रन्थोंके बीज इन तीन परमागमोंमें विद्यमान हैं;—ऐसा सूक्ष्म दृष्टिसे अभ्यास करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है। श्री समयसार इस भरतक्षेत्रका सर्वोत्कृष्ट परमागम है। उसमें नवतत्वोंका शुद्धनयकी दृष्टिसे निरूपण करके जीवका शुद्ध स्वरूप सर्व प्रकारसे—आगम, युक्ति, अनुभव और परम्परासे—अति विस्तारपूर्वक समझाया है। पंचास्तिकायमें छह द्रव्यों और नव तत्वोंका स्वरूप संक्षेपमें कहा गया है। प्रवचनसारमें उसके नामानुसार जिन प्रवचनका सार संग्रहीत किया गया है। जैसे समयसारमें मुख्यतया दर्शनप्रधान निरूपण है उसीप्रकार प्रवचनसारमें मुख्यतया ज्ञानप्रधान कथन है।

श्री प्रवचनसारके प्रारंभमें ही शास्त्रकर्ताने वीतरागचरित्रके लिये अपनी तीव्र आकांक्षा व्यक्त की है। बारंबार भीतर ही भीतर (अंतरमें) डुबकी लगाते हुये आचार्यदेव निरंतर भीतर ही समाये रहना चाहते हैं। किन्तु जब तक उस दशाको नहीं पहुँचा जाता तब तक अंतर अनुभवसे छूटकर बारंबार बाहर भी आना हो जाता है। इस दशामें जिन अमूल्य वचनमौक्तिकोंकी माला गुँथ गई वह यह प्रवचनसार परमागम है। सम्पूर्ण परमागममें वीतराग चारित्रकी तीव्राकांक्षाकी मुख्यध्वनि गूंज रही है।

ऐसे इस परम पवित्र शास्त्रके मध्य तीन श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंधका नाम ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन है। अनादिकालसे परोन्मुख जीवोंको कभी ऐसी श्रद्धा नहीं हुई कि 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ और मेरा सुख मुझमें ही है।' इसीलिये उसकी परमुखापेक्षी—परोन्मुखवृत्ति कभी नहीं टलती। ऐसे दीन दुखी जीवों पर आचार्यदेवने करुणा करके इस अधिकारमें जीवका ज्ञानानंदस्वभाव विस्तारपूर्वक समझाया है; उसीप्रकार केवलीके ज्ञान और सुख प्राप्त करनेकी प्रचुर उत्कृष्ट भावना बहाई है। "क्षायिक ज्ञान ही उपादेय है, क्षायोपशमिकज्ञानवाले तो कर्मभारको ही भोगते हैं; प्रत्यक्षज्ञान ही ऐकान्तिक सुख है, परोक्षज्ञान तो अत्यंत आकुल है; केवलीका अतींद्रिय सुख ही सुख है, इन्द्रियजनित सुख तो दुख ही है; सिद्ध भगवान स्वयमेव ज्ञान, सुख और देव हैं, घातिकर्म रहित भगवानका सुख सुनकर भी जिन्हें उनके प्रति श्रद्धा नहीं

---

*शिलालेखोंके उल्लेखके लिये पृष्ठ १३ देखिये।

होती वे अभव्य (दूरभव्य) हैं" यों अनेकानेक प्रकारसे आचार्यदेवने केवलज्ञान और अतींद्रिय, परिपूर्ण सुखके लिये पुकार की है। केवलीके ज्ञान और आनंदके लिये आचार्यदेवने ऐसी भाव भरी धुन मचाई है कि जिसे सुनकर–पढ़कर सहजही ऐसा लगने लगता है कि विदेहवासी सीमंधर भगवानके निकटसे, केवली भगवंतोंके झुंडमेंसे भरतक्षेत्रमें आकर तत्काल ही कदाचित् आचार्यदेवने यह अधिकार रचकर अपनी हृदयोर्मियाँ व्यक्त की हों। इसप्रकार ज्ञान और सुखका अनुपम निरूपण करके इस अधिकारमें आचार्यदेवने मुमुक्षुओंको अतींद्रिय ज्ञान और सुखकी रुचि तथा श्रद्धा कराई है, और अंतिम गाथाओंमें मोह-राग-द्वेषको निर्मूल करनेका जिनोक्त यथार्थ उपाय संक्षेपमें बताया है।

द्वितीय श्रुतस्कंधका नाम ज्ञेयतत्व–प्रज्ञापन है। अनादिकालसे परिभ्रमण करता हुआ जीव सब कुछ कर चुका है, किन्तु उसने स्व-परका भेद विज्ञान कभी नहीं किया। उसे कभी ऐसी सानुभव श्रद्धा नहीं हुई कि 'बंध मार्गमें तथा मोक्षमार्गमें जीव अकेला ही कर्ता, कर्म, करण और कर्मफल बनता है, उसका परके साथ कभी भी कुछ भी संबंध नहीं है।' इसलिये हजारों मिथ्या उपाय करने पर भी वह दुःखमुक्त नहीं होता। इस श्रुतस्कंधमें आचार्यदेवने दुःखकी जड़ छेदनेका साधन–भेदविज्ञान–समझाया है। 'जगतका प्रत्येक सत् अर्थात् प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके अतिरिक्त या गुण-पर्याय समूहके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। सत् कहो, द्रव्य कहो, उत्पाद व्यय ध्रौव्य कहो या गुणपर्यायपिण्ड कहो,–यह सब एक ही है।' यह, त्रिकालज्ञ जिनेन्द्रभगवानके द्वारा साक्षात् दृष्ट वस्तुस्वरूपका मूलभूत सिद्धान्त है। वीतराग विज्ञानका यह मूलभूत सिद्धांत प्रारंभकी बहुतसी गाथाओंमें अत्यधिक सुन्दर रीतिसे,–किसी लोकोत्तर वैज्ञानिक के ढंगसे समझाया गया है। उसमें, द्रव्यसामान्यका स्वरूप जिस अलौकिक शैलीसे सिद्ध किया है उसका ध्यान पाठकको यह भाग स्वयं ही समझपूर्वक पढ़े बिना आना अशक्य है।

वास्तवमें प्रवचनसारमें वर्णित यह द्रव्यसामान्य निरूपण अत्यन्त अबाध्य और परम प्रतीतिकर है। इसप्रकार द्रव्यसामान्यकी ज्ञानरूपी सुदृढ भूमिका रचकर, द्रव्य विशेष का असाधारण वर्णन, प्राणादिसे जीवकी भिन्नता, जीव देहादिका–कर्ता कारयिता, अनुमोदक नहीं है–यह वास्तविकता, जीवको पुद्गल-पिण्डका अकर्तृत्व, निश्चयबंधका स्वरूप, शुद्धात्माकी उपलब्धिका फल, एकाग्र संचेतनलक्षण ध्यान इत्यादि अनेक विषय अति स्पष्टतया समझाये गये हैं। इन सबमें स्व-परका भेद विज्ञान ही स्पष्ट तैरता दिखाई दे रहा है। सम्पूर्ण अधिकारमें वीतराग प्रणीत द्रव्यानुयोगका सत्त्व खूब धांस धांस कर (ठूंस ठूंस कर) भरा है, जिनशासनके मौलिक सिद्धान्तोंको अबाध्यरूपसे सिद्ध किया है। यह अधिकार जिनशासनके स्तंभ समान है। इसका गहराईसे अभ्यास करनेवाले मध्यस्थ सुपात्र जीवको ऐसी प्रतीति हुये बिना नहीं रहती कि 'जैन दर्शन ही वस्तुदर्शन है।' विषयका प्रतिपादन इतना प्रौढ़, अगाध गहराई युक्त, मर्म-स्पर्शी और चमत्कृतिमय है कि वह मुमुक्षुके उपयोगको तीक्ष्ण बनाकर श्रुतरत्नाकरकी गंभीर गहराईमें ले जाता है। किसी उच्चकोटिके मुमुक्षु को निजस्वभावरत्नकी प्राप्ति कराता है, और यदि कोई सामान्य मुमुक्षु

वहां तक न पहुँच सके तो उसके हृदयमें भी इतनी महिमा तो अवश्य ही घर कर लेती है कि 'श्रुतरत्नाकर अद्भुत और अपार है।' ग्रंथकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव और टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवके हृदयसे प्रवाहित श्रुतगंगा ने तीर्थंकरके और श्रुतकेवलियोंके विरहको भुला दिया है।

तीसरे श्रुतस्कंधका नाम चरणानुयोगसूचक चूलिका है। शुभोपयोगी मुनिको अंतरंग दशाके अनुरूप किस प्रकार का शुभोपयोग वर्तता है और साथ ही साथ सहजतया बाहरकी कैसी क्रियायें स्वयं वर्तती होती हैं, यह इसमें जिनेन्द्र कथनानुसार समझाया गया है दीक्षा ग्रहण करनेकी जिनोक्त विधि, अंतरंग सहज दशाके अनुरूप बहिरंगयथाजातरूपत्व, अट्ठाईस मूलगुण, अंतरंग-बहिरंग छेद, उपधिनिषेध, उत्सर्ग-अपवाद, युक्ताहार विहार, एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग, मुनिका अन्य मुनियोंके प्रतिका व्यवहार, इत्यादि अनेक विषय इसमें युक्ति सहित समझाये गये हैं। ग्रंथकार और टीकाकार आचार्ययुगलने चरणानुयोग जैसे विषयका भी आत्म द्रव्यको मुख्य करके, शुद्धद्रव्यावलम्बी अंतरंग दशाके साथ उन उन क्रियाओंका अथवा शुभ भावोंका संबंध दिखलाते हुये, निश्चय व्यवहारकी संधिपूर्वक ऐसा चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है कि आचरणप्रज्ञापन जैसे अधिकारमें भी मानो कोई शांतरस झरता हुआ अध्यात्मगीत गाया जा रहा हो,—ऐसा ही लगता रहता है। आत्मद्रव्यको मुख्य करके ऐसा मधुर, ऐसा सयुक्तिक, ऐसा प्रमाणभूत, साद्यंत शांतरस झरता हुआ चरणानुयोगका प्रतिपादन अन्य किसी शास्त्रमें नहीं है। हृदयमें भरे हुये अनुभवामृतमें ओतप्रोत होकर निकलती हुई दोनों आचार्यों देवोंकी वाणीमें कोई ऐसा चमत्कार है कि वह जिस जिस विषयको स्पर्श करती है उस उस विषयको परम रसमय, शीतल—शीतल और सुधास्यंदी बना देती है।

इसप्रकार तीन श्रुतस्कंधोंमें विभाजित यह परम पवित्र परमागम मुमुक्षुओंको यथार्थ वस्तुस्वरूपके समझनेमें महानिमित्तभूत है। इस शास्त्रमें जिनशासनके अनेक मुख्य मुख्य सिद्धांतोंके बीज विद्यमान हैं। इस शास्त्रमें प्रत्येक पदार्थकी स्वतंत्रताकी घोषणा की गई है तथा दिव्यध्वनिके द्वारा विनिर्गत अनेक प्रयोजनभूत सिद्धांतोंका दोहन है।

परमपूज्य कानजी स्वामी अनेकबार कहते हैं कि—"श्री समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि शास्त्रोंकी गाथा गाथामें दिव्यध्वनिका संदेश है। इन गाथाओंमें इतनी अपार गहराई है कि उसका माप करनेमें अपनी ही शक्तिका माप होजाता है। यह सागरगंभीर शास्त्रोंके रचयिता परमकृपालु आचार्यदेवका कोई परम अलौकिक सामर्थ्य है। परम अद्भुत सातिशय अन्तर्बाह्य योगोंके विना इन शास्त्रोंका रचा जाना शक्य नहीं है। इन शास्त्रोंकी वाणी तैरते हुये पुरुषकी वाणी है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इसकी प्रत्येक गाथा छट्ठे—सातवें गुणस्थानमें झूलते हुये महामुनिके आत्मानुभवसे निकली हुई है। इन शास्त्रोंके कर्ता भगवान कुंदकुंदाचार्य देव महाविदेह क्षेत्रमें सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवानके समवसरणमें गये थे, और वहां वे आठ दिन रहे थे, यह बात यथातथ्य है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाणसिद्ध है। उन परमो-

पकारी आचार्यदेवके द्वारा रचित समयसार प्रवचनसार, आदि शास्त्रोंमें तीर्थंकर देवकी ॐकारध्वनिमें से ही निकला हुआ उपदेश है।"

भगवान कुंदकुंदाचार्यकृत इस शास्त्रकी प्राकृत गाथाओंकी 'तत्त्वदीपिका' नामक संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य (जो कि लगभग विक्रम संवत् की १० वीं शताब्दीमें होगये हैं) ने रची है। जैसे इस शास्त्रके मूलकर्ता अलौकिक पुरुष हैं वैसे ही इसके टीकाकार भी महा समर्थ आचार्य हैं। उन्होंने समयसार तथा पंचास्तिकायकी टीका भी लिखी है और तत्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतंत्र ग्रंथोंकी भी रचना की है। उन जैसी टीकायें अभी तक किसी अन्य जैनशास्त्रकी नहीं हुई हैं। उनकी टीकाओं के पाठकको उनकी अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वत्ता, वस्तुस्वरूपको न्यायपूर्वक सिद्ध करनेकी असाधारण शक्ति, जिनशासनका अत्यन्त गंभीर ज्ञान, निश्चय व्यवहारका संविवद्ध निरूपण करनेकी विरल शक्ति और उत्तम काव्य शक्तिका पूरा पता लग जाता है। गंभीर रहस्योंको अत्यन्त संक्षेपमें भर देने की उनकी शक्ति विद्वानोंको आश्चर्यचकित कर देती है। उनकी दैवी टीकायें श्रुतकेवलीके वचनों जैसी हैं। जैसे मूल शास्त्रकारके शास्त्र अनुभव-युक्ति आदि समस्त समृद्धियोंसे समृद्ध हैं वैसे ही टीकाकार की टीकायें भी उन उन सर्व समृद्धियोंसे विभूषित हैं। शासन मान्य भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस कलिकालमें जगद्गुरु तीर्थंकर देव जैसा कार्य किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने मानों कि वे कुंदकुंदभगवान्के हृदयमें बैठगये हों इसप्रकारसे उनके गंभीर आशयोंको यथार्थतया व्यक्त करके उनके गणधर जैसा कार्य किया है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा रचित काव्य भी अध्यात्मरस और आत्मानुभवकी मस्तीसे भरपूर हैं। श्री समयसारकी टीकामें आनेवाले काव्यों (कलशों) ने श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ मुनिवरों पर गहरी छाप जमाई है, और आज भी तत्त्वज्ञान तथा अध्यात्मरससे भरे हुवे वे मधुर कलश अध्यात्मरसिकोंके हृदयके तारको झनझना डालते हैं। अध्यात्मकविके रूपमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवका स्थान अद्वितीय है।

प्रवचनसारमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवने २७५ गाथाओंकी रचना प्राकृतमें की है। उनपर श्री अमृतचन्द्राचार्यने तत्त्वदीपिका नामक तथा श्री जयसेनाचार्यने तात्पर्यवृत्तिनामक संस्कृत टीका की रचना की है। श्री पांडे हेमराजजीने तत्त्वदीपिकाका भावार्थ हिन्दीमें लिखा है, जिसका नाम 'बालावबोध भाषा टीका' रखा है। विक्रम संवत् १९६९में श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल बम्बई द्वारा प्रकाशित हिन्दी प्रवचचनसारमें मूल गाथायें, दोनों संकृत टीकायें, और श्री हेमराजजी कृत हिन्दी बालावबोध भाषा टीका मुद्रित हुई है। अब इस प्रकाशित गुजराती प्रवचनसारमें मूल गाथायें, उनका गुजराती पद्यानुवाद (जो परिशिष्टरूपमें इस ग्रंथके अंतमें दिया है), संस्कृत तत्त्वदीपिका टीका और उस गाथा व टीकाका अक्षरशः गुजराती अनुवाद (जिसका यह हिन्दी अनुवाद श्रीयुत् पंडित परमेष्ठीदासजी जैन न्यायतीर्थ ने किया है) प्रगट किया गया है। जहाँ कुछ विशेष स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यक्ता प्रतीत हुई है वहाँ कोष्टकमें

अथवा 'भावार्थ' में या फुटनोटमें स्पष्टता की गई है। उस स्पष्टता करनेमें बहुत सी जगह श्री जयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है और कहीं कहीं श्री हेमराजजी कृत बालावबोध भाषा टीका का भी आधार लिया है। श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित प्रवचनसारमें मुद्रित संस्कृत टीका को हस्तलिखित प्रतियों से मिलान करने पर कहीं कहीं जो अल्प अशुद्धियां मालूम हुईं वे इसमें ठीक करली गई हैं।

यह अनुवाद करनेका महाभाग्य मुझे प्राप्त हुआ, जो कि मेरे लिये अत्यन्त हर्षका कारण है। परमपूज्य अध्यात्ममूर्ति श्री कांनजी स्वामीके आश्रयमें इस गहन शास्त्र का अनुवाद हुआ है। अनुवाद करनेकी सम्पूर्ण शक्ति मुझे पूज्यपाद महाराज श्री से ही प्राप्त हुई है। परमोपकारी श्री गुरुदेवके पवित्र जीवनके प्रत्यक्ष परिचयके विना और उनके आध्यात्मिक उपदेशके विना इस पामर को जिनवाणीके प्रति लेशमात्र भी भक्ति या श्रद्धा कहां से प्रगट होती? भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव और उनके शास्त्रों की रंचमात्र महिमा कहाँसे आती? तथा उन शास्त्रोंका अर्थ ढूंढ निकालनेकी लेश मात्र शक्ति कहाँसे आती? इसप्रकार अनुवादकी समस्त शक्तिका मूल श्री गुरुदेव ही होनेसे वास्तवमें तो महाराजश्री की अमृतवाणीका प्रवाह ही—उनसे प्राप्त अमूल्य उपदेश ही—यथा समय इस अनुवादके रूपमें परिणत हुआ है। जिनके द्वारा सिंचित शक्ति से और जिनका पीठपर बल होनेसे इस गहन शास्त्रके अनुवादकरनेका मैंने अति साहस किया और जिनकी कृपा से वह निर्विघ्न समाप्त हुआ उन परमपूज्य परमोपकारी श्री गुरुदेव (श्री कानजी स्वामी) के चरणारविन्दमें अति भक्तिभावसे मैं वन्दना करता हूँ।

पूज्य व्हेन श्री चम्पाव्हेन तथा पूज्य व्हेन शान्ताव्हेनके प्रति भी इस अनुवादको पूर्ण करते हुये उपकारवशताकी उग्रभावनाका अनुभव होरहा है जिनका पवित्र जीवन और बोध इस पामरको श्री प्रवचन सारके प्रति, प्रवचनसारके महान् कर्ताके प्रति और प्रवचनसारमें उपदिष्ट वीतरागविज्ञानके प्रति बहुमान वृद्धिका विशिष्ट निमित्त हुआ है ऐसे उन पूज्य व्हेनोंके प्रति यह हृदय अत्यंत नमीभूत है।

इस अनुवादमें अनेक भाइयोंसे हार्दिक सहायता मिली है। माननीय श्री वकील रामजीभाई माणेकचन्द दोशीने अपने भरपूर धार्मिक व्यवसायोंमें से समय निकालकर सारा अनुवाद बारीकी से जांच लिया है, यथोचित सलाह दी है और अनुवादमें आनेवाली छोटी—बड़ी कठिनाइयोंका अपने विशाल शास्त्र ज्ञानसे हल किया है। भाई श्री खीमचन्द जेठालाल शेठने भी पूरा अनुवाद सावधानीपूर्वक जांचा है, और अपने संस्कृत भाषाके तथा शास्त्रज्ञानके आधारसे उपयोगी सूचनायें दी हैं। भाई श्री ब्रह्मचारी चन्दूलाल खीमचन्द झोबालिया ने हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे संस्कृत टीकामें सुधार किया है, अनुवादका कितना ही भाग जांचा है, शुद्धिपत्र, अनुक्रमणिका और गाथा सूची तैयार की है तथा प्रूफसंशोधनका कार्य किया है। इन सब भाइयोंका मैं अन्तःकरण पूर्वक आभार मानता हूँ। उनकी सहृदय सहायता के विना अनुवाद में अनेक त्रुटियां रह जातीं। इनके अतिरिक्त अन्य जिन जिन भाइयोंकी इसमें सहायता मिली है मैं उन सबका ऋणी हूँ।

मैंने यह अनुवाद प्रवचनसारके प्रति अत्यन्त भक्ति होनेसे और गुरुदेवकी प्रेरणासे प्रेरित होकर निज कल्याणके हेतु भवभयसे डरते डरते किया है। अनुवाद करते हुये शास्त्रोंके मूल आशयमें कोई अन्तर न पड़ने पाये, इस ओर मैंने पूरी पूरी सावधानी रखी है, तथापि अल्पज्ञता के कारण कहीं कोई आशय बदल गया हो या कोई भूल होगई हो तो उसके लिये मैं शास्त्रकार श्री कुंदकुंदाचार्यदेव, टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव और मुमुक्षु पाठकोंसे अंतःकरण पूर्वक क्षमायाचना करता हूँ।

मेरी आंतरिक भावना है कि यह अनुवाद भव्यजीवोंको जिनकथित वस्तुविज्ञानका निर्णय कराकर, अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखकी श्रद्धा कराकर, प्रत्येक द्रव्यका संपूर्ण स्वातंत्र्य समझाकर, द्रव्यसामान्यमें लीन होनेरूप शाश्वत सुखका पंथ दिखाये। 'परमानन्दरूपी सुधारसके पिपासु भव्यजीवोंके हितार्थ' श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने इस महाशास्त्रकी व्याख्या की है। जो जीव इसमें कथित परमकल्याणकारी भावोंको हृदयंगम करेंगे वे अवश्य परमानन्दरूपी सुधारसके भाजन होंगे। जब तक ये भाव हृदयंगम न हों तब तक निश-दिन यही भावना, यही विचार, यही मंथन और यही पुरुषार्थ कर्तव्य है। यही परमानंद प्राप्तिका उपाय है। श्री अमृतचन्द्राचार्य देव द्वारा तत्त्वदीपिकाकी पूर्णाहुति करते हुये भावित भावनाको भाकर यह उपोद्घात पूर्ण करता हूँ—"आनन्दामृतके पूरसे परिपूर्ण प्रवाहित कैवल्यसरितामें जो निमग्न है, जगत्को देखनेके लिये समर्थ महाज्ञानलक्ष्मी जिसमें मुख्य है, जो उत्तम रत्न किरणोंके समान स्पष्ट है, और जो इष्ट है—ऐसे प्रकाशमान स्वतत्वको जीव स्यात्कारलक्षणसे लक्षित जिनेन्द्रशासनके वश प्राप्त हों।"

श्रुत पंचमी
वि० सं० २००४

हिंमतलाल जेठालाल शाह,
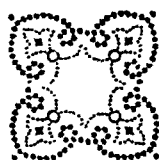
हिन्दी भाषाका गौरव !

अनुवादक की ओरसे !

मैं इसे अपना परम सौभाग्य मानता हूं कि मुझे परमश्रुत–प्रवचनसारका यह हिन्दी अनुवाद करनेका सुयोग प्राप्त हुआ है। हिन्दी भाषाके लिये यह गौरवकी बात है कि लगभग १००० वर्षके बाद श्री अमृतचन्द्राचार्यकी तत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृत टीकाका यह शब्दशः अनुवाद (भले ही गुजरातीके द्वारा) हुआ है। यद्यपि पांडे हेमराजजी ने भी हिन्दी अनुवाद किया था, किन्तु वह केवल भावानुवाद ही था। यह मेरे मित्र श्री. हिंमतलालभाई की ही बौद्धिक हिम्मत है कि उन्होंने ही सर्वप्रथम प्रवचन-सारकी तत्त्वप्रदीपिका का अक्षरशः भाषानुवाद (गुजराती भाषामें) किया है, जिसका हिन्दी अनुवाद करनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

काठियावाड़के सन्त पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी स्वर्णपुरी (सोनगढ़) में बैठकर भगवान् कुन्द-कुन्दाचार्यके सत् साहित्यका जिस रोचक ढंगसे प्रचार और प्रसार कर रहे हैं वैसा गत कई शताब्दियोंमें किसी भी जैनाचार्य ने नहीं किया। काठियावाड़के सैकड़ों-हजारों नर-नारी उनकी अध्यात्मवाणीको बड़े चावसे सुनते हैं, और अध्यात्मोपदेशामृतका पान करते समय गद्गद् हो जाते हैं। पूज्य कानजी स्वामी का अद्भुत प्रभाव है। उन्हींके उपदेशोंसे प्रेरित होकर श्री हिंमतभाई ने प्रवचनसारकी गुजराती टीका की है। उन्होंने इस कार्यमें भारी परिश्रम किया है। मैंने तो केवल उनके गुजराती शब्दोंको साधारण हिन्दीमें परिवर्तित कर दिया है। अतः मैं श्री हिम्मतभाईका आभार मानता हूँ कि आपके द्वारा निर्मित प्रशस्त मार्ग पर सरलतापूर्वक चलने का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त होगया है।

जैनेन्द्रप्रेस, ललितपुर
श्रुतपंचमी, वीर सं. २४७६

परमेष्ठीदास जैन
न्यायतीर्थ

जिनजीकी वाणी
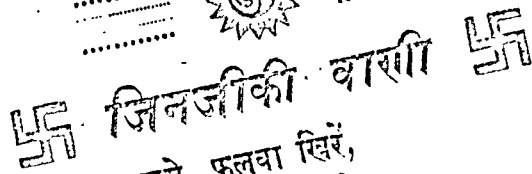
सीमंधर मुखसे फुलवा खिरें,
जींकी कुन्दकुन्द गूंथे माल रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।
वाणी प्रभू मन लागे भली,
जिसमें सार-समय शिरताज रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।........सीमंधर०
गूंथा पाहुड़ अरु गूंथा पंचास्ति,
गूंथा जो प्रवचनसार रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।
गूंथा नियमसार, गूंथा रयणसार,
गूंथा समयसारका सार रे,
जिनजीकी वाणी भली रे। ......सीमंधर०
स्याद्वादरूपी सुगंधी भरा जो,
जिनजी का ओंकारनाद रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।
वंदूं जिनेश्वर, वंदूं मैं कुन्दकुन्द,
वंदूं यह ओंकारनाद रे,
जिनजीकी वाणी भली रे। ....सीमंधर०
हृदये रहो मेरे भावों रहो,
मेरे ध्यान रहो जिनवाणी रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।
जिनेश्वरदेवकी वाणीकी गूंज,
मेरे गुंजती रहो दिन रात रे,
जिनजीकी वाणी भली रे। ..... सीमंधर०

भगवान् श्री कुंदकुंदाचार्य्य देव वनमें ताड़पत्र पर श्री प्रवचनसार परमागमकी रचना कर रहे हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवके

— सम्बन्धमें —

उल्लेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः ।
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ॥
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख]

अर्थ—कुन्दपुष्पकी प्रभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्तिके द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणोंके—चारण ऋद्धिधारी महामुनियोंके सुन्दर हस्त कमलोंके भ्रमर थे और जिस पवित्रात्माने भरत क्षेत्रमें श्रुत की प्रतिष्ठा की है वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वंद्य नहीं हैं ?

❀ ❀ ❀

... . कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-
र्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय
चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

[विंध्यगिरि-शिलालेख]

अर्थ—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थानको–भूमितलको–छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाशमें चलते थे, उससे मैं यह समझता हूँ कि वे अन्तरंग तथा बहिरंग रजसे (अपना) अत्यन्त अस्पृष्टत्व व्यक्त करते थे। (वे अंतरंगमें रागादि मलसे और बाह्यमें धूलसे अस्पृष्ट थे।)

❀

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

[दर्शनसार]

अर्थ—(महाविदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकर देव) श्री सीमंधर स्वामीसे प्राप्त दिव्यज्ञानके द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ ने (श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवने) बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते?

❀

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानके लिये इस पामर को परम उपकारभूत हुये हैं। इसलिये मैं आपको अतिशय भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

श्री प्रवचनसारकी विषयानुक्रमणिका

(१) ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन

— शुभपरिणाम अधिकार —

(१) ज्ञेयतत्व प्रज्ञापन

शास्त्रका अर्थ करनेकी पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको तथा उसके भावोंको एवं कारण-कार्यादिको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, इस लिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, अतः इसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है, तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो, जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण?

उत्तर—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ इसी प्रकार है" ऐसा समझना चाहिये, तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लेकर कथन किया गया है, उसे "ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है" ऐसा जानना चाहिये; और इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यान (कथन–विवेचन) को समान सत्यार्थ जानकर "इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है" इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तने से तो दोनों नयों का ग्रहण करना कहा नहीं है।

प्रश्न—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्गमें उसका उपदेश क्यों दिया है? एक मात्र निश्चयनयका ही निरूपण करना चाहिये था।

उत्तर—ऐसा ही तर्क श्री समयसारमें किया है, वहां यह उत्तर दिया है कि—जैसे किसी अनार्य—म्लेच्छको म्लेच्छ भाषाके विना अर्थ ग्रहण करानेमें कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहारके विना परमार्थका उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और फिर इसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है कि—इस प्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिये व्यवहारके द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक
[अध्याय के अंतके प्रष्ठोंमें]
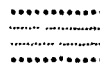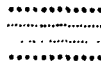
—※ श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः ※—

शास्त्र-स्वाध्यायका प्रारम्भिक मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥ १ ॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३ ॥

॥ श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीप्रवचनसारनामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितं श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी,
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥ १ ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥ २ ॥

नमोऽनेकान्ताय

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत

श्री

प्रवचनसार

— १ —

ज्ञानतत्त्व - प्रज्ञापन

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृततत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः

(मङ्गलाचरणम्)

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ॥१॥

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथाओं और श्रीमद्-अमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वदीपिका नामक टीकाका

हिन्दी भाषानुवाद

[सर्व प्रथम ग्रंथके प्रारंभमें श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित प्राकृत गाथाबद्ध श्री प्रवचनसार नामक शास्त्रकी 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत टीकाके रचयिता श्री अमृतचन्द्राचार्य उपरोक्त श्लोकोंके द्वारा मंगलाचरण करते हुए ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्माको नमस्कार करते हैं:—]

हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ॥ २ ॥

परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम् ।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥ ३ ॥

अथ खलु कश्चिदासन्नसंसारपारावारपारः समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योतिरस्तमितसमस्तैकान्तवादविद्याभिनिवेशः पारमेश्वरीमनेकान्तवादविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्रहतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमां भगवत्पंचपरमेष्ठिप्रसादोपजन्यां परमार्थसत्यां मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसरान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनः प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते—

अर्थः— सर्वव्यापी (सबका ज्ञाता-दृष्टा) एक चैतन्यरूप (मात्र चैतन्य ही) जिसका स्वरूप है और जो स्वानुभव प्रसिद्ध है (शुद्ध आत्मानुभवसे प्रकृष्टतया सिद्ध है) उस ज्ञानानन्दात्मक (ज्ञान और आनन्दस्वरूप) उत्कृष्ट आत्माको नमस्कार हो।

[अब अनेकान्तमय ज्ञानकी मंगलके लिये श्लोक द्वारा स्तुति करते हैं:—]

अर्थः—जो महामोहरूपी अंधकारसमूहको लीलामात्रमें नष्ट करता है, और जगतके स्वरूपको प्रकाशित करता है ऐसा अनेकांतमय तेज सदा जयवंत है।

[अब श्री अमृतचंद्राचार्यदेव (तीसरे श्लोक द्वारा) अनेकान्तमय जिनप्रवचनके सारभूत इस 'प्रवचनसार' शास्त्रकी टीका करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—]

अर्थः—परमानन्दरूपी सुधारसके पिपासु भव्य जीवोंके हितार्थ तत्त्वको (वस्तुस्वरूपको) प्रगट करने वाली प्रवचनसारकी यह टीका रची जारही है।

[इसप्रकार मंगलाचरण और टीका रचनेकी प्रतिज्ञा करके, भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित प्रवचनसारकी पहली पांच गाथाओंके प्रारम्भमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव उन गाथाओंकी उत्थानिका करते हैं।]

अब, जिनके संसार समुद्रका किनारा निकट है, और सातिशय विवेकज्योति प्रगट होगई है, अर्थात् परम भेदविज्ञानका प्रकाश उत्पन्न होगया है तथा समस्त एकांतवादविद्याका अभिनिवेश (आग्रह) अस्त होगया है वे (आसन्नभव्य महात्मा श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य) पारमेश्वरी (परमेश्वर जिनेन्द्रदेवकी) अनेकांतवादविद्याको प्राप्त करके, समस्त पक्षका परिग्रह (शत्रुमित्रादिका समस्त पक्षपात) त्याग देनेसे अत्यन्त मध्यस्थ होकर,

अथ सूत्रावतारः

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥१॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥ २ ॥
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥ ३ ॥
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेदि सव्वेसिं॥ ४ ॥

सर्व [1]पुरुषार्थमें सारभूत होनेसे आत्माके लिये अत्यन्त [2]हिततम भगवन्त पंचपरमेष्ठीके [3]प्रसादसे उत्पन्न होने योग्य, परमार्थसत्य, अक्षय मोक्षलक्ष्मीको [4]उपादेयरूपसे निश्चित करते हुए प्रवर्तमान तीर्थके नायक (श्री महावीरस्वामी) पूर्वक भगवंत पंचपरमेष्ठीको [5]प्रणमन और वन्दनसे होनेवाले नमस्कारके द्वारा सन्मान करके सर्वारम्भसे (उद्यमसे) मोक्षमार्गका आश्रय करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं।

अब, यहां (भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित) गाथासूत्रोंका अवतरण किया जाता है।

गाथा १–५

अन्वयार्थः–[**एषः**] यह मैं [**सुरासुरमनुष्येन्द्रवंदितं**] जो [6]सुरेन्द्रों, [7]असुरेन्द्रों और [8]नरेन्द्रों से वन्दित हैं तथा जिन्होंने [**धौतघातिकर्ममलं**] घाति कर्ममलको धो डाला है ऐसे [**तीर्थं**] तीर्थरूप और [**धर्मस्य कर्तारं**] धर्मके कर्ता [**वर्धमानं**] श्री वर्द्धमान-स्वामीको [**प्रणमामि**] नमस्कार करता हूँ ॥

[**पुनः**] और [**विशुद्धसद्भावान्**] विशुद्ध [9]सत्तावाले [**शेषान् तीर्थकरान्**] शेष तीर्थंकरोंको [**ससर्वसिद्धान्**] सर्व सिद्धभगवन्तोंके साथ ही, [**च**] और [**ज्ञानदर्शन-**

---

१ पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन चार पुरुषार्थोंमें से मोक्ष ही सारभूत श्रेष्ठ पुरुषार्थ है। २ हिततम=उत्कृष्ट हितस्वरूप। ३ प्रसाद=प्रसन्नता, कृपा। ४ उपादेय=ग्रहण करने योग्य, मोक्षलक्ष्मी हिततम, यथार्थ और अविनाशी होनेसे उपादेय है। ५ प्रणमन=देहसे नमस्कार करना। वन्दन=वचनसे स्तुति करना। नमस्कारमें प्रणमन और वन्दन दोनोंका समावेश होता है। ६ सुरेन्द्र—ऊर्ध्वलोकवासी देवोंके इन्द्र। ७ असुरेन्द्र—अधोलोकवासी देवोंके इन्द्र। ८ नरेन्द्र (मध्यलोकवासी) मनुष्योंके अधिपति, राजा। ९ सत्ता—अस्तित्व।

तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥ ५ ॥ [पणगं]

एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितं धौतघातिकर्ममलम् ।
प्रणमामि वर्धमानं तीर्थं धर्मस्य कर्तारम् ॥ १ ॥
शेषान् पुनस्तीर्थंकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान् ।
श्रमणांश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ॥ २ ॥
तांस्तान् सर्वान् समकं समकं प्रत्येकमेव प्रत्येकम् ।
वन्दे च वर्तमानानर्हतो मानुषे क्षेत्रे ॥ ३ ॥
कृत्वार्हद्भ्यः सिद्धेभ्यस्तथा नमो गणधरेभ्यः ।
अध्यापकवर्गेभ्यः साधुभ्यश्चेति सर्वेभ्यः ॥ ४ ॥
तेषां विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रमं समासाद्य ।
उपसंपद्ये साम्यं यतो निर्वाणसंप्राप्तिः ॥ ५ ॥ [पंचकम्]

चारित्रतपोवीर्याचारान्] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार युक्त [**श्रमणान्**] श्रमणोंको[1] नमस्कार करता हूँ ॥

[**तान् तान् सर्वान्**] उन उन सबको [**च**] तथा [**मानुषे क्षेत्रे वर्तमानान्**] मनुष्य क्षेत्रमें विद्यमान [**अर्हतः**] अरहन्तोंको [**समकं समकं**] साथ ही साथ—समुदायरूपसे और [**प्रत्येकं एव प्रत्येकं**] प्रत्येक प्रत्येकको—व्यक्तिगत [**वंदे**] वन्दना करता हूँ ॥

[**इति**] इसप्रकार [**अर्हद्भ्यः**] अर्हंतोंको [**सिद्धेभ्यः**] सिद्धोंको [**तथा गणधरेभ्यः**] आचार्योंको [**अध्यापकवर्गेभ्यः**] उपाध्यायवर्गको [**च**] और [**सर्वेभ्यः साधुभ्यः**] सर्व साधुओंको [**नमः कृत्वा**] नमस्कार करके [**तेषां**] उनके [**विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रमं**] विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान[2] आश्रमको [**समासाद्य**] प्राप्त करके [**साम्यं उपसंपद्ये**] मैं साम्यको[3] प्राप्त करता हूँ [**यतः**] जिससे [**निर्वाण संप्राप्तिः**] निर्वाणकी प्राप्ति होती है ॥

टीका:—जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रोंके द्वारा वन्दित होनेसे तीन लोकके एक मात्र गुरु हैं, जिनमें घातिकर्ममलके धोडालनेसे जगत पर अनुग्रह करनेमें समर्थ अनन्तशक्तिरूप परमेश्वरता है, जो तीर्थताके कारण योगियोंको तारनेमें समर्थ हैं, धर्मके कर्ता होनेसे जो शुद्ध स्वरूपपरिणतिके कर्ता हैं, उन परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य, जिनका

---

१ श्रमण—आचार्य उपाध्याय और साधु । २ विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान—विशुद्ध दर्शन और ज्ञान जिसमें प्रधान हैं, ऐसे । ३ साम्य—समता, समभाव ।

एष स्वसंवेदनप्रत्यक्षदर्शनज्ञानसामान्यात्माहं सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितत्वात्त्रिलोकैकगुरुं, धौतघातिकर्ममलत्वाज्जगदनुग्रहसमर्थानन्तशक्तिपारमैश्वर्यं, योगिनां तीर्थत्वात्तारणसमर्थं, धर्मकर्तृत्वाच्छुद्धस्वरूपवृत्तिविधातारं, प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरपरमपूज्यसुगृहीतनामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि ॥ १ ॥ तदनु विशुद्धसद्भावत्वादुपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् शेषानतीततीर्थनायकान्, सर्वान् सिद्धांश्च, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात्संभावितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ॥ २ ॥ तदन्वेतानेव पंचपरमेष्ठिनस्तत्तद्व्यक्तिव्यापिनः सर्वानेव सांप्रतमेतत्क्षेत्रसंभवतीर्थकरासंभवान्महाविदेहभूमिसंभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्रप्रवर्तिभिस्तीर्थनायकैः सह वर्तमानकालं गोचरीकृत्य युगपद्युगपत्प्रत्येकं प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षणोचितमंगलाचारभूतकृतिकर्मशास्त्रोपदिष्टवंदनाभिधा-

---

नामग्रहण भी अच्छा है ऐसे श्री वर्द्धमानदेवको प्रवर्तमान तीर्थकी नायकताके कारण प्रथमही यह [1]स्वसंवेदनप्रत्यक्ष [2]दर्शनज्ञानसामान्यस्वरूप मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

तत्पश्चात् जो विशुद्ध सत्तावान् होनेसे तापसे उत्तीर्ण हुए (अन्तिम ताव दिये हुए अग्निमेंसे बाहर निकले हुए) उत्तम सुवर्णके समान शुद्धदर्शनज्ञानस्वभावको प्राप्त हुए हैं, ऐसे शेष [3]अतीत तीर्थंकरोंको और सर्वसिद्धोंको तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारयुक्त होनेसे जिन्होंने परम शुद्ध उपयोगभूमिकाको प्राप्त किया है, ऐसे श्रमणोंको—जो कि आचार्यत्व, उपाध्यायत्व और साधुत्वरूप विशेषोंसे विशिष्ट (भेदयुक्त) हैं उन्हें—नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

तत्पश्चात् इन्हीं पंचपरमेष्ठियोंको, उस उस व्यक्तिमें (पर्यायमें) व्याप्त होने वाले सभीको, वर्तमानमें इस क्षेत्रमें उत्पन्न तीर्थंकरोंका अभाव होनेसे और महाविदेहक्षेत्रमें उनका सद्भाव होनेसे मनुष्यक्षेत्रमें प्रवर्तमान तीर्थनायकयुक्त वर्तमानकालगोचर करके, (महाविदेहक्षेत्रमें वर्तमान श्री सीमंधरादि तीर्थंकरोंकी भांति मानों सभी पंच परमेष्ठी भगवान वर्तमानकालमें ही विद्यमान हों, इसप्रकार अत्यन्त भक्तिके कारण भावना भाकर—चिंतवन करके उन्हें) युगपद् युगपद् अर्थात् समुदायरूपसे और प्रत्येक प्रत्येकको अर्थात् व्यक्तिगत रूपसे संभावना करता हूँ। किस प्रकारसे संभावना करता हूँ? मोक्षलक्ष्मीके स्वयंवर समान जो परम

---

१ स्वसंवेदनप्रत्यक्ष=स्वानुभवसे प्रत्यक्ष (दर्शनज्ञानसामान्य स्वानुभवसे प्रत्यक्ष है)। २ दर्शनज्ञानसामान्यस्वरूप—दर्शनज्ञानसामान्य अर्थात् चेतना जिसका स्वरूप है ऐसा। ३ अतीत=गत, भूतकालीन।

नेन संभावयामि ॥३॥ अथैवमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां प्रणतिवन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलविलीननिखिलस्वपरविभागतया प्रवृत्ताद्वैतं नमस्कारं कृत्वा ॥ ४ ॥ तेषामेवार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानत्वेन सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसंपादकमाश्रमं समासाद्य सम्यग्दर्शनज्ञानसंपन्नो भूत्वा, जीवत्कषायकणतया पुण्यबन्धसंप्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिकलङ्कविविक्ततया निर्वाणसंप्राप्तिहेतुभूतं वीतरागचारित्राख्यं साम्यमुपसंपद्ये । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्यं गतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थः । एवं तावदयं साक्षान्मोक्षमार्गं संप्रतिपन्नः ॥ ५ ॥

निर्ग्रन्थताकी दीक्षाका उत्सव (आनन्दमय प्रसंग) है उसके उचित मंगलाचरणभूत [1]कृतिकर्मशास्त्रोपदिष्ट वन्दनोच्चार (कृतिकर्मशास्त्रमें उपदेशे हुए स्तुतिवचन) के द्वारा [2]सम्भावना करता हूँ ॥ ३ ॥

अब इस प्रकार अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व साधुओंको प्रणाम और वन्दनोच्चारसे प्रवर्तमान द्वैतके द्वारा, [3]भाव्यभावक भावसे उत्पन्न अत्यन्त गाढ़ [4]इतरेतर मिलनके कारण समस्त स्वपरका विभाग विलीन होजानेसे जिसमें [5]अद्वैत प्रवर्तमान है ऐसा नमस्कार करके, उन्हीं अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुओंके आश्रमको,—जो कि (आश्रम) विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधान होनेसे [6]सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभाववाले आत्मतत्वका श्रद्धान और ज्ञान जिसका लक्षण है ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका [7]सम्पादक है उसे—प्राप्त करके, सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्न होकर, जिसमें [8]कषायकण विद्यमान

---

१ कृतिकर्म=अंगबाह्य १४ प्रकीर्णकोंमें छट्टा प्रकीर्णक कृतिकर्म है जिसमें नित्यनैमित्तिक क्रियाका वर्णन है। २ सम्भावना—संभावना करना, सन्मान करना, आराधन करना। ३ भाव्य—भाने योग्य; चिंतवन करने योग्य; ध्यान करने योग्य अर्थात् ध्येय। भावक–भावना करने वाला, चिंतवन करने वाला, ध्यान करने वाला अर्थात् ध्याता। ४ इतरेतरमिलन—एक दूसरेका परस्पर मिल जाना अर्थात् मिश्रित हो जाना। ५ अद्वैत—पंच परमेष्टीके प्रति अत्यंत आराध्य भावके कारण आराध्यरूप पंच परमेष्टी भगवान् और आराधक रूप अपने भेदका विलय होजाता है। इस प्रकार नमस्कारमें अद्वैत पाया जाता है। यद्यपि नमस्कारमें प्रणाम और वंदनोच्चार दोनोंका समावेश होता है इसलिये उसमें द्वैत कहा है, तथापि तीव्र भक्तिभावसे स्वपरका भेदविलीन हो जानेकी अपेक्षासे उसमें अद्वैत पाया जाता है। ६ सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभाववाले—सहज शुद्ध दर्शन और ज्ञान जिनका स्वभाव है वे। ७ संपादक=प्राप्त कराने वाला, उत्पन्न करने वाला। ८ कषायकण=कषायका सूक्ष्मांश।

अथायमेव वीतरागसरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्वं विवेचयति—

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

संपद्यते निर्वाणं देवासुरमनुजराजविभवैः।
जीवस्य चरित्राद्दर्शनज्ञानप्रधानात् ॥ ६ ॥

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम् ॥ ६ ॥

होनेसे जीवको जो पुण्यबन्धकी प्राप्तिका कारण है ऐसे सराग चारित्रको—वह (सराग चारित्र) क्रमसे आपड़ने पर भी (गुणस्थान-आरोहणके क्रममें बलात् अर्थात् चारित्रमोहके मन्द उदयसे आपड़ने परभी)—दूर उल्लंघन करके, जो समस्त कषायक्लेशरूपी कलंकसे भिन्न होनेसे निर्वाणप्राप्तिका कारण है ऐसे वीतरागचारित्र नामक साम्यको प्राप्त करता हूँ। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी ऐक्यस्वरूप एकाग्रताको मैं प्राप्त हुआ हूँ, यह इस प्रतिज्ञाका अर्थ है। इस प्रकार तब इन्होंने (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवने) साक्षात् मोक्षमार्गको अंगीकार किया ॥ ४-५ ॥

अब वे ही (कुन्दकुन्दाचार्यदेव) वीतरागचारित्र इष्ट फलवाला है इसलिये उसकी उपादेयता और सरागचारित्र अनिष्ट फलवाला है इसलिये उसकी हेयताका विवेचन करते हैं:—

गाथा ६

अन्वयार्थः—[**जीवस्य**] जीवको [**दर्शनज्ञानप्रधानात्**] दर्शनज्ञानप्रधान [**चारित्रात्**] चारित्रसे [**देवासुरमनुजराजविभवैः**] देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेंद्रके वैभवोंके साथ [**निर्वाणं**] निर्वाण [**संपद्यते**] प्राप्त होता है। (जीवको सराग चारित्रसे देवेन्द्र इत्यादिके वैभवोंकी और वीतराग चारित्रसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।)

टीका:—दर्शनज्ञानप्रधान चारित्रसे, यदि वह (चारित्र) वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है, और उससे ही, यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्रके वैभवक्लेशरूप बन्धकी प्राप्ति होती है। इसलिये मुमुक्षुओंको इष्ट फलवाला होनेसे वीतरागचारित्र ग्रहण करने योग्य (उपादेय) है, और अनिष्ट फलवाला होनेसे सरागचारित्र त्यागने योग्य (हेय) है ॥६॥

अथ चारित्रस्वरूपं विभावयति—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यस्तत्साम्यमिति निर्दिष्टम्।
मोहक्षोभविहीनः परिणाम आत्मनो हि साम्यम् ॥७॥

स्वरूपे चरणं चारित्रं। स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ॥७॥

अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

अब चारित्रका स्वरूप व्यक्त करते हैं:—

गाथा ७

अन्वयार्थः—[चारित्रं] चारित्र **[खलु]** वास्तवमें **[धर्मः]** धर्म है। **[यः धर्मः]** जो धर्म है **[तत् साम्यम्]** वह साम्य है **[इति निर्दिष्टम्]** ऐसा (शास्त्रोंमें) कहा है। **[साम्यं हि]** साम्य **[मोहक्षोभविहीनः]** मोहक्षोभरहित **[आत्मनः परिणामः]** आत्माका परिणाम (भाव) है।

टीका:—स्वरूपमें चरण करना (रमना) सो चारित्र है। स्वसमयमें प्रवृत्ति करना (अपने स्वभावमें प्रवृत्ति करना) ऐसा इसका अर्थ है। यही वस्तुका स्वभाव होनेसे धर्म है। शुद्ध चैतन्यका प्रकाश करना यह इसका अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मगुण होनेसे (विषमतारहित सुस्थित आत्माका गुण होनेसे) साम्य है। और साम्य, दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीयके उदयसे उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह और क्षोभके अभावके कारण अत्यन्त निर्विकार ऐसा जीवका परिणाम है।

भावार्थ:—शुद्ध आत्माके श्रद्धारूप सम्यक्त्वसे विरुद्ध भाव (मिथ्यात्व) वह मोह है और निर्विकार निश्चल चैतन्यपरिणतिरूप चारित्रसे विरुद्ध भाव (अस्थिरता) वह क्षोभ है। मोह और क्षोभ रहित परिणाम, साम्य, धर्म और चारित्र यह सब पर्यायवाची हैं ॥७॥

अब आत्माकी चारित्रता (अर्थात् आत्मा ही चारित्र है ऐसा) निश्चय करते हैं:—

गाथा ८

अन्वयार्थः—[द्रव्यं] द्रव्य जिस समय **[येन]** जिस भाव रूपसे **[परिणमति]**

परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तम् ।
तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्यः ॥ ८ ॥

यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन् काले किलौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवत्तन्मयं भवति । ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम् ॥ ८ ॥

अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

परिणमन करता है [**तत्कालं**] उस समय [**तन्मयं**] उस मय है [**इति**] ऐसा [**प्रज्ञप्तं**] (जिनेन्द्र देवने) कहा है; [**तस्मात्**] इसलिये [**धर्मपरिणतः आत्मा**] धर्मपरिणत आत्माको [**धर्मः मन्तव्यः**] धर्म समझना चाहिये ।

टीका:— वास्तवमें जो द्रव्य जिस समय जिस भावरूपसे परिणमन करता है, वह द्रव्य उस समय उष्णता रूपसे परिणमित लोहेके गोलेकी भांति उस मय है; इसलिये यह आत्मा धर्म रूप परिणमित होनेसे धर्म ही है । इस प्रकार आत्माकी चारित्रता सिद्ध हुई ।

भावार्थ:—सातवीं गाथामें कहा गया है कि चारित्र आत्माका ही भाव है । और यहाँ आठवीं गाथामें अभेदनयसे यह कहा है कि जैसे उष्णतारूप परिणमित लोहेका गोला स्वयं ही उष्णता है—लोहेका गोला और उष्णता पृथक नहीं है, इसी प्रकार चारित्रभावसे परिणमित आत्मा स्वयं ही चारित्र है ॥ ८ ॥

अब यहाँ जीवका शुभ, अशुभ और शुद्धत्व निश्चित करते हैं; अर्थात् यह बतलाते हैं कि जीव ही शुभ, अशुभ और शुद्ध है—

गाथा ९

अन्वयार्थः—[**जीवः**] जीव [**परिणामस्वभावः**] परिणामस्वभावी होनेसे [**यदा**] जब [**शुभेन वा अशुभेन**] शुभ या अशुभ भावरूप [**परिणमति**] परिणमन करता है [**शुभः अशुभः**] तब शुभ या अशुभ (स्वयं ही) होता है, [**शुद्धेन**] और जब शुद्धभावरूप परिणमित होता है [**तदा शुद्धः हि भवति**] तब शुद्ध होता है ।

जीवः परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभः ।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभावः ॥ ९ ॥

यदाऽयमात्मा शुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति तदा जपातापिच्छराग-परिणतस्फटिकवत् परिणामस्वभावः सन् शुभोऽशुभश्च भवति । यदा पुनः शुद्धेनाराग-भावेन परिणमति तदा शुद्धारागपरिणतस्फटिकवत्परिणामस्वभावः सन् शुद्धो भवतीति सिद्धं जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वम् ॥ ९ ॥

टीका:—जब यह आत्मा शुभ या अशुभ राग भावसे परिणमित होता है तब जवा कुसुम या तमाल पुष्पके लाल या काले रंगरूप परिणमित स्फटिककी भांति, परिणामस्वभाव होनेसे शुभ या अशुभ होता है (उस समय आत्मा स्वयं ही शुभ या अशुभ है); और जब वह शुद्ध अरागभावसे परिणमित होता है तब शुद्ध अरागपरिणत (रंग रहित) स्फटिककी भांति, परिणामस्वभाव होनेसे शुद्ध होता है । (उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध है) । इस प्रकार जीवका शुभत्व अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध हुआ ।

भावार्थ:—आत्मा सर्वथा कूटस्थ नहीं है किन्तु स्थिर रहकर परिणमन करना उसका स्वभाव है, इसलिये वह जैसे जैसे भावोंसे परिणमित होता है वैसा वैसा ही वह स्वयं हो जाता है । जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे निर्मल है तथापि जब वह लाल या काले फूलके संयोगनिमित्तसे परिणमित होता है तब लाल या काला स्वयं ही हो जाता है । इसीप्रकार आत्मा स्वभावसे शुद्ध-बुद्ध-एकस्वरूपी होने पर भी व्यवहारसे जब गृहस्थदशामें सम्यक्त्व पूर्वक दानपूजादि शुभ अनुष्ठानरूप शुभोपयोगमें और मुनिदशामें मूलगुण तथा उत्तर-गुण इत्यादि शुभ अनुष्ठानरूप शुभोपयोगमें परिणमित होता है तब स्वयं ही शुभ होता है, और जब मिथ्यात्वादि पांच प्रत्ययरूप अशुभोपयोगमें परिणमित होता है तब स्वयं ही अशुभ होता है और जैसे स्फटिकमणि अपने स्वाभाविक निर्मल रंगमें परिणमित होता है तब स्वयं ही शुद्ध होता है, उसी प्रकार आत्मा भी जब निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोगमें परिणमित होता है तब स्वयं ही शुद्ध होता है ।

सिद्धान्त ग्रन्थोंमें जीवके असंख्य परिणामोंको मध्यम वर्णनसे चौदह गुणस्थानरूप कहा गया है । उन गुणस्थानोंको संक्षेपसे 'उपयोग' रूप वर्णन करते हुए, प्रथम तीन गुणस्थानों-में तारतम्य पूर्वक (घटता हुआ) अशुभोपयोग, चौथेसे छट्ठे गुणस्थान तक तारतम्य पूर्वक (बढ़ता हुआ) शुभोपयोग, सातवेंसे बारहवें गुणस्थान तक तारतम्य पूर्वक शुद्धोपयोग और अन्तिम दो गुणस्थानोंमें शुद्धोपयोगका फल कहा गया है,—ऐसा वर्णन कथंचित् हो सकता है ॥ ९ ॥

अथ परिणामं वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥१० ॥

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह परिणामः ।
द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्तः ॥ १० ॥

न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालम्बते। वस्तुनो द्रव्यादिभिः परिणामात् पृथगुपलम्भाभावान्निःपरिणामस्य खरशृङ्गकल्पत्वाद् दृश्यमानगोरसादिपरिणामविरोधाच्च। अन्तरेण वस्तु परिणामोऽपि न सत्तामालम्बते। स्वाश्रयभूतस्य वस्तुनोऽभावे निराश्रयस्य परिणामस्य शून्यत्वप्रसङ्गात्। वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निर्वर्तितनिर्वृत्तिमच्च। अतः परिणामस्वभावमेव ॥ १० ॥

अब परिणाम वस्तुका स्वभाव है यह निश्चय करते हैं:—

गाथा १०

अन्वयार्थः—[**इह**] इस लोकमें [**परिणामं विना**] परिणामके विना [**अर्थः नास्ति**] पदार्थ नहीं है, [**अर्थं विना**] पदार्थके विना [**परिणामः**] परिणाम नहीं है; [**अर्थः**] पदार्थ [**द्रव्यगुणपर्ययस्थः**] द्रव्य-गुण-पर्यायमें रहनेवाला और [**अस्तित्वनिर्वृत्तः**] (उत्पादव्ययध्रौव्यमय) अस्तित्वसे बना हुआ है।

टीका:—परिणामके विना वस्तु अस्तित्व धारण नहीं करती, क्योंकि वस्तु द्रव्यादिके द्वारा (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे) परिणामसे भिन्न अनुभवमें (देखनेमें) नहीं आती, क्योंकि (१) परिणाम रहित वस्तु गधेके सींगके समान है, (२) तथा उसका, दिखाई देनेवाले गोरस इत्यादि (दूध, दही वगैरह) के परिणामोंके साथ विरोध[1] आता है। (जैसे—परिणामके विना वस्तु अस्तित्व धारण नहीं करती उसीप्रकार) वस्तुके विना परिणामभी अस्तित्वको धारण नहीं करता, क्यों कि स्वाश्रयभूत वस्तुके अभावमें (अपने आश्रय रूप जो वस्तु है वह न हो तो) निराश्रय परिणामको शून्यताका प्रसंग आता है।

१—यदि वस्तुको परिणाम रहित माना जावे तो गोरस इत्यादि वस्तुओंके दूध, दही आदि जो परिणाम प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं उनके साथ विरोध आयेगा।

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कसम्भववतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ ११ ॥

और वस्तु तो [1]ऊद्र्ध्वतासामान्यस्वरूप द्रव्यमें, सहभावी विशेपस्वरूप (साथ ही साथ रहने वाले विशेष-भेद जिनका स्वरूप है ऐसे) गुणोंमें तथा क्रमभावी विशेपस्वरूप पर्यायों में रही हुई और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्वसे बनी हुई है; इसलिये वस्तु परिणाम-स्वभाव वाली ही है ।

भावार्थ:—जहाँ जहाँ वस्तु दिखाई देती है वहाँ वहाँ परिणाम दिखाई देता है । जैसे—गोरस अपने दूध, दही, घी, छाछ इत्यादि परिणामोंसे युक्त ही दिखाई देता है । जहाँ परिणाम नहीं होता वहाँ वस्तु भी नहीं होती । जैसे कालापन, स्निग्धता इत्यादि परिणाम नहीं हैं तो गधेके सींगरूप वस्तुभी नहीं है । इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु परिणाम रहित कदापि नहीं होती । जैसे वस्तु परिणामके विना नहीं होती उसी प्रकार परिणाम भी वस्तुके विना नहीं होते, क्योंकि वस्तुरूप आश्रयके विना परिणाम किसके आश्रयसे रहेंगे ? गोरसरूप आश्रयके विना दूध, दही इत्यादि परिणाम किसके आधारसे होंगे ?

और फिर वस्तु तो द्रव्य-गुण-पर्यायमय है । उसमें त्रैकालिक ऊर्ध्व प्रवाह सामान्य द्रव्य है, और साथ ही साथ रहने वाले भेद गुण हैं, तथा क्रमशः होने वाले भेद पर्याय हैं । ऐसे द्रव्य, गुण और पर्यायकी एकतासे रहित कोई वस्तु नहीं होती । दूसरी रीतिसे कहा जाय तो, वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है अर्थात् वह उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर रहती है । इसप्रकार वह द्रव्य-गुण-पर्यायमय और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय होनेसे उसमें क्रिया (परिणमन) होती ही रहती है । इसलिये परिणाम वस्तु का स्वभाव ही है ॥ १० ॥

अब जिनका चारित्र परिणामके साथ सम्पर्क (सम्बन्ध) है ऐसे जो शुद्ध और शुभ (दो प्रकार के) परिणाम हैं उनके ग्रहण तथा त्यागके लिये (शुद्ध परिणामके ग्रहण और शुभ परिणामके त्यागके लिये) उनका फल विचारते हैं:—

गाथा ११

अन्वयार्थः—[धर्मेण परिणतात्मा] धर्मसे परिणमित स्वरूपवाला **[आत्मा]** आत्मा **[यदि]** यदि **[शुद्धसंप्रयोगयुतः]** शुद्ध उपयोगमें युक्त हो तो **[निर्वाण-**

१—कालकी अपेक्षासे स्थिर होनेको अर्थात् कालापेक्षित प्रवाहको ऊर्ध्वता अथवा ऊँचाई कहा जाता है । ऊर्ध्वतासामान्य अर्थात् अनादि-अनन्त उच्च (कालापेक्षित) प्रवाहसामान्य द्रव्य है ।

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः ।
प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥ ११ ॥

यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति। यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति । अतः शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगो हेयः ॥ ११ ॥

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति–

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥ १२ ॥

सुखं] मोक्ष सुखको [**प्राप्नोति**] प्राप्त करता है [**शुभोपयुक्तः वा**] और यदि शुभोपयोगवाला हो तो [**स्वर्गसुखं**] स्वर्गके सुखको (बन्धको) प्राप्त करता है ।

टीका:—जब यह आत्मा धर्मपरिणत स्वभाववाला होता हुआ शुद्धोपयोग परिणतिको धारण करता है–बनाये रखता है तब जो विरोधी शक्तिसे रहित होनेके कारण अपना कार्य करनेके लिये समर्थ है ऐसा चारित्रवान होनेसे साक्षात् मोक्षको प्राप्त करता है; और जब वह धर्मपरिणत स्वभाववाला होनेपर भी शुभोपयोग परिणतिके साथ युक्त होता है तब जो विरोधी शक्ति सहित होनेसे स्वकार्य करनेमें असमर्थ है और कथंचित् विरुद्ध कार्य करनेवाला है ऐसे चारित्रसे युक्त होनेसे, जैसे अग्निसे गर्म किया हुआ घी किसी मनुष्य पर डाल दिया जावे तो वह उसकी जलनसे दुखी होता है, उसीप्रकार वह स्वर्ग सुखके बन्धको प्राप्त होता है, इसलिये शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है ।

भावार्थ:—जैसे घी स्वभावतः शीतलता उत्पन्न करने वाला है तथापि गर्म घी से जल जाते हैं, इसी प्रकार चारित्र स्वभावसे मोक्ष दाता है, तथापि सराग चारित्रसे बन्ध होता है। जैसे ठंडा घी शीतलता उत्पन्न करता है इसीप्रकार वीतराग चारित्र साक्षात् मोक्षका कारण है ॥ ११ ॥

अब चारित्र परिणामके साथ सम्पर्क रहित होनेसे जो अत्यन्त हेय है ऐसे अशुभ परिणामका फल विचारते हैं:—

गाथा १२

अन्वयार्थः—[**अशुभोदयेन**] अशुभ उदयसे [**आत्मा**] आत्मा [**कुनरः**]

अशुभोदयेनात्मा कुनरस्तिर्यग्भूत्वा नैरयिकः ।
दुःखसहस्रैः सदा अभिद्रुतो भ्रमत्यत्यन्तम् ॥ १२ ॥

यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणतिमालम्बते तदा कुमनुष्यतिर्यङ्नारकभ्रमणरूपं दुःखसहस्रबन्धमनुभवति। ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति ॥१२॥ एवमयमपास्तसमस्तशुभाशुभोपयोगवृत्तिः शुद्धोपयोगवृत्तिमात्मसात्कुर्वाणः शुद्धोपयोगाधिकारमारभते ।

तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥ १३ ॥

कुमनुष्य [**तिर्यग्**] तिर्यंच [**नैरयिकः**] और नारकी [**भूत्वा**] होकर [**दुःख सहस्रैः**] हजारों दुःखोंसे [**सदा अभिद्रुतः**] सदा पीड़ित होता हुआ [**अत्यंतं भ्रमति**] (संसारमें) अत्यन्त भ्रमण करता है ।

टीका:—जब यह आत्मा किंचित मात्र भी धर्मपरिणतिको प्राप्त न करता हुआ अशुभोपयोग परिणतिका अवलम्बन करता है, तब वह कुमनुष्य, तिर्यंच और नारकीके रूपमें परिभ्रमण करता हुआ (तद्रूप) हजारों दुःखोंके बन्धनका अनुभव करता है; इसलिये चारित्र के लेशमात्रका भी अभाव होनेसे यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है ॥ १२ ॥

इस प्रकार यह (भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव) समस्त शुभाशुभोपयोगवृत्तिको (शुभ उपयोगरूप और अशुभ उपयोगरूप परिणतिको) अपास्त कर (हेय मानकर, तिरस्कार करके, दूर करके) शुद्धोपयोगवृत्तिको आत्मसात् (आत्मरूप, अपने रूप) करते हुए शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ करते हैं। उसमें (पहले) शुद्धोपयोगके फलकी आत्माके प्रोत्साहनके लिये प्रशंसा करते हैं।

गाथा १३

अन्वयार्थः—[**शुद्धोपयोगप्रसिद्धानां**] शुद्धोपयोगसे निष्पन्न* हुए आत्माओंका (केवली और सिद्धोंका) [**सुखं**] सुख [**अतिशयं**] अतिशय [**आत्मसमुत्थं**] आत्मोत्पन्न [**विषयातीतं**] विषयातीत (अतीन्द्रिय) [**अनौपम्यं**] अनुपम [**अनन्तं**] अनन्त (अविनाशी) [**अव्युच्छिन्नं च**] और अविच्छिन्न (अटूट) है ।

---

*निष्पन्न होना=उत्पन्न होना; फलरूप होना; सिद्ध होना। शुद्धोपयोगसे निष्पन्न हुए अर्थात् शुद्धोपयोग कारणसे कार्यरूप हुए ।

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तम् ।
अव्युच्छिन्नं च सुखं शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥ १३ ॥

आसंसाराऽपूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्षत्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तमव्युच्छिन्नं च शुद्धोपयोगनिःपन्नानां सुखमतस्तत्सर्वथा प्रार्थनीयम् ॥ १३ ॥

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥ १४ ॥

सुविदितपदार्थसूत्रः संयमतपःसंयुतो विगतरागः ।
श्रमणः समसुखदुःखो भणितः शुद्धोपयोग इति ॥ १४ ॥

टीका:—(१) अनादि संसारसे जो पहले कभी अनुभवमें नहीं आया ऐसे अपूर्व, परम अद्भुत आह्लादरूप होनेसे 'अतिशय', (२) आत्माका ही आश्रय लेकर (स्वाश्रित) प्रवर्तमान होनेसे 'आत्मोत्पन्न', (३) पराश्रयसे निरपेक्ष होनेसे (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दके तथा संकल्पविकल्पके आश्रयकी अपेक्षासे रहित होनेसे) 'विषयातीत', (४) अत्यन्त विलक्षण होनेसे (अन्य सुखोंसे सर्वथा भिन्न लक्षणवाला होनेसे) 'अनुपम', (५) समस्त आगामी कालमें कभी भी नाशको प्राप्त न होनेसे 'अनन्त' और (६) बिना ही अन्तरके प्रवर्तमान होनेसे 'अविच्छिन्न' सुख शुद्धोपयोगसे निष्पन्न हुए आत्माओंके होता है, इसलिये वह (सुख) सर्वथा प्रार्थनीय (वांछनीय) है ॥ १३ ॥

अब शुद्धोपयोगपरिणत आत्माका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १४

अन्वयार्थः—[**सुविदितपदार्थसूत्रः**] जिन्होंने (निज शुद्ध आत्मादि) पदार्थोंको और सूत्रोंको भली भांति जान लिया है, [**संयमतपःसंयुतः**] जो संयम और तपयुक्त हैं, [**विगतरागः**] जो वीतराग अर्थात् राग रहित हैं [**समसुखदुःखः**] और जिन्हें सुख–दुःख समान हैं, [**श्रमणः**] ऐसे श्रमणको (मुनिवरको) [**शुद्धोपयोगः इति भणितः**] 'शुद्धोपयोगी' कहा गया है।

टीका:—सूत्रोंके अर्थके ज्ञानबलसे स्वद्रव्य और परद्रव्यके विभागके परिज्ञानमें• श्रद्धान

• परिज्ञान=पूरा ज्ञान; ज्ञान ।

सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानविधानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्रः। सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पंचेन्द्रियाभिलापविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्धस्वरूपे संयमनात्, स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च संयमतपःसंयुतः। सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः। परमकलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयविपाकनिर्वर्तितसुखदुःखजनितपरिणामवैषम्यत्वात्समसुखदुःखः श्रमणः शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते ॥ १४ ॥

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरभाविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति—

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि पारं णेयभूदाणं ॥ १५ ॥

में और विधानमें (आचरणमें) समर्थ होनेसे (स्वद्रव्य और परद्रव्यकी भिन्नताका ज्ञान, श्रद्धान और आचरण होनेसे) जो श्रमण पदार्थोंको और (उनके प्रतिपादक) सूत्रोंको जिन्होंने भलीभांति जान लिया है ऐसे हैं, समस्त छह जीवनिकायके हननके विकल्पसे और पंचेन्द्रिय सम्बन्धी अभिलापाके विकल्पसे आत्माको व्यावृत्त[1] करके आत्माका शुद्ध स्वरूप में संयमन करनेसे, और स्वरूपविश्रान्त[2] निस्तरंग[3] चैतन्यप्रतपन[4] होनेसे जो संयम और तपयुक्त हैं, सकल मोहनीयके विपाकसे भेदकी भावनाकी उत्कृष्टतासे (समस्त मोहनीय कर्म के उदयसे भिन्नत्वकी उत्कृष्ट भावनासे) निर्विकार आत्मस्वरूपको प्रगट किया होनेसे जो वीतराग है, और परमकलाके अवलोकनके कारण साता वेदनीय तथा असाता वेदनीयके विपाकसे उत्पन्न होने वाले जो सुख-दुःख उन सुख-दुःख जनित परिणामोंकी विषमताका अनुभव नहीं होनेसे (परम सुखरसमें लीन निर्विकार स्वसंवेदनरूप परमकलाके अनुभवके कारण इष्टानिष्ट संयोगोंमें हर्ष शोकादि विषम परिणामोंका अनुभव न होनेसे) जो समसुखदुःख[5] हैं, ऐसे श्रमण शुद्धोपयोगी कहलाते हैं ॥ १४ ॥

अब, शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके बाद तत्काल (अन्तर पड़े बिना) ही होने वाली शुद्ध आत्म स्वभाव (केवलज्ञान) प्राप्तिकी प्रशंसा करते हैं:—

गाथा १५

अन्वयार्थः— [यः] जो [**उपयोगविशुद्धः**] उपयोग विशुद्ध (शुद्धोपयोगी)

---

१ व्यावृत्त करके=हटाकर; रोककर; अलग करके। २ स्वरूप विश्रान्त=स्वरूपमें स्थिर हुआ। ३ निस्तरंग=तरंग रहित; चंचलता रहित; विकल्प रहित; शान्त। ४ प्रतपन होना=प्रतापवान होना, प्रकाशित होना, देदीप्यमान होना। ५ समसुखदुःख=जिन्हें सुख और दुःख (इष्टानिष्ट संयोग) दोनों समान हैं।

उपयोगविशुद्धो यो विगतावरणान्तरायमोहरजाः ।
भूतः स्वयमेवात्मा याति पारं ज्ञेयभूतानाम् ॥ १५ ॥

यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु प्रतिपदमुद्भिद्यमानविशिष्टविशुद्धिशक्तिरुद्ग्रन्थितासंसारबद्धदृढतरमोहग्रंथितयात्यन्तनिर्विकारचैतन्यो निरस्तसमस्तज्ञानदर्शनावरणान्तरायतया निःप्रतिघविजृम्भितात्मशक्तिश्च स्वयमेव भूतो ज्ञेयत्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति । इह किलात्मा ज्ञानस्वभावो ज्ञानं तु ज्ञेयमात्रं ततः समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति ॥ १५ ॥

है [**आत्मा**] वह आत्मा [**विगतावरणान्तरायमोहरजाः**] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहरूप रजसे रहित [**स्वयमेव भूतः**] स्वयमेव होता हुआ [**ज्ञेयभूतानां**] ज्ञेयभूत पदार्थोंके [**पारं याति**] पारको प्राप्त होता है ।

टीका:—जो (आत्मा) चैतन्य-परिणामस्वरूप उपयोगके द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध हो कर वर्तता है, वह (आत्मा), जिसे पद पद पर (प्रत्येक पर्यायमें) विशिष्ट[1] विशुद्धि शक्ति प्रगट होती जाती है, ऐसा होनेसे, अनादि संसारसे बंधी हुई दृढ़तर मोहग्रन्थि छूट जानेसे अत्यन्त निर्विकार चैतन्य वाला और समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तरायके नष्ट हो जानेसे निर्विघ्न विकसित आत्मशक्तिवान स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयताको प्राप्त (पदार्थों) के अन्तको पा लेता है ।

यहाँ (यह कहा है कि) आत्मा ज्ञानस्वभाव है, और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है; इसलिये समस्त ज्ञेयोंके भीतर प्रवेशको प्राप्त (ज्ञाता) ज्ञान जिसका स्वभाव है ऐसे आत्माको आत्मा शुद्धोपयोगके ही प्रसादसे प्राप्त करता है ।

भावार्थ:—शुद्धोपयोगी जीव प्रतिक्षण अत्यन्त शुद्धिको प्राप्त करता रहता है. और इस प्रकार मोहका क्षय करके निर्विकार चेतनावान होकर बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका युगपद् क्षय करके समस्त ज्ञेयोंको जानने वाले केवलज्ञानको प्राप्त करता है । इस प्रकार शुद्धोपयोगसे ही शुद्धात्मस्वभावका लाभ होता है ॥ १५ ॥

अब, शुद्धोपयोगसे होने वाली शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्ति अन्य कारकोंसे निरपेक्ष (स्वतंत्र) होनेसे अत्यन्त आत्माधीन है (लेश मात्र पराधीन नहीं है) यह प्रगट करते हैं:—

---

१ विशिष्ट=विशेष; असाधारण; खास ।

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य कारकान्तरनिरपेक्षतयाऽत्यन्तमात्मायत्तत्वं द्योतयति—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥ १६ ॥

तथा स लब्धस्वभावः सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितः ।
भूतः स्वयमेवात्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्टः ॥ १६ ॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वाधिकारः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्वं कलयन्, शुद्धा-

---

गाथा १६

अन्वयार्थः—[तथा] इस प्रकार **[सः आत्मा]** वह आत्मा **[लब्धस्वभावः]** स्वभाव को प्राप्त **[सर्वज्ञः]** सर्वज्ञ **[सर्वलोकपतिमहितः]** और सर्व (तीन) लोकके अधिपतियों[1]से पूजित **[स्वयमेव भूतः]** स्वयमेव हुआ होनेसे **[स्वयंभूः भवति]** 'स्वयंभू' है **[इति निर्दिष्टः]** ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

टीका:—शुद्ध उपयोगकी भावनाके प्रभावसे समस्त घातिकर्मोंके नष्ट होने से जिसने शुद्ध अनन्तशक्तिवान चैतन्य स्वभावको प्राप्त किया है, ऐसा यह (पूर्वोक्त) आत्मा–, (१) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञायक स्वभावके कारण स्वतंत्र होनेसे जिसने कर्तृत्व के अधिकारको ग्रहण किया है ऐसा, (२) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही प्राप्य होनेसे (स्वयं ही प्राप्त होता होनेसे) कर्मत्व का अनुभव करता हुआ, (३) शुद्ध अनन्तशक्ति युक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावसे स्वयं ही साधकतम (उत्कृष्ट साधन) होनेसे करणता को धारण करता हुआ, (४) शुद्ध अनंतशक्ति युक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होनेसे (अर्थात् कर्म स्वयंको ही देनेमें आता होनेसे) सम्प्रदानता को धारण करता हुआ, (५) शुद्ध अनन्तशक्तिमय ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके समय पूर्वमें प्रवर्तमान विकलज्ञानस्वभाव[2] का नाश होने पर भी सहज ज्ञानस्वभावसे स्वयं ही ध्रुवताका अवलम्बन करनेसे अपादानता को धारण करता हुआ, और (६) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूप से परिणमित होनेके स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे अधि-

---

१ सर्वलोकके अधिपति=तीनोंलोकके स्वामी- सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ति ।
२ विकलज्ञान=अपूर्ण (मति श्रुतादि) ज्ञान ।

नन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राणः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् संप्रदानत्वं दधानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्बनादपादानत्वमुपाददानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधार-

---

करणता को आत्मसात् करता हुआ-(इसप्रकार) स्वयमेव छह कारकरूप होनेसे अथवा उत्पत्ति अपेक्षा से [1]द्रव्य-भावभेदसे भिन्न घातिकर्मोंको दूर करके स्वयमेव आविर्भूत होनेसे 'स्वयंभू' कहलाता है।

यहाँ यह कहा गया है कि—निश्चयसे परके साथ आत्माका कारकताका सम्बन्ध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूंढनेकी व्यग्रतासे जीव (व्यर्थ ही) परतंत्र होते हैं।

भावार्थः—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण नामक छह कारक हैं। जो स्वतंत्रतया-स्वाधीनतासे करता है वह कर्त्ता है; कर्त्ता जिसे प्राप्त करता है वह कर्म है; साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधनको करण कहते हैं; कर्म जिसे दिया जाता है, अथवा जिसके लिये किया जाता है वह सम्प्रदान है; जिसमेंसे कर्म किया जाता है, वह ध्रुववस्तु अपादान है, और जिसमें अर्थात् जिसके आधारसे कर्म किया जाता है वह अधिकरण है। यह छह कारक व्यवहार और निश्चयके भेदसे दो प्रकारके हैं। जहाँ परके निमित्तसे कार्यकी सिद्धि कहलाती है वहाँ व्यवहार कारक हैं, और जहां अपने ही उपादान कारणसे कार्यकी सिद्धि कही जाती है वहाँ निश्चय कारक हैं।

व्यवहार कारकोंको इस प्रकार घटित किया जाता है—कुम्हार कर्त्ता है; घड़ा कर्म है; दंड, चक्र, चीवर इत्यादि करण हैं; कुम्हार जल भरने वालेके लिये घड़ा बनाता है, इसलिये जल भरने वाला सम्प्रदान है; टोकरीमेंसे मिट्टी लेकर घड़ा बनाता है, इसलिये टोकरी अपादान है, और पृथ्वीके आधार पर घड़ा बनाता है, इसलिये पृथ्वी अधिकरण है। यहाँ सभी कारक भिन्न भिन्न हैं। अन्य कर्त्ता है; अन्य कर्म है; अन्य करण है; अन्य सम्प्रदान; अन्य अपादान; अन्य अधिकरण है। परमार्थतः कोई द्रव्य किसीका कर्त्ता—हर्ता नहीं हो सकता, इसलिये यह छहों व्यवहार कारक असत्य हैं। वे मात्र उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे कहे जाते हैं। निश्चयसे किसी द्रव्यका अन्य द्रव्यके साथ कारणताका सम्बन्ध है ही नहीं।

निश्चय कारकोंको इस प्रकार घटित करते हैं — मिट्टी स्वतंत्रतया घटरूप कार्यको प्राप्त

---

१ द्रव्य-भावभेदसे भिन्न घातिकर्म=द्रव्य और भावके भेदसे घातिकर्म दो प्रकारके हैं, द्रव्यघातिकर्म और भावघातिकर्म।

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजाः ।
जातोऽतीन्द्रियः स ज्ञानं सौख्यं च परिणमति ॥ १९ ॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, क्षायोपशमिकज्ञानदर्शनासंपृक्तत्वादतीन्द्रियो भूतः सन्निखिलान्तरायक्षयादनन्तवरवीर्यः, कृत्स्नज्ञानदर्शनावरणप्रलयादधिककेवलज्ञानदर्शनाभिधानतेजाः, समस्तमोहनीयाभावादत्यन्तनिर्विकारशुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमासादयन् स्वयमेव स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं च भूत्वा परिणमते । एवमात्मनो ज्ञानानन्दौ स्वभाव एव । स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ संभवतः ॥ १९ ॥

अथातीन्द्रियत्वादेव शुद्धात्मनः शारीरं सुखदुःखं नास्तीति विभावयति—

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ २० ॥

उत्तम वीर्य है, और [**अधिकतेजाः**] अधिक[1] जिसका (केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप) तेज है [**सः**] वह (स्वयंभू आत्मा) [**ज्ञानं सौख्यं च**] ज्ञान और सुखरूप [**परिणमति**] परिणमन करता है ।

टीका:—शुद्धोपयोगके सामर्थ्यसे जिसके घातिकर्म क्षयको प्राप्त हुए हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनके साथ असंपृक्त (संपर्क रहित) होनेसे जो अतीन्द्रिय होगया है, समस्त अन्तरायका क्षय होनेसे अनन्त जिसका उत्तम वीर्य है, समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरणका प्रलय होजानेसे अधिक जिसका केवलज्ञान और केवलदर्शन नामक तेज है, ऐसा यह (स्वयंभू) आत्मा समस्त मोहनीयके अभावके कारण अत्यंत निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वभाव वाले आत्माका (अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्य जिसका स्वभाव है ऐसा-आत्माको) अनुभव करता हुआ स्वयमेव स्वपर प्रकाशकता लक्षणज्ञान और अनाकुलता लक्षण सुख होकर परिणमित होता है । इसप्रकार आत्माका ज्ञान और आनन्द स्वभाव ही है । और स्वभाव पर से अनपेक्ष[2] है इसलिये इन्द्रियोंके बिना भी आत्माके ज्ञान आनन्द होता है ।

भावार्थ:—आत्माको ज्ञान और सुखरूप परिणमित होनेमें इन्द्रियादिक पर निमित्तोंकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप स्वपर प्रकाशकता है ऐसा ज्ञान और जिसका लक्षण अनाकुलता है ऐसा सुख आत्माका स्वभाव ही है ॥ १९ ॥

अब अतीन्द्रियताके कारण ही शुद्ध आत्माके (केवली भगवानके) शारीरिक सुख दुःख नहीं है यह व्यक्त करते हैं :—

---

१ अधिक=उत्कृष्ट; असाधारण; अत्यन्त । २ अनपेक्ष=स्वतंत्र; उदासीन; अपेक्षा रहित ।

सौख्यं वा पुनर्दुःखं केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम्।
यस्मादतीन्द्रियत्वं जातं तस्मात्तु तज्ज्ञेयम् ॥ २० ॥

यत एव शुद्धात्मनो जातवेदस इव कालायसगोलोत्कूलितपुद्गलाशेषविलासकल्पो नास्तीन्द्रियग्रामस्तत एव घोरघनघाताभिघातपरम्परास्थानीयं शरीरगतं सुखदुःखं न स्यात् ॥ २० ॥

अथ ज्ञानस्वरूपप्रपञ्चं सौख्यस्वरूपप्रपञ्चं च क्रमप्रवृत्तप्रबन्धद्वयेनाभिदधाति। तत्र केवलिनोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति विभावयति—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥ २१ ॥

गाथा २०

अन्वयार्थः—[**केवलज्ञानिनः**] केवलज्ञानीके [**देहगतं**] शरीरसम्बन्धी [**सौख्यं**] सुख [**वा पुनः दुःखं**] या दुःख [**नास्ति**] नहीं है, [**यस्मात्**] क्योंकि [**अतीन्द्रियत्वं-जातं**] अतीन्द्रियता उत्पन्न हुई है [**तस्मात् तु तत् ज्ञेयम्**] इसलिये ऐसा जानना चाहिये।

टीका:—जैसे अग्निको लोहेके गोलेके तप्त पुद्गलोंका समस्त विलास नहीं है (अर्थात् अग्नि लोहेके गोलेके पुद्गलोंके विलाससे—उनकी क्रियासे भिन्न है) उसीप्रकार शुद्ध आत्माके (अर्थात् केवलज्ञानी भगवानके) इन्द्रिय-समूह नहीं हैं; इसीलिये जैसे अग्निको घनके घोर आघातोंकी परम्परा नहीं है (लोहेके गोलेके संसर्गका अभाव होने पर घनके लगातार आघातोंकी भयंकर मार अग्निपर नहीं पड़ती) इसी प्रकार शुद्ध आत्माके शरीर सम्बन्धी सुख दुःख नहीं हैं।

भावार्थ:—केवली भगवानके शरीर सम्बन्धी क्षुधादिजन्य दुःख या भोजनादिकी प्राप्तिका सुख नहीं होता इसलिये उनके कवलाहार नहीं होता ॥ २० ॥

अब, ज्ञानके स्वरूपका विस्तार और सुखके स्वरूपका विस्तार क्रमशः प्रवर्तमान दो अधिकारोंके द्वारा कहते हैं। इनमेंसे (पहले) अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमित होनेसे केवली भगवानके सब प्रत्यक्ष है यह प्रगट करते हैं:—

गाथा २१

अन्वयार्थः—[**खलु**] वास्तवमें [**ज्ञानं परिणममानस्य**] ज्ञानरूपसे (केवलज्ञानरूपसे) परिणमित होते हुए केवली भगवानके [**सर्वद्रव्यपर्यायाः**] सर्व द्रव्य-पर्यायें [**प्रत्यक्षाः**] प्रत्यक्ष हैं [**सः**] वे [**तान्**] उन्हें [**अवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः**] अवग्रहादि क्रियाओंसे [**नैव विजानाति**] नहीं जानते।

टीका:—केवली भगवान इन्द्रियोंके आलम्बनसे अवग्रह-ईहा-अवाय पूर्वक क्रमसे नहीं जानते, (किन्तु) स्वयमेव समस्त आवरणके क्षयके क्षण ही, अनादि अनन्त, अहेतुक और असाधारण ज्ञान-

परिणममानस्य खलु ज्ञानं प्रत्यक्षाः सर्वद्रव्यपर्यायाः ।
स नैव तान् विजानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः ॥२१॥

यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकप्रक्रमेण केवली विजानाति, स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति ॥ २१ ॥

अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥ २२ ॥

स्वभावको ही कारण रूपसे ग्रहण करनेसे तत्काल ही प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं; इसलिये उनके समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको अक्रमिक ग्रहण होनेसे समक्ष संवेदनकी (प्रत्यक्ष ज्ञानकी) आलम्बनभूत समस्त द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं ।

भावार्थ:—जिसका न आदि है और न अंत है, तथा जिसका कोई कारण नहीं और जो अन्य किसी द्रव्यमें नहीं है, ऐसे ज्ञान स्वभावको ही उपादेय करके, केवलज्ञानकी उत्पत्तिके बीजभूत शुक्लध्यान नामक स्वसंवेदन ज्ञानरूपसे जब आत्मा परिणमित होता है तब उसके निमित्तसे सर्व घातिकर्मोंका क्षय हो जाता है, और उस क्षय होनेके समय ही आत्मा स्वयमेव केवलज्ञानरूप परिणमित होने लगता है। वे केवलज्ञानी भगवान क्षायोपशमिक ज्ञान वाले जीवोंकी भाँति अवग्रह-ईहा-अवाय और धारणारूप क्रमसे नहीं जानते, किन्तु सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको युगपत् जानते हैं। इस प्रकार उनके सब कुछ प्रत्यक्ष होता है ॥ २१ ॥

अब, अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमित होनेसे ही भगवानके कुछ भी परोक्ष नहीं है, ऐसा अभिप्राय प्रगट करते हैं:—

गाथा २२

अन्वयार्थ:—[सदा अक्षातीतस्य] जो सदा इन्द्रियातीत हैं, **[समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य]** जो सर्व ओरसे (सर्व आत्मप्रदेशोंसे) सर्व इन्द्रिय गुणोंसे समृद्ध हैं, **[स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य]** और जो स्वयमेव ज्ञानरूप हुए हैं उन (केवली भगवान) को **[किंचित् अपि]** कुछ भी **[परोक्षं नास्ति]** परोक्ष नहीं है ।

टीका:—समस्त आवरणके क्षयके क्षण ही जो (भगवान) सांसारिक ज्ञानको उत्पन्न करनेके बल को कार्य रूप देनेमें हेतुभूत अपने अपने निश्चित विषयोंको ग्रहण करने वाली इन्द्रियोंसे अतीत हुए हैं, जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दके ज्ञानरूप सर्व-इन्द्रिय गुणोंके द्वारा सर्व ओरसे समरस रूपसे समृद्ध हैं

नास्ति परोक्षं किंचिदपि समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य ।
अक्षातीतस्य सदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ॥२२॥

अस्य खलु भगवतः समस्तावरणक्षयक्षण एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधानहेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षाणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः समरसतया समन्ततः सर्वैरेवेन्द्रियगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्वपरप्रकाशनक्षममनश्वरं लोकोत्तरज्ञानजातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात् ॥ २२ ॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वं ज्ञानस्य सर्वगतत्वं चोद्योतयति—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥ २३ ॥

(अर्थात् जो भगवान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्दको सर्व आत्मप्रदेशोंसे समानरूपसे जानते हैं) और जो स्वयमेव समस्तरूपसे स्वपरके प्रकाश करनेमें समर्थ अविनाशी लोकोत्तर ज्ञानरूप हुए हैं, ऐसे इन (केवली) भगवानको समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका अक्रमिक ग्रहण होनेसे कुछ भी परोक्ष नहीं है।

भावार्थः—इंद्रियोंका गुण, स्पर्शादिक एक एक गुणको ही जानना है, जैसे चक्षु इन्द्रियका गुण रूपको ही जानना है, अर्थात् रूपको ही जाननेमें निमित्त होना है। और इन्द्रिय ज्ञान क्रमिक है। केवली भगवान इन्द्रियोंके निमित्तके बिना समस्त आत्म प्रदेशोंसे स्पर्शादि सर्व विषयोंको जानते हैं, और जो समस्तरूपसे स्व-पर प्रकाशक है ऐसे लोकोत्तर ज्ञानरूप (लौकिक ज्ञानसे भिन्न केवलज्ञानरूप) स्वयमेव परिणमित हुआ करते हैं; इसलिये समस्त द्रव्य क्षेत्र काल और भावको अवग्रहादि क्रम रहित जानते हैं इसलिये केवली भगवानके कुछ भी परोक्ष नहीं है ॥ २२ ॥

अब, आत्माका ज्ञानप्रमाणपना और ज्ञानका सर्वगतपना उद्योत करते हैं:—

गाथा २३

अन्वयार्थः—[**आत्मा**] आत्मा [**ज्ञानप्रमाणं**] ज्ञान प्रमाण है [**ज्ञानं**] ज्ञान [**ज्ञेयप्रमाणं**] ज्ञेय प्रमाण [**उद्दिष्टं**] कहा गया है [**ज्ञेयं लोकालोकं**] ज्ञेय लोकालोक है [**तस्मात्**] इसलिये [**ज्ञानं तु**] ज्ञान [**सर्वगतं**] सर्वगत—सर्व व्यापक है।

टीका:—'समगुणपर्यायंद्रव्यं' (गुण-पर्यायें अर्थात् युगपद् सर्वगुण और पर्यायें ही द्रव्य है) इस वचनके अनुसार आत्मा ज्ञानसे हीनाधिकता रहित रूपसे परिणमित होता है इसलिये ज्ञानप्रमाण है, और ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ[1] होनेसे, दाह्यनिष्ठ-दहन[2] की भाँति ज्ञेय प्रमाण है। ज्ञेय तो लोक और अलोकके

१—ज्ञेयनिष्ठ=ज्ञेयोंका अवलम्बन करनेवाला; ज्ञेयोंमें तत्पर। २—दहन=जलाना; अग्नि।

आत्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम् ।
ज्ञेयं लोकालोकं तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम् ॥ २३ ॥

आत्मा हि 'समगुणपर्यायं द्रव्यम्' इति वचनात् ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वरहितत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाणः, ज्ञानं तु ज्ञेयनिष्ठत्वाद्दाह्यनिष्ठदहनवत्तत्परिमाणं; ज्ञेयं तु लोकालोकविभागविभक्तानन्तपर्यायमालिकालीढस्वरूपसूचिता विच्छेदोपदर्शितध्रौव्या षड्द्रव्यी सर्वमिति यावत् । ततो निःशेषावरणक्षयक्षण एव लोकालोकविभागविभक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैवाप्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात् ज्ञानं सर्वगतम् ॥ २३ ॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वानभ्युपगमे द्वौ पक्षावुपन्यस्य दूषयति—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥ २४ ॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥ २५ ॥ जुगलं ।

विभागसे विभक्त[1], अनन्त[2] पर्यायमालासे आलिंगित स्वरूपसे सूचित (प्रगट, ज्ञात), नाशवान दिखाई देता हुआ भी ध्रुव ऐसा षट्द्रव्य समूह, अर्थात् सब कुछ है। (ज्ञेय छहों द्रव्यों का समूह अर्थात् सब कुछ है) इसलिये निःशेष आवरणके क्षयके समय ही लोक और अलोक के विभागसे विभक्त समस्त वस्तुओंके आकारोंके पारको प्राप्त करके इसी प्रकार अच्युतरूपसे रहता है, इसलिये ज्ञान सर्वगत है।

भावार्थः—गुण-पर्यायोंसे द्रव्य अनन्य है, इसलिये आत्मा ज्ञानसे हीनाधिक न होने से ज्ञान जितना ही है; और जैसे दाह्य (जलने योग्य पदार्थ)का अवलम्बन करने वाला दहन दाह्यके बराबर ही है, उसी प्रकार ज्ञेयका अवलम्बन करने वाला ज्ञान ज्ञेयके बराबर ही है। ज्ञेय तो समस्त लोकालोक अर्थात् सब ही है। इसलिये सर्व आवरणका क्षय होते ही (ज्ञान) सबको जानता है और फिर कभी भी सब के जानने से च्युत नहीं होता इसलिये ज्ञान सर्वव्यापक है ॥ २३ ॥

अब, आत्माको ज्ञान प्रमाण न माननेमें दो पक्ष उपस्थित करके दोष बतलाते हैं:—

गाथा २४–२५

अन्वयार्थः— [**इह**] इस जगतमें [**यस्य**] जिसके मतमें [**आत्मा**] आत्मा [**ज्ञानप्रमाणं**] ज्ञान प्रमाण [**न भवति**] नहीं है [**तस्य**] उसके मतमें [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**ध्रुवम् एव**] अवश्य [**ज्ञानात् हीनः वा**] ज्ञान से हीन [**अधिकः वा भवति**] अथवा अधिक होना चाहिये।

१—विभक्त=विभागवाला। (षट्द्रव्योंके समूहमें लोक-अलोकरूप दो विभाग हैं)। २—अनन्तपर्यायें द्रव्यको आलिंगित करती हैं (द्रव्यमें होती हैं) ऐसे स्वरूपवाला प्रत्येक द्रव्य ज्ञात होता है।

ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्येह तस्य स आत्मा।
हीनो वा अधिको वा ज्ञानाद्भवति ध्रुवमेव ॥ २४ ॥
हीनो यदि स आत्मा तत् ज्ञानमचेतनं न जानाति।
अधिको वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथं जानाति ॥ २५ ॥ युगलम्।

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते, तदात्मनोऽतिरिच्यमानंज्ञानं स्वाश्रयभूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पतामापन्नं न जानाति। यदि पुनर्ज्ञानादधिक इति पक्षः कक्षीक्रियते तदावश्यं ज्ञानादतिरिक्तत्वात् पृथग्भूतो भवन् घटपटादिस्थानीयतामापन्नो ज्ञानमन्तरेण न जानाति। ततो ज्ञानप्रमाण एवायमात्माभ्युपगन्तव्यः ॥ २४। २५ ॥

अथात्मनोऽपि ज्ञानवत् सर्वगतत्वं न्यायायातमभिनन्दति—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ॥ २६ ॥

[यदि] यदि **[सः आत्मा]** वह आत्मा **[हीनः]** ज्ञानसे हीन हो **[तत्]** तो वह **[ज्ञानं]** ज्ञान **[अचेतनं]** अचेतन होनेसे **[न जानाति]** नहीं जानेगा, **[ज्ञानात् अधिकः वा]** और यदि (आत्मा) ज्ञानसे अधिक हो तो (वह आत्मा) **[ज्ञानेन विना]** ज्ञानके विना **[कथं जानाति]** कैसे जानेगा ?

टीका:—यदि यह स्वीकार किया जाये कि यह आत्मा ज्ञानसे हीन है, तो आत्मासे आगे बढ़ जानेवाला ज्ञान (आत्माके क्षेत्रसे आगे बढ़कर उससे बाहर व्याप्त होनेवाला ज्ञान) अपने आश्रयभूत चेतन द्रव्यका समवाय (सम्बन्ध) न रहनेसे अचेतन होता हुआ रूपादि गुण जैसा होनेसे नहीं जानेगा; और यदि ऐसा पक्ष स्वीकार किया जाये कि यह आत्मा ज्ञानसे अधिक है तो अवश्यही (आत्मा) ज्ञानसे आगे बढ़ जानेसे (ज्ञानके क्षेत्रसे बाहर व्याप्त होनेसे) ज्ञानसे पृथक् होता हुआ घटपटादि जैसा होनेसे ज्ञानके बिना नहीं जानेगा। इसलिये यह आत्मा ज्ञान प्रमाण ही मानना योग्य है।

भावार्थ:— आत्माका क्षेत्र ज्ञानके क्षेत्रसे कम माना जाये तो आत्माके क्षेत्रसे बाहर वर्तनेवाला ज्ञान चेतन द्रव्यके साथ सम्बन्ध न होनेसे अचेतन गुण जैसा ही होगा, इसलिये वह जाननेका काम नहीं कर सकेगा; जैसे कि वर्ण, गंध, रस इत्यादि अचेतनगुण जानने का काम नहीं कर सकते। यदि आत्मा का क्षेत्र ज्ञानके क्षेत्रसे अधिक माना जाये तो ज्ञान के क्षेत्रसे बाहर वर्तनेवाला ज्ञानशून्यआत्मा ज्ञानके विना जाननेका काम नहीं कर सकेगा; जैसे कि ज्ञानशून्य घट, पट इत्यादि पदार्थ जाननेका काम नहीं कर सकते। इसलिये आत्मा न तो ज्ञान से हीन है और न अधिक है, किन्तु ज्ञान जितना ही है। २४-२५।

अब, ज्ञानकी भाँति आत्माका भी सर्वगतत्व न्यायसिद्ध है, यह बतलाते हैं:—

गाथा २६

अन्वयार्थः—[जिनवृषभः] जिनवर **[सर्वगतः]** सर्वगत है **[च]** और **[जगति]**

सर्वगतो जिनवृषभः सर्वेऽपि च तद्गता जगत्यर्थाः ।
ज्ञानमयत्वाच्च जिनो विषयत्वात्तस्य ते भणिताः ॥ २६ ॥

ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तं तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद्भगवानपि सर्वगत एव । एवं सर्वगतज्ञानविषयत्वात्सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति । तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते । तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात् । अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः ॥ २६ ॥

जगतके **[सर्वे अपि अर्थाः]** सर्व पदार्थ **[तद्गताः]** जिनवरगत हैं; **[जिनः ज्ञानमयत्वात्]** क्योंकि जिन ज्ञानमय हैं **[च]** और **[ते]** वे सब पदार्थ **[विषयत्वात्]** ज्ञान के विषय हैं इसलिये **[तस्य]** जिनके विषय **[भणिताः]** कहे गये हैं ।

टीकाः—ज्ञान त्रिकालके सर्वद्रव्य—पर्यायरूप प्रवर्तमान समस्त ज्ञेयाकारोंको पहुँच जानेसे (जानता होने से) सर्वगत कहा गया है; और ऐसे (सर्वगत) ज्ञानमय होकर रहनेसे भगवान भी सर्वगत ही हैं । इस प्रकार सर्व पदार्थ भी सर्वगत ज्ञानके विषय होनेसे सर्वगतज्ञानसे अभिन्न उन भगवानके वे विषय हैं, ऐसा (शास्त्रमें) कहा है; इसलिये सर्व पदार्थ भगवानगत ही, (अर्थात् भगवानमें प्राप्त) हैं ।

वहां (ऐसा समझना कि) निश्चयनयसे अनाकुलता लक्षण सुखका जो संवेदन उस सुखसंवेदनके अधिष्टानता[1] जितना ही आत्मा है, और उस आत्माके बराबर ही ज्ञान स्वतत्त्व है; उस निज-स्वरूप आत्म प्रमाण ज्ञानको छोड़े विना समस्त ज्ञेयाकारों[2] के निकट गये विना, भगवान (सर्व पदार्थोंको) जानते हैं । निश्चयनयसे ऐसा होनेपर भी व्यवहारनयसे यह कहा जाता है कि भगवान सर्वगत हैं । और नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारों[3] को आत्मस्थ (आत्मामें रहे हुए) देखकर उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि सर्व पदार्थ आत्मगत हैं; परन्तु परमार्थतः उनका एक दूसरे में गमन नहीं होता; क्योंकि सर्व द्रव्य स्वरूप-निष्ट (अर्थात् अपने अपने स्वरूपमें निश्चल अवस्थित) हैं ।

१—अधिष्टान=आधार, रहनेका स्थान । (आत्मा सुखसंवेदनका आधार है । जितनेमें सुखका वेदन होता है, उतना ही आत्मा है ।) २—ज्ञेयाकार=पर पदार्थोंके द्रव्य-गुण-पर्याय, जो कि ज्ञेय हैं । (यह ज्ञेयाकार परमार्थतः आत्मासे सर्वथा भिन्न है ।) ३—नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकार=ज्ञानमें होनेवाले (ज्ञानकी अवस्थारूप) ज्ञेयाकार । (इन ज्ञेयाकारोंको ज्ञानाकार भी कहा जाता है, क्योंकि ज्ञान इन ज्ञेयाकाररूप परिणमित होते हैं । यह ज्ञेयाकार नैमित्तिक हैं और पर पदार्थोंके द्रव्य गुण पर्याय उनके निमित्त हैं । इन ज्ञेयाकारोंको आत्मामें देखकर 'समस्त परपदार्थ आत्मामें हैं' इसप्रकार उपचार किया जाता है । यह बात ३१ वीं गाथामें दर्पणका दृष्टान्त देकर समझाई गई है ।)

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति—

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥ २७ ॥

ज्ञानमात्मेति मतं वर्तते ज्ञानं विना नात्मानम्।
तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यद्वा ॥ २७ ॥

यतः शेषसमस्तचेतनाचेतनवस्तुसमवायसंबन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवायसंबन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात्। आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्यदपि स्यात्। किं चानेकान्तोऽत्र बलवान्। एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात्। सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात् ॥ २७ ॥

यही क्रम ज्ञानमें भी निश्चित करना चाहिये (अर्थात् आत्मा और ज्ञेयोंके सम्बन्धमें निश्चय-व्यवहारसे कहा गया है, उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेयोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये) ॥ २६ ॥

अब, आत्मा और ज्ञानके एकत्व-अन्यत्वका विचार करते हैं:—

गाथा २७

अन्वयार्थः—[**ज्ञानं आत्मा**] ज्ञान आत्मा है [**इति मतं**] ऐसा जिनदेवका मत है। [**आत्मानं विना**] आत्माके विना (अन्य किसी द्रव्यमें) [**ज्ञानं न वर्तते**] ज्ञान नहीं होता, [**तस्मात्**] इसलिये [**ज्ञानं आत्मा**] ज्ञान आत्मा है; [**आत्मा**] और आत्मा [**ज्ञानं वा**] (ज्ञान गुण द्वारा) ज्ञान है [**अन्यत् वा**] अथवा (सुखादि अन्य गुण द्वारा) अन्य है।

टीका:—क्योंकि शेष समस्त चेतन तथा अचेतन वस्तुओंके साथ समवायसम्बन्ध[1] नहीं है, इसलिये जिसके साथ अनादि अनन्त स्वभावसिद्ध समवायसम्बन्ध है, ऐसे एक आत्माका अति निकटतया (अभिन्न प्रदेशरूपसे) अवलम्बन करके प्रवर्तमान होनेसे ज्ञान आत्माके विना अपना अस्तित्व नहीं रख सकता; इसलिये ज्ञान आत्मा ही है। और आत्मा अनन्त धर्मोंका अधिष्ठान (आधार) है, इसलिये ज्ञानधर्मके द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्मके द्वारा अन्य भी है।

और फिर, इसके अतिरिक्त (विशेष समझना कि) यहां अनेकान्त बलवान है। यदि यह माना जाये कि एकान्त से ज्ञान आत्मा है तो, (ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जाने से) ज्ञान का अभाव हो जायेगा.

१—समवाय सम्बन्ध=जहाँ गुण होते हैं, वहाँ गुणी होता है, और जहाँ गुणी होता है, वहाँ गुण होते हैं। जहां गुण नहीं होते वहां गुणी नहीं होता और जहां गुणी नहीं होता वहां गुण नहीं होते.—इसप्रकार गुण-गुणीका अभिन्न प्रदेशरूप सम्बन्ध; तादात्म्य सम्बन्ध है।

अथ ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमनं प्रतिहन्ति—

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवाण्णोण्णेसु वट्टंति ॥ २८ ॥
ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः ।
रूपाणीव चक्षुपोः नैवान्योन्येपु वर्तन्ते ॥ २८ ॥

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति किंतु तेपां ज्ञानज्ञेय-स्वभावसंबन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति चक्षुरूपवत् । यथा हि चक्षूंपि तद्विपयभूतरूपिद्रव्याणि च परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चान्योन्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः ॥ २८ ॥

और (ऐसा होनेसे) आत्मा के अचेतनता आजायेगी, अथवा विशेपगुणका अभाव होने से आत्माका अभाव हो जायेगा । यदि यह माना जाये कि सर्वथा आत्मा ज्ञान है तो, (आत्म द्रव्य एक ज्ञानगुण-रूप हो जायेगा इसलिये, ज्ञानका कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहेगा अतः) निराश्रयताके कारण ज्ञानका अभाव हो जायेगा, अथवा (आत्मद्रव्यके एक ज्ञानगुणरूप हो जाने से) आत्माकी शेप पर्यायोंका (सुख, वीर्यादि गुणोंका) अभाव हो जायेगा, और उनके साथ ही अविनाभावी सम्बन्ध वाले आत्मा-का भी अभाव हो जायेगा । (क्योंकि सुख, वीर्य इत्यादि गुण न हों तो आत्मा भी नहीं हो सकता) ॥२७॥

अब, ज्ञान और ज्ञेय के परस्पर गमन का निपेध करते हुए (ज्ञान और ज्ञेय एक दूसरे में प्रवेश नहीं करते) कहते हैं कि:—

गाथा २८

अन्वयार्थः—[ज्ञानी] आत्मा **[ज्ञानस्वभावः]** ज्ञान स्वभाव है **[अर्थाः हि]** और पदार्थ **[ज्ञानिनः]** आत्माके **[ज्ञेयात्मकाः]** ज्ञेय स्वरूप हैं **[रूपाणि इव चक्षुषोः]** जैसे कि रूप (रूपी पदार्थ) नेत्रोंका ज्ञेय होता है वैसे ही । **[अन्योन्येपु]** वे एक दूसरेमें **[न एव वर्तन्ते]** नहीं वर्तते ।

टीका:—आत्मा और पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथक्त्वके कारण एक दूसरे में नहीं वर्तते परन्तु उनके मात्र नेत्र और रूपी पदार्थ की भाँति ज्ञानज्ञेयस्वभाव-सम्बन्धसे होनेवाली एक दूसरेमें प्रवृत्ति पाई जाती है । (प्रत्येक द्रव्यका लक्षण अन्य द्रव्योंसे भिन्नत्व है, इसलिये आत्मा और पदार्थ एक दूसरेमें नहीं मिलते किन्तु आत्माका ज्ञानस्वभाव है और पदार्थोंका ज्ञेय स्वभाव है, इसलिये ऐसे ज्ञानज्ञेयस्व-भावरूप सम्बन्धके कारण ही मात्र उनका एक दूसरेमें होना नेत्र और रूपी पदार्थोंकी भांति उपचारसे कहा जा सकता है) । जैसे नेत्र और उनके विपयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना ही ज्ञेयाकारों को ग्रहण और समर्पण करनेके स्वभाववाले हैं, उसी प्रकार आत्मा और पदार्थ एक दूसरेमें प्रविष्ट हुए बिना ही समस्त ज्ञेयाकारोंके ग्रहण और समर्पण करनेके स्वभाववाले हैं । (जिस प्रकार आँख रूपी-

अथार्थेष्ववृत्तस्यापि ज्ञानिनस्तद्वृत्तिसाधकं शक्तिवैचित्र्यमुद्योतयति—

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥ २९ ॥

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षुः।
जानाति पश्यति नियतमक्षातीतो जगदशेषम् ॥ २९ ॥

यथाहि चक्षू रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशदप्रविष्टं परिच्छेद्यमाकारमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्टं जानाति पश्यति च, एवमात्माप्यक्षातीतत्वात्प्राप्यकारिताविचारगोचरदूरतामवाप्तो ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरसंस्पृशन्न प्रविष्टः शक्तिवैचित्र्यवशतो वस्तुवर्तिनः समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कवलयन्न चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च। एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ॥ २९ ॥

पदार्थोंमें नहीं प्रवेशती और रूपीपदार्थ आँखमें नहीं प्रवेशते तो भी आँख रूपीपदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके ग्रहण करने-जानने-के स्वभाववाली है और रूपी पदार्थ स्वयंके ज्ञेयाकारोंको अर्पणकरने-जनाने-के स्वभाववाले हैं, उसीप्रकार आत्मा भी पदार्थोंमें नहीं प्रवेश करता और पदार्थ आत्मामें नहीं प्रवेश करते तो भी आत्मा पदार्थोंके समस्त ज्ञेयाकारोंको ग्रहण करलेने-जानलेने-के स्वभाववाला है और पदार्थ स्वयंके समस्त ज्ञेयाकारोंको अर्पण करदेने-जनाजाने-के स्वभाववाले हैं।) ॥ २८ ॥

अब, आत्मा पदार्थोंमें प्रवृत्त नहीं होता तथापि जिससे उसका पदार्थोंमें प्रवृत्त होना सिद्ध होता है उस शक्तिवैचित्र्यको उद्योत करते हैं:—

गाथा २९

अन्वयार्थः—[चक्षुः रूपं इव] जैसे चक्षु रूपको (ज्ञेयोंमें अप्रविष्ट रहकर तथा अप्रविष्ट न रहकर जानती-देखती है) उसी प्रकार **[ज्ञानी]** आत्मा **[अक्षातीतः]** इन्द्रियातीत होता हुआ **[अशेषं जगत्]** अशेष जगतको (समस्त लोकालोकको) **[ज्ञेयेषु]** ज्ञेयोंमें **[न प्रविष्टः]** अप्रविष्ट रहकर **[न अविष्टः]** तथा अप्रविष्ट न रहकर **[नियतं]** निरन्तर **[जानाति पश्यति]** जानता-देखता है।

टीकाः—जिसप्रकार चक्षु रूपीद्रव्योंको स्वप्रदेशोंके द्वारा अस्पर्श करता हुआ अप्रविष्ट रहकर (जानता-देखता है) तथा ज्ञेयाकारोंको आत्मसात् (निजरूप) करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है; उसी प्रकार आत्मा भी इन्द्रियातीतताके कारण प्राप्यकारिता[1] की विचारगोचरतासे दूर होता हुआ ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओंको स्वप्रदेशोंसे अस्पर्श करता है, इसलिये अप्रविष्ट रहकर (जानता-देखता है),

---

१ प्राप्यकारिता=ज्ञेय विषयोंको स्पर्श करके ही कार्य कर सकना-जान सकना। (इन्द्रियातीत हुये आत्मामें प्राप्यकारिताके विचारका भी अवकाश नहीं है)

अथैवं ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति संभावयति—

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥ ३० ॥

रत्नमिहेन्द्रनीलं दुग्धाध्युषितं यथा स्वभासा।
अभिभूय तदपि दुग्धं वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु ॥ ३० ॥

यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमानं दृष्टं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन कारणभूतानामर्थानां

तथा शक्तिवैचित्र्यके कारण वस्तुमें वर्तते समस्त ज्ञेयाकारोंको मानों मूलमेंसे ही उखाड़कर ग्रास कर लेने से अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है। इस प्रकार इस विचित्र शक्तिवाले आत्माके पदार्थोंमें अप्रवेशकी भांति प्रवेश भी सिद्ध होता है।

भावार्थः—यद्यपि आँख अपने प्रदेशोंसे रूपी पदार्थोंको स्पर्श नहीं करती इसलिये वह निश्चयसे ज्ञेयोंमें अप्रविष्ट है, तथापि वह रूपी-पदार्थोंको जानती देखती है, इसलिये व्यवहारसे यह कहा जाता है कि मेरी आँख बहुतसे पदार्थोंमें जा पहुँचती है। इसी प्रकार यद्यपि केवलज्ञानप्राप्त आत्मा अपने प्रदेशोंके द्वारा ज्ञेय पदार्थोंको स्पर्श नहीं करता इसलिये वह निश्चयसे तो ज्ञेयोंमें अप्रविष्ट है, तथापि ज्ञायक-दर्शक शक्तिकी किसी परम अद्भुत विचित्रताके कारण (निश्चयसे दूर रहकर भी) वह समस्त ज्ञेयाकारोंको जानता-देखता है, इसलिये व्यवहारसे यह कहा जाता है कि आत्मा सर्वद्रव्य-पर्यायोंमें प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार व्यवहारसे ज्ञेय पदार्थोंमें आत्माका प्रवेश सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

अब यहाँ इस प्रकार (दृष्टांत पूर्वक) यह स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान पदार्थोंमें प्रवृत्त होता है:—

गाथा ३०

अन्वयार्थः—**[यथा]** जैसे **[इह]** इस जगतमें **[दुग्धाध्युषितं]** दूधमें पड़ा हुआ **[इन्द्रनीलं रत्नं]** इन्द्रनील रत्न **[स्वभासा]** अपनी प्रभाके द्वारा **[तदपि दुग्धं]** उस दूधमें **[अभिभूय]** व्याप्त होकर **[वर्तते]** वर्तता है, **[तथा]** उसी प्रकार **[ज्ञानं]** ज्ञान (अर्थात् ज्ञातृद्रव्य) **[अर्थेषु]** पदार्थोंमें व्याप्त होकर वर्तता है।

टीका:—जैसे दूधमें पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपने प्रभासमूहसे दूधमें व्याप्त होकर वर्तता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार संवेदन[1] (ज्ञान) भी आत्मासे अभिन्न होनेसे कर्ता-अंशसे आत्मताको प्राप्त होता हुआ ज्ञानरूप करण-अंशके द्वारा कारणभूत[2] पदार्थोंके कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंमें व्याप्त हुआ वर्तता

१—प्रमाणदृष्टिसे संवेदन अर्थात् ज्ञान कहने पर अनन्त गुणपर्यायोंका पिंड समझमें आता है। उसमें यदि कर्ता, करण आदि अंश किये जावें तो कर्ता-अंश अखंड आत्मद्रव्य है और करण-अंश ज्ञानगुण है। २—पदार्थ कारण हैं, और उनके ज्ञेयाकार (द्रव्य-गुण पर्याय) कार्य हैं।

कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते ॥ ३० ॥

अथैवमर्था ज्ञाने वर्तन्त इति संभावयति—

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥ ३१ ॥

यदि ते न सन्त्यर्था ज्ञाने ज्ञानं न भवति सर्वगतम् ।
सर्वगतं वा ज्ञानं कथं न ज्ञानस्थिता अर्थाः ॥ ३१ ॥

यदि खलु निखिलात्मीयज्ञेयाकारसमर्पणद्वारेणावतीर्णाः सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्येत । अभ्युपगम्येत वा सर्वगतम् । तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुलन्दभूमिका-

---

है, इसलिये कार्यमें कारणका (-ज्ञेयाकारोंमें पदार्थोंका) उपचार करके यह कहनेमें विरोध नहीं आता कि ज्ञान पदार्थोंमें व्याप्त होकर वर्तता है ।

भावार्थः—जैसे दूधसे भरे हुए पात्रमें पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न (नीलमणि) सारे दूधको अपनी प्रभासे नीलवर्ण कर देता है, इसलिये व्यवहारसे रत्न और रत्नकी प्रभा सारे दूधमें व्याप्त कही जाती है; इसी प्रकार ज्ञेयोंसे भरे हुए विश्वमें रहनेवाला आत्मा समस्त ज्ञेयोंको (लोकालोकको) अपनी ज्ञानप्रभा के द्वारा प्रकाशित करता है, अर्थात् जानता है, इसलिये व्यवहारसे आत्माका ज्ञान और आत्मा सर्व-व्यापी कहलाता है । (यद्यपि निश्चयसे वे अपने असंख्य प्रदेशोंमें ही रहते हैं, ज्ञेयोंमें प्रविष्ट नहीं होते) ॥३०॥

अब, यह व्यक्त करते हैं कि इस प्रकार पदार्थ ज्ञान[1] में वर्तते हैं:—

गाथा ३१

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**ते अर्थाः**] वे पदार्थ [**ज्ञाने न संति**] ज्ञानमें न हों तो [**ज्ञानं**] ज्ञान [**सर्वगतं**] सर्वगत [**न भवति**] नहीं हो सकता, [**वा**] और यदि [**ज्ञानं सर्वगतं**] ज्ञान सर्वगत है तो [**अर्थाः**] पदार्थ [**ज्ञानस्थिताः**] ज्ञानस्थित [**कथं न**] कैसे नहीं हैं ? (अर्थात् अवश्य हैं)

टीकाः—यदि समस्त स्वज्ञेयाकारोंके समर्पण द्वारा (ज्ञानमें) अवतरित होते हुए समस्त पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं माना जाता । और यदि वह (ज्ञान) सर्वगत माना जाये तो फिर (पदार्थ) साक्षात् ज्ञानदर्पण भूमिकामें अवतरित बिम्ब[2] की भाँति अपने अपने ज्ञेयाकारोंके

१—इस गाथामें भी 'ज्ञान' शब्दसे अनन्त गुण-पर्यायोंका पिंडरूप ज्ञातृद्रव्य समझना चाहिये ।

२—बिम्ब=जिसका दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ा हो वह । (ज्ञानको दर्पणकी उपमा दी जाये तो, पदार्थोंके ज्ञेयाकार बिम्ब समान हैं और ज्ञानमें होने वाले ज्ञानकी अवस्थारूप ज्ञेयाकार प्रतिबिम्ब समान हैं) ।

...र्णप्रतिबिम्बस्थानीयस्वीयस्वीयसंवेद्याकारकारणानि परम्परया प्रतिबिम्बस्थानीयसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्थो निश्चीयन्ते ॥ ३१ ॥

अथैवं ज्ञानिनोऽर्थैः सहान्योन्यवृत्तिमत्त्वेऽपि परग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावेन सर्वं पश्यतोऽध्यवस्यतश्चात्यन्तविविक्तत्वं भावयति——

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥ ३२ ॥

कारण (होनेसे) और परम्परा[1] से प्रतिबिम्बके समान ज्ञेयाकारोंके कारण होनेसे पदार्थ कैसे ज्ञानस्थित निश्चित नहीं होते ? (अवश्य ही ज्ञानस्थित निश्चित होते हैं)

भावार्थः—दर्पणमें मयूर, मन्दिर, सूर्य, वृक्ष इत्यादि के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। वहां निश्चयसे तो प्रतिबिम्ब दर्पण की ही अवस्थायें हैं, तथापि दर्पणमें प्रतिबिम्ब देखकर कार्य[2] में कारणका उपचार करके व्यवहारसे यह कहा जाता है कि मयूरादिक दर्पणमें हैं। इसी प्रकार ज्ञान दर्पणमें भी सर्व पदार्थोंके समस्त ज्ञेयाकारोंके प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, अर्थात् पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके निमित्तसे ज्ञानमें ज्ञानकी अवस्थारूप ज्ञेयाकार होते हैं, (क्योंकि यदि ऐसा न हो तो ज्ञान सर्व पदार्थोंको नहीं जान सकेगा)। वहां निश्चयसे ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकार ज्ञानकी ही अवस्थायें हैं, पदार्थोंके ज्ञेयाकार कहीं ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं हैं। निश्चयसे ऐसा होनेपर भी व्यवहारसे देखा जाये तो ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकारोंके कारण पदार्थोंके ज्ञेयाकार हैं, और उनके कारण पदार्थ हैं,—इस प्रकार परम्परासे ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकारोंके कारण पदार्थ हैं; इसलिये उन (ज्ञानकी अवस्थारूप) ज्ञेयाकारोंको ज्ञानमें देखकर, कार्यमें कारणका उपचार करके व्यवहारसे ऐसा कहा जा सकता है कि पदार्थ ज्ञानमें हैं ॥ ३१ ॥

अब, इसप्रकार (व्यवहारसे) आत्माकी पदार्थोंके साथ एक दूसरेमें प्रवृत्ति होनेपर भी (निश्चयसे) वह परका ग्रहण-त्याग किये विना तथा पररूप परिणमित हुए विना सबको देखता-जानता है इसलिये उसे (पदार्थोंके साथ) अत्यन्त भिन्नता है, यह बतलाते हैं:—

गाथा ३२

अन्वयार्थः—[**केवली भगवान्**] केवली भगवान [**परं**] परको [**न एव गृह्णाति**] ग्रहण नहीं करते, [**न मुंचति**] छोड़ते नहीं, [**न परिणमति**] पररूप परिणमित नहीं होते; [**सः**] वे [**निरवशेषं सर्वं**] निरवशेषरूपसे सबको (सम्पूर्ण आत्माको, सर्व ज्ञेयोंको) [**समन्ततः**] सर्व ओरसे (सर्व आत्म प्रदेशोंसे) [**पश्यति जानाति**] देखते-जानते हैं।

१—पदार्थ साक्षात् स्वज्ञेयाकारोंके कारण हैं (पदार्थ अपने अपने द्रव्य-गुण-पर्यायोंके साक्षात् कारण हैं) और परम्परासे ज्ञानकी अवस्थारूप ज्ञेयाकारोंके (ज्ञानाकारोंके) कारण हैं। २—प्रतिबिम्ब नैमित्तिक कार्य हैं, और मयूरादि निमित्त कारण हैं।

गृह्णाति नैव न मुञ्चति न परं परिणमति केवली भगवान् ।
पश्यति समन्ततः स जानाति सर्वं निरवशेषम् ॥ ३२ ॥

अयं खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानस्वरूपेण विपरिणम्य निष्कम्पोन्मज्जज्ज्योतिर्जात्यमणिकल्पो भूत्वाऽवतिष्ठमानः समन्ततः स्फुरितदर्शनज्ञानशक्तिः, समस्तमेव निःशेषतयात्मानमात्मनात्मनि संचेतयते । अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षणलक्षणक्रियाविरामः प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्ततोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव ॥ ३२ ॥

टीका:—यह आत्मा स्वभावसे ही परद्रव्यके ग्रहण-त्यागका तथा परद्रव्यरूपसे परिणमित होनेका (उसके) अभाव होनेसे स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानरूपसे परिणमित होकर निष्कंपनिकलनेवाली ज्योतिवाला उत्तम मणि जैसा होकर रहता हुआ, (१) जिसके सर्व ओरसे (सब आत्म प्रदेशोंसे) दर्शनज्ञानशक्ति स्फुरित है ऐसा होता हुआ, निःशेषरूप[1] से परिपूर्ण आत्माको आत्मासे आत्मामें संचेतता-जानता-अनुभव करता है; अथवा (२) एक साथ ही सर्व पदार्थोंके समूहका साक्षात्कार[2] करनेसे ज्ञप्तिपरिवर्तनका अभाव होनेसे जिसके ग्रहणत्यागरूप[3] क्रिया विरामको प्राप्त हुई है ऐसा होता हुआ, पहलेसे ही समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित होनेसे फिर पररूपसे—आकारान्तररूप[4] से नहीं परिणमित होता हुआ सर्व प्रकारसे अशेष विश्वको (मात्र) देखता-जानता है । इस प्रकार (पूर्वोक्त दोनों प्रकारसे) उसका (आत्माका पदार्थोंसे) अत्यंत भिन्नत्व ही है ।

भावार्थ:—केवली भगवान सर्व आत्मप्रदेशोंसे अपनेको ही अनुभव करते रहते हैं; इस प्रकार वे पर द्रव्योंसे सर्वथा भिन्न हैं । अथवा, केवली भगवानको सर्व पदार्थोंका युगपत् ज्ञान होता है इसलिये उनका ज्ञान एक ज्ञेयमें से दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें नहीं बदलता, तथा उन्हें कुछ भी जानना शेष नहीं रहता इसलिये उनका ज्ञान किसी विशेष ज्ञेयाकारको जाननेके प्रति भी नहीं जाता । इस प्रकार भी वे परसे सर्वथा भिन्न हैं । (यदि जाननेरूप क्रिया बदलती हो तो वह परिवर्तन विकल्पके बिना-पर निमित्तक रागद्वेषके बिना—नहीं हो सकता, इसलिये इतना परद्रव्यके साथका सम्बन्ध कहलाता है । किन्तु केवली भगवानकी ज्ञप्तिका परिवर्तन नहीं होता इसलिये वे परसे अत्यन्त भिन्न हैं ।) इस प्रकार केवलज्ञानप्राप्त आत्मा परसे अत्यन्त भिन्न होनेसे और प्रत्येक आत्मा स्वभावसे केवली भगवान जैसा ही होनेसे यह सिद्ध हुआ कि निश्चयसे प्रत्येक आत्मा परसे भिन्न है ॥ ३२ ॥

१—निःशेषरूपसे=कुछ भी किंचित मात्र शेष न रहे इस प्रकार से । २—साक्षात्कार करना=प्रत्यक्ष जानना । ३—ज्ञप्तिक्रियाका बदलते रहना अर्थात् ज्ञानमें एक ज्ञेयको ग्रहण करना और दूसरेको छोड़ना सो ग्रहण-त्याग है । इस प्रकारका ग्रहण-त्याग वो क्रिया है, ऐसी क्रियाका केवली भगवानके अभाव हुआ है । ४—आकारान्तर=अन्य आकार ।

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकांक्षाक्षोभं क्षपयति—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥ ३३ ॥

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः ॥ ३३ ॥

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मना-

---

अब केवलज्ञानीको और श्रुतज्ञानीको अविशेषरूपसे दिखाकर विशेष आकांक्षाके क्षोभका क्षय करते हैं (अर्थात् केवलज्ञानीमें और श्रुतज्ञानीमें अन्तर नहीं है यह दिखाकर विशेष जाननेकी इच्छा के क्षोभको नष्ट करते हैं):—

गाथा ३३

अन्वयार्थः—[**यः हि**] जो वास्तवमें [**श्रुतेन**] श्रुतज्ञानके द्वारा [**स्वभावेन ज्ञायकं**] स्वभावसे ज्ञायक (ज्ञायकस्वभाव) [**आत्मानं**] आत्माको [**विजानाति**] जानता है [**तं**] उसे [**लोकप्रदीपकराः**] लोकके प्रकाशक [**ऋषयः**] ऋषीश्वरगण [**श्रुतकेवलिनं भणन्ति**] श्रुतकेवली कहते हैं।

टीका:—जैसे भगवान युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्यविशेषयुक्त केवलज्ञानके द्वारा, अनादिनिधन[1]-निष्कारण[2]-असाधारण[3]-स्वसंवेद्यमान[4] चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक[5] स्वभावसे एकत्व होनेसे केवल (अकेला, शुद्ध, अखंड) है ऐसे आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभव करनेके कारण केवली हैं, उसी प्रकार हम भी क्रमशः परिणमित होते हुए कितने ही चैतन्यविशेषोंसे युक्त श्रुतज्ञानके द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभावके द्वारा एकत्व होनेसे केवल[6] (अकेला) है ऐसे आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभव करनेके कारण श्रुतकेवली हैं। (इसलिये) विशेष आकांक्षाके क्षोभसे बस हो; (हम तो) स्वरूपनिश्चल ही रहते हैं।

भावार्थ:—भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं, मात्र इसलिये ही वे 'केवली' नहीं कहलाते, किन्तु केवल अर्थात् शुद्ध आत्माको जानने—अनुभव करनेसे 'केवली' कहलाते हैं। केवल (शुद्ध) आत्माको जानने-

---

१—अनादिनिधन=अनादि-अनन्त (चैतन्यसामान्य, आदि तथा अन्त रहित है)। २—निष्कारण=जिसका कोई कारण नहीं है ऐसा; स्वयंसिद्ध; सहज। ३—असाधारण=जो अन्य किसी द्रव्यमें न हो, ऐसा। ४—स्वसंवेद्यमान=स्वतः ही अनुभवमें आने वाला। ५—चेतक=चेतने वाला; दर्शकज्ञायक। ६—आत्मा निश्चयसे परद्रव्यके तथा रागद्वेषादिके संयोगों तथा गुणपर्यायके भेदोंसे रहित मात्र चेतक स्वभावरूप ही है, इसलिये वह परमार्थसे केवल (अकेला, शुद्ध, अखंड) है।

त्मनि संचेतनात् केवली, तथायं जनोऽपि क्रमपरिणममाणकतिपयचैतन्यविशेषशालिना श्रुतज्ञानेनाऽनादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् श्रुतकेवली। अलं विशेषाकांक्षाक्षोभेण, स्वरूपनिश्चलैरेवावस्थीयते ॥ ३३ ॥

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥ ३४ ॥

सूत्रं जिनोपदिष्टं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनैः।
तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानं सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ॥ ३४ ॥

श्रुतं हि तावत्सूत्रम्। तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म। तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुतं तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव। एवं सति सूत्रस्य ज्ञप्तिः श्रुतज्ञान-

अनुभव करने वाला श्रुतज्ञानी भी 'श्रुतकेवली' कहलाता है। केवली और श्रुतकेवलीमें इतना मात्र अन्तर है कि—जिसमें चैतन्यके समस्त विशेष एक ही साथ परिणमित होते हैं ऐसे केवलज्ञानके द्वारा केवली केवल आत्माका अनुभव करते हैं, और जिसमें चैतन्यके कुछ विशेष क्रमशः परिणमित होते हैं ऐसे श्रुतज्ञानके द्वारा श्रुतकेवली केवल आत्माका अनुभव करते हैं; अर्थात् केवली सूर्यके समान केवलज्ञानके द्वारा आत्माको देखते और अनुभव करते हैं, तथा श्रुतकेवली दीपकके समान श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको देखते और अनुभव करते हैं, इसप्रकार केवली और श्रुतकेवलीमें स्वरूपस्थिरताकी तरतमतारूप भेद ही मुख्य है, कम-बढ़ (पदार्थ) जानने रूप भेद अत्यन्त गौण है। इसलिये अधिक जाननेकी इच्छाका क्षोभ छोड़कर स्वरूपमें ही निश्चल रहना योग्य है। यही केवलज्ञान प्राप्तिका उपाय है ॥ ३३ ॥

अब, ज्ञानके श्रुत-उपाधिकृत भेदको दूर करते हैं, (अर्थात् यह दिखाते हैं कि श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है, श्रुतरूप उपाधिके कारण ज्ञानमें कोई भेद नहीं होता):—

गाथा ३४

अन्वयार्थः—[**पुद्गलद्रव्यात्मकैः वचनैः**] पुद्गल द्रव्यात्मक वचनोंके द्वारा [**जिनोपदिष्टं**] जिनेन्द्र भगवानके द्वारा उपदिष्ट [**सूत्रं**] सूत्र है [**तज्ज्ञप्तिः हि**] उसकी ज्ञप्ति [**ज्ञानं**] ज्ञान है [**च**] और उसे [**सूत्रस्य ज्ञप्तिः**] सूत्रकी ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) [**भणिता**] कहा गया है।

टीका:—पहले तो श्रुत ही सूत्र है, और वह सूत्र भगवान अर्हन्त-सर्वज्ञके द्वारा स्वयं जानकर उपदिष्ट, स्यात्कार[1] चिह्नयुक्त, पौद्गलिक शब्दब्रह्म है। उसकी ज्ञप्ति[2] (शब्दब्रह्मको जानने वाली

१—स्यात्कार='स्यात्' शब्द। (स्यात्=कथंचित्; किसी अपेक्षासे) २—ज्ञप्ति=जानना; जाननेरूप क्रिया; जाननक्रिया।

नत्ययाति। अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते ज्ञप्तिरेवावशिष्यते। सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः ॥ ३४ ॥

अथात्मज्ञानयोः कर्तृकरणताकृतं भेदमपनुदति—

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ ३५ ॥

यो जानाति स ज्ञानं न भवति ज्ञानेन ज्ञायक आत्मा।
ज्ञानं परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिताः सर्वे ॥ ३५ ॥

अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतंत्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत्।

ज्ञातृक्रिया) सो ज्ञान है। श्रुत (सूत्र) तो उसका (ज्ञानका) कारण होनेसे ज्ञानके रूपमें उपचारसे ही कहा जाता है (जैसे कि अन्नको प्राण कहा जाता है)। ऐसा होनेसे यह फलित हुआ कि सूत्रकी ज्ञप्ति सो श्रुतज्ञान है। यदि सूत्र तो उपाधि होनेसे उसका आदर न किया जाये तो ज्ञप्ति ही शेष रह जाती है; ('सूत्रकी ज्ञप्ति' कहने पर निश्चयसे ज्ञप्ति कहीं पौद्गलिक सूत्रकी नहीं किन्तु आत्माकी है; सूत्र ज्ञप्तिका स्वरूपभूत नहीं किन्तु विशेष वस्तु अर्थात् उपाधि है; क्योंकि सूत्र न हो तो वहां भी ज्ञप्ति तो होती ही है। इसलिये यदि सूत्रको न गिना जाय तो 'ज्ञप्ति' ही शेष रहती है।) और वह (ज्ञप्ति) केवली और श्रुतकेवलीके आत्मानुभवनमें समान ही है। इसलिये ज्ञानमें श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है ॥ ३४ ॥

अब, आत्मा और ज्ञानका कर्तृत्व-करणत्वकृत भेद दूर करते हैं। (परमार्थतः अभेद आत्मामें, 'आत्मा ज्ञातृक्रियाका कर्ता है और ज्ञान करण है' इसप्रकार व्यवहारसे भेद किया जाता है, तथापि आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं इसलिये अभेदनयसे 'आत्मा ही ज्ञान है' यह समझाते हैं):—

गाथा ३५

अन्वयार्थः—[**यः जानाति**] जो जानता है [**सः ज्ञानं**] सो ज्ञान है (जो ज्ञायक है वही ज्ञान है) [**ज्ञानेन**] ज्ञानके द्वारा [**आत्मा**] आत्मा [**ज्ञायकः भवति**] ज्ञायक है [**न**] ऐसा नहीं है; [**स्वयं**] स्वयं ही [**ज्ञानं परिणमते**] ज्ञानरूप परिणमित होता है [**सर्वे अर्थाः**] और सर्व पदार्थ [**ज्ञानस्थिताः**] ज्ञानस्थित हैं।

टीका:—आत्मा अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्वकी शक्तिरूप पारमैश्वर्यवान[1] है, इसलिये जो स्वयमेव जानता है (ज्ञायक है) वही ज्ञान है। जैसे—जिसमें साधकतम[2] उष्णत्वशक्ति अन्तर्लीन है, ऐसी स्वतंत्र[3] अग्निके दहनक्रिया[4] की प्रसिद्धि होनेसे उष्णता कही जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है कि

१—पारमैश्वर्य=परम सामर्थ्य; परमेश्वरता। २—साधकतम=उत्कृष्ट साधन वह करण। ३—जो स्वतंत्ररूपसे करे वह कर्ता। ४—अग्नि जलानेकी क्रिया करती है, इसलिये उसे उष्णता कहा जाता है।

न तु यथा पृथग्वर्तिना दात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा ज्ञानेन ज्ञायको भवत्यात्मा। तथा सत्युभयोरचेतनत्वमचेतनयोः संयोगेऽपि न परिच्छित्तिनिष्पत्तिः। पृथक्त्ववर्तिनोरपि परिच्छेदाभ्युपगमे परपरिच्छेदेन परस्य परिच्छित्तिर्भूतिप्रभृतीनां च परिच्छित्तिप्रसूतिरनङ्कुशा स्यात्। किंच—स्वतो व्यतिरिक्तसमस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतं ज्ञानं स्वयं परिणममानस्य कार्यभूतसमस्तज्ञेयाकारकारणीभूताः सर्वेऽर्था ज्ञानवर्तिन एव कथंचिद्भवन्ति, किं ज्ञातृज्ञानविभागक्लेशकल्पनया॥ ३५॥

अथ किं ज्ञानं किं ज्ञेयमिति व्यनक्ति—

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं॥ ३६॥

तस्मात् ज्ञानं जीवो ज्ञेयं द्रव्यं त्रिधा समाख्यातम्।
द्रव्यमिति पुनरात्मा परश्च परिणामसंबद्धः॥ ३६॥

जैसे पृथग्वर्ती दांतलीसे देवदत्त काटनेवाला कहलाता है उसी प्रकार (पृथग्वर्ती) ज्ञानसे आत्मा जाननेवाला (ज्ञायक) है। यदि ऐसा हो तो दोनोंके अचेतनता आजायेगी और दो अचेतनोंका संयोग होने पर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नहीं होगी। आत्मा और ज्ञानके पृथग्वर्ती होने पर भी यदि आत्माके ज्ञप्ति होना माना जाये तो परज्ञानके द्वारा परको ज्ञप्ति होजायेगी और इसप्रकार राख इत्यादिके भी ज्ञप्तिका उद्भव निरंकुश होजायेगा। ('आत्मा' और ज्ञान पृथक हैं किन्तु ज्ञान आत्माके साथ युक्त होजाता है इसलिये आत्मा जाननेका कार्य करता है' यदि ऐसा माना जाये तो जैसे ज्ञान आत्माके साथ युक्त होता है, उसी प्रकार राख, घड़ा, स्तंभ इत्यादि समस्त पदार्थोंके साथ युक्त होजाये और उससे वे सब पदार्थ भी जानने का कार्य करने लगें; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये आत्मा और ज्ञान पृथक नहीं हैं।) और अपनेसे अभिन्न समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित जो ज्ञान है उसरूप स्वयं परिणमित होने वालेको, कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंके कारणभूत समस्त पदार्थ ज्ञानवर्ति ही कथंचित् हैं। (इसलिये) ज्ञाता और ज्ञानके विभाग की क्लिष्ट कल्पनासे क्या प्रयोजन है?॥ ३५॥

अब, यह व्यक्त करते हैं कि ज्ञान क्या है, और ज्ञेय क्या है:—

गाथा ३६

अन्वयार्थः—[**तस्मात्**] इसलिये [**जीवः ज्ञानं**] जीव ज्ञान है [**ज्ञेयं**] और ज्ञेय [**त्रिधा समाख्यातं**] तीन प्रकारसे वर्णित (त्रिकालस्पर्शी) [**द्रव्यं**] द्रव्य है [**पुनः द्रव्यं इति**] (वह ज्ञेयभूत) द्रव्य अर्थात् [**आत्मा**] आत्मा (स्वआत्मा) [**परः च**] और पर [**परिणामसम्बद्धः**] परिणाम वाले हैं।

टीका:—(पूर्वोक्त प्रकार) ज्ञान रूपसे स्वयम् परिणमित होकर स्वतंत्रतया ही जानता है इसलिये जीव ही ज्ञान है, क्योंकि अन्य द्रव्य इस प्रकार (ज्ञान रूप) परिणमित होने तथा जाननेमें असमर्थ हैं।

यतः परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणम्य स्वतंत्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानमन्यद्रव्याणां तथा परिणन्तुं परिच्छेत्तुं चाशक्तेः। ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणविचित्रपर्यायपरम्पराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं, तत्तु ज्ञेयतामापद्यमानं द्वेधात्मपरविकल्पात्। इष्यते हि स्वपरपरिच्छेदकत्वादवबोधस्य बोध्यस्यैवंविधं द्वैविध्यम्।

ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथं नामात्मपरिच्छेदकत्वम्। का हि नाम क्रिया कीदृशश्च विरोधः। क्रिया ह्यत्र विरोधिनी समुत्पत्तिरूपा वा ज्ञप्तिरूपा वा। उत्पत्तिरूपा हि तावन्नैकं

और ज्ञेय, वर्त चुकी, वर्त रही और वर्तनेवाली ऐसी विचित्र पर्यायोंकी परम्पराके प्रकारसे त्रिविध कालकोटिको स्पर्श करता होने से अनादि अनन्त द्रव्य है। (आत्मा ही ज्ञान है, और ज्ञेय समस्त द्रव्य हैं) वह ज्ञेयभूत द्रव्य आत्मा और पर (स्व और पर) ऐसे दो भेदसे दो प्रकारका है। ज्ञान स्वपर ज्ञायक है, इसलिये ज्ञेयकी ऐसी द्विविधता मानी जाती है।

(प्रश्न):—अपनेमें क्रियाके हो सकनेका विरोध है, इसलिये आत्माके स्वज्ञायकता कैसे घटित होती है?

(उत्तर):—कौनसी क्रिया है, और किस प्रकारका विरोध है? जो यहाँ (प्रश्नमें) विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप होगी या ज्ञप्तिरूप होगी। प्रथम, उत्पत्ति रूप क्रिया 'कोई स्वयं अपनेमें से उत्पन्न नहीं हो सकता' इस आगम कथनसे विरुद्ध ही है; परन्तु ज्ञप्तिरूप क्रियामें विरोध नहीं आता क्योंकि वह प्रकाशन क्रियाकी भाँति उत्पत्ति क्रियासे विरुद्ध प्रकारसे (भिन्न प्रकारसे) होती है। जैसे जो प्रकाश्यभूत-पर को प्रकाशित करता है ऐसे प्रकाशक दीपकको स्व प्रकाश्यको प्रकाशित करनेके संबन्ध में अन्य प्रकाशककी आवश्यक्ता नहीं होती, क्योंकि उसके स्वयमेव प्रकाशन क्रियाकी प्राप्ति है; इसी प्रकार जो ज्ञेयभूत परको जानता है ऐसे ज्ञायक आत्माको स्वज्ञेयके जाननेके संबन्धमें अन्य ज्ञायक की आवश्यक्ता नहीं होती, क्योंकि स्वयमेव ज्ञान क्रिया की प्राप्ति है[1]। (इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्व को भी जान सकता है)।

१—कोई पर्याय स्वयं अपनेमेंसे उत्पन्न नहीं हो सकती, किंतु वह द्रव्यके आधारसे-द्रव्यमेंसे उत्पन्न होती है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो द्रव्यरूप आधारके बिना पर्यायें उत्पन्न होने लगें और जलके बिना तरंगें होने लगें; किन्तु यह सब प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसलिये पर्यायके उत्पन्न होनेके लिये द्रव्यरूप आधार आवश्यक है। इसी प्रकार ज्ञान पर्याय भी स्वयं अपनेमेंसे उत्पन्न नहीं हो सकती; वह आत्मद्रव्यमेंसे उत्पन्न हो सकती है जो कि ठीक ही है। परन्तु ज्ञान पर्याय स्वयं अपनेसे ही ज्ञात नहीं हो सकती यह बात यथार्थ नहीं है। आत्म द्रव्यमेंसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञान पर्याय स्वयं अपनेसे ही ज्ञात होती है। जैसे दीपकरूपी आधारमेंसे उत्पन्न होने वाली प्रकाश पर्याय स्व परको प्रकाशित करती है, उसी प्रकार आत्मारूपी आधारमेंसे उत्पन्न होने वाली ज्ञान पर्याय स्वपरको जानती है। और यह अनुभव सिद्ध भी है कि ज्ञान स्वयं अपनेको जानता है।

स्वस्मात्प्रजायत इत्यागमाद्विरुद्धैव । ज्ञप्तिरूपायास्तु प्रकाशनक्रिययैव प्रत्यवस्थितत्वान्न तत्र विप्रतिषेधस्यावतारः । यथा हि प्रकाशकस्य प्रदीपस्य परं प्रकाश्यतामापन्नं प्रकाशयतः स्वस्मिन् प्रकाश्ये न प्रकाशकान्तरं मृग्यं, स्वयमेव प्रकाशनक्रियायाः समुपलम्भात् । तथा परिच्छेदकस्यात्मनः परं परिच्छेद्यतामापन्नं परिच्छिन्दतः स्वस्मिन् परिच्छेद्ये न परिच्छेदकान्तरं मृग्यं, स्वयमेव परिच्छेदनक्रियायाः समुपलम्भात् ।

ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेयरूपत्वं च । परिणामसंबन्धत्वात् । यतः खलु आत्मा द्रव्याणि च परिणामैः सह संबध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रतपति ॥ ३६ ॥

अथातिवाहितानागतानामपि द्रव्यपर्यायाणां तादात्विकवत् पृथक्त्वेन ज्ञाने वृत्तिमुद्योतयति-

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥ ३७ ॥

(प्रश्न)—आत्माको द्रव्योंकी ज्ञानरूपता और द्रव्योंको आत्माकी ज्ञेयरूपता, कैसे (किस प्रकार घटित) है ?

(उत्तर):–वे परिणामवाले होनेसे । आत्मा और द्रव्य परिणामयुक्त हैं, इसलिये आत्माके, द्रव्य जिसका आलम्बन[1] हैं ऐसे ज्ञानरूपसे (परिणति) और द्रव्योंके, ज्ञानका अवलम्बन[2] लेकर ज्ञेयाकाररूपसे परिणति अबाधितरूपसे तपती है– प्रतापवंत वर्तती है । (आत्मा और द्रव्य समय २ पर परिणमन किया करते हैं, वे कूटस्थ नहीं है; इसलिये आत्मा ज्ञान स्वभावसे और द्रव्य ज्ञेय स्वभावसे परिणमन करता है, इस प्रकार ज्ञान स्वभावमें परिणमित आत्मा ज्ञानके आलम्बनभूत द्रव्योंको जानता है, और ज्ञेय स्वभावसे परिणमित द्रव्य ज्ञेयके आलम्बनभूत ज्ञानमें-आत्मामें-ज्ञात होते हैं ।) ॥३६॥

अब, यह उद्योत करते हैं कि द्रव्योंकी अतीत और अनागत पर्यायें भी तात्कालिक पर्यायोंकी भाँति पृथक् रूपसे ज्ञानमें वर्तती हैं:—

गाथा ३७

अन्वयार्थः—**[तासाम् द्रव्यजातीनाम्]** उन (जीवादि) द्रव्यजातियोंकी **[ते सर्वे]** समस्त **[सदसद्भूताः हि]** विद्यमान और अविद्यमान **[पर्यायाः]** पर्यायें **[तात्कालिकाः इव]** तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायोंकी भाँति **[विशेषतः]** विशिष्टता पूर्वक (अपने अपने भिन्न भिन्न स्वरूपमें) **[ज्ञाने वर्तन्ते]** ज्ञानमें वर्तती हैं ।

१—ज्ञानके ज्ञेयभूत द्रव्य आलम्बन अर्थात् निमित्त हैं । यदि ज्ञान ज्ञेयको न जाने तो ज्ञानका ज्ञानत्व क्या रहा ? २—ज्ञेयका ज्ञान आलम्बन अर्थात् निमित्त है । यदि ज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात न हो तो ज्ञेयका ज्ञेयत्व क्या हुआ ?

तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायास्तासाम्।
वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ॥ ३७ ॥

सर्वासामेव हि द्रव्यजातीनां त्रिसमयावच्छिन्नात्मलाभभूमिकत्वेन क्रमप्रतपत्स्वरूपसंपदः सद्भूतासद्भूततामायान्तो ये यावन्तः पर्यायास्ते तावन्तस्तात्कालिका इवात्यन्तसंकरेणाप्यवधारितविशेषलक्षणा एकक्षण एवाववोधसौधस्थितिमवतरन्ति । न खल्वेतदयुक्तं–दृष्टाविरोधात्। दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालम्बितस्तदाकारः। किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः। यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमाना-

---

टीका:—(जीवादिक) समस्त द्रव्यजातियोंकी पर्यायोंकी उत्पत्तिकी मर्यादा तीनोंकालकी मर्यादा जितनी होनेसे (वे तीनोंकालमें उत्पन्न हुआ करती हैं इसलिये), उनकी (उन समस्त द्रव्य जातियोंकी), क्रम पूर्वक तपती हुई स्वरूप सम्पदा वाली (एकके बाद दूसरी प्रगट होनेवाली), विद्यमानता और अविद्यमानताको प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं, वे सब तात्कालिक (वर्तमान कालीन) पर्यायों की भाँति अत्यंत मिश्रित[1] होनेपर भी सब पर्यायोंके विशिष्टलक्षण स्पष्ट ज्ञात हों इस प्रकार, एक क्षण में ही ज्ञान-मंदिरमें स्थितिको प्राप्त होती हैं। यह (तीनोंकालकी पर्यायोंका वर्तमान पर्यायोंकी भांति ज्ञानमें ज्ञात होना) अयुक्त नहीं है; क्योंकि—

(१) उसका दृष्टके साथ (जगतमें जो दिखाई देता है—अनुभवमें आता है उसके साथ) अविरोध है। (जगतमें) दिखाई देता है कि छद्मस्थके भी, जैसे वर्तमान वस्तुका चिंतवन करते हुए ज्ञान उसके आकारका अवलम्बन करता है उसी प्रकार भूत और भविष्यत वस्तुका चिंतवन करते हुए (भी) ज्ञान उसके आकारका अवलम्बन करता है।

(२) और ज्ञान चित्रपटके समान है। जैसे चित्रपटमें अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओंके आलेख्याकार* साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते हैं; इसी प्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें (ज्ञान भूमिकामें, ज्ञानपटमें) भी अतीत अनागत और वर्तमान पर्यायोंके ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते हैं।

(३) और, सर्व ज्ञेयाकारोंकी तात्कालिकता (वर्तमानता, साम्प्रतिकता) अविरुद्ध है। जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओंके आलेख्याकार वर्तमान ही हैं, इसी प्रकार अतीत और अनागत पर्यायोंके ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं।

भावार्थ:—केवलज्ञान समस्त द्रव्योंकी तीनों कालकी पर्यायोंको युगपद् जानता है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायोंको वर्तमान कालमें कैसे जान सकता है? उसका समाधान है कि—जगतमें भी देखा जाता है कि अल्पज्ञ जीवका ज्ञान भी नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओंका

१—ज्ञानमें समस्त द्रव्योंकी तीनोंकालकी पर्यायें एक ही साथ ज्ञात होने पर भी प्रत्येक पर्यायका विशिष्ट स्वरूप (प्रदेश, काल, आकार इत्यादि विशेषतायें) स्पष्ट ज्ञात होता है; संकर-व्यतिकर नहीं होते।

* आलेख्य=आलेखन योग्य; चित्रित करने योग्य।

नां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि । किंच सर्वज्ञेया-
काराणां तादात्विकत्वाविरोधात् । यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानां च वस्तुनामालेख्याकारा
वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्तमाना एव भवन्ति ॥ ३७ ॥

अथासद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति—

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥ ३८ ॥

ये नैव हि संजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्यायाः ।
ते भवन्ति असद्भूताः पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षाः ॥ ३८ ॥

ये खलु नाद्यापि संभूतिमनुभवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्भूता अपि परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेववदप्रकम्पार्पितस्वरूपाः सद्भूता एव भवन्ति ॥ ३८ ॥

चिंतवन कर सकता है, अनुमानके द्वारा जान सकता है, तदाकार हो सकता है, तब फिर पूर्ण ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायोंको क्यों न जान सकेगा ? ज्ञानशक्ति ही ऐसी है कि वह चित्रपटकी भाँति अतीत और अनागत पर्यायोंको भी जान सकती है । और आलेख्यत्व शक्तिकी भाँति द्रव्योंकी ज्ञेयत्व शक्ति ऐसी है कि उनकी अतीत और अनागत पर्यायें भी ज्ञानमें ज्ञेयरूप होती हैं—ज्ञात होती हैं । इसप्रकार आत्माकी अद्भुत ज्ञान शक्ति और द्रव्योंकी अद्भुत ज्ञेयत्वशक्तिके कारण केवलज्ञानमें समस्त द्रव्योंकी तीनों कालकी पर्यायोंका एक ही समयमें भासित होना अविरुद्ध है ॥ ३७ ॥

अब, अविद्यमान पर्यायोंकी (भी) कथंचित् (कोई प्रकारसे; कोई अपेक्षासे) विद्यमानता बतलाते हैं:—

गाथा ३८

अन्वयार्थः—[**ये पर्यायाः**] जो पर्यायें [**हि**] वास्तवमें [**न एव संजाताः**] उत्पन्न नहीं हुई हैं, तथा [**ये**] जो पर्यायें [**खलु**] वास्तवमें [**भूत्वा नष्टाः**] उत्पन्न होकर नष्ट होगई हैं, [**ते**] वे [**असद्भूताः पर्यायाः**] अविद्यमान पर्यायें [**ज्ञानप्रत्यक्षाः भवन्ति**] ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ।

टीका:—जो (पर्यायें) अभी तक भी उत्पन्न नहीं हुई और जो उत्पन्न होकर नष्ट होगई हैं वे (पर्यायें) वास्तवमें अविद्यमान होने पर भी ज्ञानके प्रति नियत होनेसे (ज्ञानमें निश्चित-स्थिर-लगी हुई होनेसे, ज्ञानमें सीधी ज्ञात होनेसे) ज्ञानप्रत्यक्ष* वर्तती हुई, पाषाण स्तम्भमें उत्कीर्ण, भूत और भावी देवों (तीर्थंकरदेवों) की भाँति अपने स्वरूपको अकम्पतया (ज्ञानको) अर्पित करती हुई (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं ॥ ३८ ॥

*प्रत्यक्ष=अक्षके प्रति—अक्षके सम्मुख—अक्षके निकटमें—अक्षके सम्बन्धमें हो ऐसा । [अक्ष=ज्ञान; आत्मा ।]

अथैतदेवासद्भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति—

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥ ३९ ॥

यदि प्रत्यक्षोऽजातः पर्यायः प्रलयितश्च ज्ञानस्य ।
न भवति वा तत् ज्ञानं दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥ ३९ ॥

यदि खल्वसंभावितभावं संभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिघविजृम्भिताखण्डितप्रतापप्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्याक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात् । अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेतदुपपन्नम् ॥ ३९ ॥

अथेन्द्रियज्ञानस्यैव प्रलीनमनुत्पन्नं च ज्ञातुमशक्यमिति वितर्कयति—

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥ ४० ॥

अब, इन्हीं अविद्यमान पर्यायोंकी ज्ञानप्रत्यक्षताको दृढ़ करते हैं:—

गाथा ३९

अन्वयार्थः—[**यदि वा**] यदि [**अजातः पर्यायः**] अनुत्पन्न पर्याय [**च**] तथा [**प्रलयितः**] नष्ट पर्याय [**ज्ञानस्य**] ज्ञानके (केवलज्ञानके) [**प्रत्यक्षः न भवति**] प्रत्यक्ष न हो तो [**तत् ज्ञानं**] उस ज्ञानको [**दिव्यं इति हि**] दिव्य [**के प्ररूपयंति**] कौन प्ररूपेगा ?

टीका:—जिसने अस्तित्वका अनुभव नहीं किया, और जिसने अस्तित्वका अनुभव कर लिया है ऐसी (अनुत्पन्न और नष्ट) पर्याय मात्रको यदि ज्ञान अपनी निर्विघ्न विकसित, अखंडित प्रतापयुक्त प्रभु शक्तिके द्वारा बलात् अत्यन्त आक्रमित करे (प्राप्त करे); तथा वे पर्यायें अपने स्वरूपसर्वस्वको अक्रमसे अर्पित करें (एकही साथ ज्ञानमें ज्ञात हों) इसप्रकार उन्हें अपने प्रति नियत न करे (अपनेमें निश्चित न करे, प्रत्यक्ष न जाने), तो उस ज्ञानकी दिव्यता क्या है ? इससे (यह कहा गया है कि) पराकाष्ठाको प्राप्त ज्ञानके लिये यह सब योग्य है ।

भावार्थ:—अनन्त महिमावान केवलज्ञानकी यह दिव्यता है कि वह अनंत द्रव्योंकी समस्त (अतीत और अनागत भी) पर्यायोंको सम्पूर्णतया एक ही समय प्रत्यक्ष जानता है ॥ ३९ ॥

अब, इन्द्रियज्ञानको ही नष्ट और अनुत्पन्नका जानना अशक्य है, (अर्थात् इन्द्रियज्ञान ही नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोंको-पर्यायोंको नहीं जान सकता) यह न्यायसे निश्चित करते हैं ।

गाथा ४०

अन्वयार्थः—[**ये**] जो [**अक्षनिपतितं**] अक्षपतित अर्थात् इन्द्रियगोचर [**अर्थं**] पदार्थको [**ईहापूर्वैः**] ईहादिक द्वारा [**विजानन्ति**] जानते हैं, [**तेषां**] उनके लिये

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वैर्ये विजानन्ति ।
तेषां परोक्षभूतं ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम् ॥ ४० ॥

ये खलु विषयविषयिसन्निपातलक्षणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षमधिगम्य क्रमोपजायमानेनेहादिकप्रक्रमेण परिच्छिन्दन्ति, ते किलातिवाहितस्वास्तित्वकालमनुपस्थितस्वास्तित्वकालं वा यथोदितलक्षणस्य ग्राह्यग्राहकसंबन्धस्यासंभवतः परिच्छेत्तुं न शक्नुवन्ति ॥ ४० ॥

अथातीन्द्रियज्ञानस्य तु यद्यदुच्यते तत्तत्संभवतीति संभावयति—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं ।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥ ४१ ॥

अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम् ।
प्रलयं गतं च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितम् ॥४१॥

[**परोक्षभूतं**] परोक्ष[1]भूत पदार्थको [**ज्ञातुं**] जानना [**अशक्यं**] अशक्य है [**इति प्रज्ञप्तं**] ऐसा सर्वज्ञ देवने कहा है ।

टीका:—विषय और विषयीका सन्निपात[2] जिसका लक्षण है, ऐसे इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्ष[3] को प्राप्त करके, जो अनुक्रमसे उत्पन्न ईहादिकके क्रमसे जानते हैं वे उसे नहीं जान सकते जिसका अस्तित्व-बीत गया है, तथा जिसका अस्तित्व काल उपस्थित नहीं हुआ है क्योंकि (अतीत-अनागत पदार्थ और इन्द्रियके) यथोक्त लक्षण ग्राह्यग्राहक[4] सम्बन्धका असंभव है ।

भावार्थ:—इन्द्रियोंके साथ पदार्थका (विषयीके साथ विषयका) सन्निकर्ष-सम्बन्ध हो तभी (अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणारूप क्रमसे) इन्द्रिय ज्ञान पदार्थको जान सकता है । नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थों के साथ इन्द्रियोंका सन्निकर्ष-सम्बन्ध न होनेसे इन्द्रिय ज्ञान उन्हें नहीं जान सकता । इसलिये इन्द्रियज्ञान हीन है, हेय है ॥ ४० ॥

अब, यहाँ यह स्पष्ट करते हैं कि अतीन्द्रिय ज्ञानके लिये जो जो कहा जाता है वह (सब) संभव है:—

गाथा ४१

अन्वयार्थ:—[**अप्रदेशं**] जो अप्रदेशको [**सप्रदेशं**] सप्रदेशको [**मूर्तं**] मूर्तको [**अमूर्तं च**] और अमूर्तको तथा [**अजातं**] अनुत्पन्न [**च**] और [**प्रलयंगतं**] नष्ट [**पर्यायं**] पर्यायको [**जानाति**] जानता है [**तत् ज्ञानं**] वह ज्ञान [**अतीन्द्रियं**] अतीन्द्रिय [**भणितम्**] कहा गया है ।

१—परोक्ष=अक्षसे पर अर्थात् अक्षसे दूर होवे ऐसा; इन्द्रिय अगोचर । २—सन्निपात=मिलाप; संबंध होना । ३—सन्निकर्ष=सम्बन्ध, समीपता । ४—इन्द्रियगोचर पदार्थ ग्राह्य है, और इन्द्रियाँ ग्राहक हैं ।

इन्द्रियज्ञानं नाम उपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन् अन्तरङ्गस्वरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्तते। प्रवर्तमानं च सप्रदेशमेवाध्यवस्यतिस्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम्। मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिबन्धनसद्भावान्नामूर्तम्। वर्तमानमेव परिच्छिनत्ति विषयविषयिसन्निपातसद्भावान्न तु वृत्तं वर्त्स्यच्च। यत्तु पुनरनावरणमनिन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गितं दाह्यं दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ॥४१॥

अथ ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानान्न भवतीति श्रद्दधाति—

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥ ४२ ॥

टीका:—इन्द्रियज्ञान उपदेश, अन्तःकरण और इन्द्रिय इत्यादिको विरूपकारणता[1] से (ग्रहण करके) और उपलब्धि (क्षयोपशम), संस्कार इत्यादिको अंतरङ्ग स्वरूप-कारणतासे ग्रहण करके प्रवृत्त होता है; और वह प्रवृत्त होता हुआ सप्रदेशको ही जानता है, क्योंकि वह स्थूलको जाननेवाला है, अप्रदेशको नहीं जानता, (क्योंकि वह सूक्ष्मको जाननेवाला नहीं है); वह मूर्तको ही जानता है, क्योंकि वैसे (मूर्तिक) विषयके साथ उसका सम्बन्ध है, वह अमूर्तको नहीं जानता (क्योंकि अमूर्तिक विषयके साथ इन्द्रियज्ञानका सम्बन्ध नहीं है); वह वर्तमानको ही जानता है क्योंकि विषय- विषयीके सन्निपात सद्भाव है, वह प्रवर्तित हो चुकनेवालेको और भविष्यमें प्रवृत्त होने वालेको नहीं जानता (क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षका अभाव है)।

परन्तु जो अनावरण अनिन्द्रिय ज्ञान है, उसे अपने अप्रदेश, सप्रदेश, मूर्त और अमूर्त (पदार्थ मात्र) तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्यायमात्र, ज्ञेयताका अतिक्रमण न करनेसे, ज्ञेय ही है—जैसे प्रज्वलित अग्निको अनेक प्रकारका ईंधन, दाह्यताका अतिक्रमण न करनेसे दाह्य ही है। (जैसे प्रदीप्त अग्नि दाह्यमात्रको—ईंधनमात्रको—जला देती है, उसी प्रकार निरावरण ज्ञान ज्ञेयमात्रको—द्रव्यपर्यायमात्रको—जानता है) ॥ ४१ ॥

अब, यह श्रद्धा व्यक्त करते हैं कि ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थ-परिणमनस्वरूप) क्रिया ज्ञानमेंसे नहीं होती:—

गाथा ४२

अन्वयार्थः— **[ज्ञाता]** ज्ञाता **[यदि]** यदि **[ज्ञेयं अर्थं]** ज्ञेय पदार्थरूप **[परिणमति]** परिणमित होता हो तो **[तस्य]** उसके **[क्षायिकं ज्ञानं]** क्षायिक ज्ञान

१—विरूप=ज्ञानके स्वरूपसे भिन्न स्वरूप वाले। (उपदेश, मन और इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं इसलिये उनका रूप ज्ञानके स्वरूपसे भिन्न है। वे इंद्रियज्ञानमें बहिरंग कारण हैं।)

परिणमति ज्ञेयमर्थं ज्ञाता यदि नैव क्षायिकं तस्य ।
ज्ञानमिति तं जिनेन्द्राः क्षपयन्तं कर्मैवोक्तवन्तः ॥४२॥

परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षक्षयप्रवृत्तस्वाभाविकपरिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य । यतः प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभारसंभावनाकरणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जानः स जिनेन्द्रैरुद्गीतः ॥४२॥

अथ कुतस्तर्हि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया तत्फलं च भवतीति विवेचयति—

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया ।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥ ४३ ॥

उदयगताः कर्मांशा जिनवरवृषभैः नियत्या भणिताः ।
तेषु विमूढो रक्तो दुष्टो वा बन्धमनुभवति ॥ ४३ ॥

[न एव इति] होता ही नहीं; **[जिनेन्द्राः]** जिनेन्द्रदेवोंने **[तं]** उसे **[कर्म एव]** कर्म को ही **[क्षपयन्तं]** अनुभव करने वाला **[उक्तवन्तः]** कहा है ।

टीका:—यदि ज्ञाता ज्ञेय पदार्थरूप परिणमित होता हो, तो उसे सकल कर्मवनके क्षयसे प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपनका कारण (क्षायिक ज्ञान) नहीं है, अथवा उसे ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थरूपसे परिणतिके द्वारा मृगतृष्णामें जलसमूहकी कल्पना करनेकी भावनावाला वह (आत्मा) अत्यन्त दुःसह कर्मभारको ही भोगता है, ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है ।

भावार्थ:—ज्ञेय पदार्थरूपसे परिणमन करना अर्थात् यह हरा है, यह पीला है, इत्यादि विकल्परूपसे ज्ञेयरूप पदार्थोंमें परिणमन करना वह कर्मका भोगना है, ज्ञानका नहीं । निर्विकार सहज आनन्दमें लीन रहकर सहजरूपसे जानते रहना वह ही ज्ञानका स्वरूप है; ज्ञेय पदार्थों में रुकना—उनके सम्मुख वृत्ति होना, वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है ॥ ४२ ॥

(यदि ऐसा है) तो फिर ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप) क्रिया और उसका फल कहाँसे (किस कारणसे) उत्पन्न होता है, यह विवेचन करते हैं:—

गाथा ४३

अन्वयार्थः—**[उदयगताः कर्मांशाः]** (संसारी जीवके) उदयप्राप्त कर्मांश (ज्ञानावरणीय आदि पुद्गलकर्मके भेद) **[नियत्या]** नियमसे **[जिनवर वृषभैः]** जिनवर वृषभोंने **[भणिताः]** कहे हैं । **[तेषु]** (जीव) उन कर्मांशोंके होने पर, **[विमूढः रक्तः दुष्टः वा]** मोही, रागी अथवा द्वेषी होता हुआ **[बन्धं अनुभवति]** बन्धका अनुभव करता है ।

टीका:—प्रथम तो, संसारी जीवके नियमसे उदयगत पुद्गल कर्मांश होते ही हैं । और वह संसारी जीव उन उदयगत कर्मांशोंके अस्तित्वमें, चेतते-जानते-अनुभव करते हुए, मोह-राग-द्वेषमें परिणत

संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगताः पुद्गलकर्मांशाः सन्त्येव । अथ स सत्सु तेषु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते । तत एव च क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति । अतो मोहोदयात् क्रियाक्रियाफले न तु ज्ञानात् ॥४३॥

अथ केवलिनां क्रियापि क्रियाफलं न साधयतीत्यनुशास्ति—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥ ४४ ॥

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम् ।
अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥ ४४ ॥

होनेसे ज्ञेय पदार्थोंमें परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप) क्रियाके साथ युक्त होता है; और इसीलिये क्रियाके फलभूत बन्धका अनुभव करता है। इससे (यह कहा है कि) मोहके उदयसे ही (मोहके उदयमें युक्त होनेके कारणसे ही) क्रिया और क्रियाफल होता है, ज्ञानसे नहीं।

भावार्थ:—समस्त संसारी जीवोंके कर्मका उदय है, परन्तु वह उदय बन्धका कारण नहीं है। यदि कर्मनिमित्तक इष्ट-अनिष्ट भावोंमें जीव रागी-द्वेषी-मोही होकर परिणमन करे तो बन्ध होता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान, उदयप्राप्त पौद्गलिक कर्म या कर्मोदयसे उत्पन्न देहादिकी क्रियाएँ बन्धका कारण नहीं हैं, बन्धके कारण मात्र राग-द्वेष-मोहभाव हैं। इसलिये वे भाव सर्व प्रकारसे त्यागने योग्य हैं ॥ ४३ ॥

अब, यह उपदेशते हैं कि केवली भगवानके क्रिया भी क्रियाफल (बन्ध) उत्पन्न नहीं करती:—

गाथा ४४

अन्वयार्थः—[**तेषाम् अर्हतां**] उन अरहन्त भगवन्तोंके [**काले**] उस समय [**स्थाननिषद्याविहाराः**] खड़े रहना, बैठना, विहार [**धर्मोपदेशः च**] और धर्मोपदेश [**स्त्रीणां मायाचारः इव**] स्त्रियोंके मायाचारकी भाँति [**नियतयः**] स्वाभाविक ही—प्रयत्न बिना ही—होता है।

टीका:—जैसे स्त्रियोंके, प्रयत्नके बिना भी, उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे स्वभावभूत ही मायाके ढक्कनसे ढँका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है, उसी प्रकार केवलीभगवानके, बिना ही प्रयत्नके उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मदेशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते हैं। और यह (प्रयत्नके बिना ही विहारादिका होना) बादलके दृष्टान्तसे अविरुद्ध है। जैसे बादलके आकाररूप परिणमित पुद्गलोंका गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुष-प्रयत्नके बिना भी देखी जाती है, उसी प्रकार केवलीभगवानके खड़े रहना इत्यादि अबुद्धिपूर्वक ही (इच्छाके बिना ही) देखा जाता है। इसलिये यह स्थानादिक (खड़े रहने-बैठने इत्यादिका व्यापार) मोहोदय पूर्वक न होनेसे, क्रियाविशेष होने पर भी केवली भगवानके क्रियाफलभूत बन्धके साधन नहीं होते।

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोप-गुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते, तथा हि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते । अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधर-दृष्टान्तात् । यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुष-प्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते, अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनां क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति ॥ ४४ ॥

अथैवं सति तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयति—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥ ४५ ॥

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषां क्रिया पुनर्हि औदयिकी ।
मोहादिभिः विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥४५॥

भावार्थः—केवली भगवानके स्थान, आसन और विहार, यह काययोग सम्बन्धी क्रियाएँ तथा दिव्य ध्वनिसे निश्चय-व्यवहार स्वरूप धर्मका उपदेश-वचनयोग सम्बन्धी क्रिया—अघातिकर्मके-निमित्तसे सहजही होती है। उसमें केवली भगवानकी किंचित् मात्र इच्छा नहीं होती, क्योंकि जहां मोहनीय कर्म-का सर्वथा क्षय होगया है वहां उसकी कार्यभूत इच्छा कहांसे होगी ? इस प्रकार इच्छाके विनाही—मोह-रागद्वेषके विना ही—होनेसे केवली भगवानके लिये वे क्रियाऐं बन्धका कारण नहीं होतीं ॥४४॥

इस प्रकार होनेसे तीर्थकरोंके पुण्यका विपाक अकिंचित्कर है (कुछ करता नहीं है, स्वभावका किंचित् घात करता नहीं है) ऐसा अब निश्चित् करते हैं:—

गाथा ४५

अन्वयार्थः—[**अर्हन्तः**] अरहन्त भगवान [**पुण्यफलाः**] पुण्यफलवाले हैं [**पुनः हि**] और [**तेषां क्रिया**] उनकी क्रिया [**औदयिकी**] औदयिकी है; [**मोहादिभिः विरहिता**] मोहादिसे रहित है [**तस्मात्**] इसलिये [**सा**] वह [**क्षायिकी**] क्षायिकी [**इति मता**] मानी गई है ।

टीकाः—अरहन्त भगवान जिनके वास्तवमें पुण्यरूपी कल्पवृक्षके समस्त फल भलीभांति परि-पक्व हुए हैं ऐसे ही हैं, और उनकी जो भी क्रिया है वह सब उस (पुण्य) के उदयके प्रभावसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिकी ही है। किन्तु ऐसी होने पर भी वह सदा औदयिकी क्रिया महामोह राजाकी समस्त सेनाके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होती है इसलिये मोहरागद्वेषरूपी [1]उपरंजकोंका अभाव होनेसे

1—उपरंजकों=उपराग-मलिनता करनेवाले (विकारी भाव)।

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति। क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मसंभूतितया किलौदयिक्येव। अथैवंभूतापि सा समस्तमहामोहमूर्धाभिषिक्तस्कंधावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत। अथानुमन्येत चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय ॥४५॥

अथ केवलिनामिव सर्वेषामपि स्वभावविघाताभावं निषेधयति—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥ ४६ ॥

चैतन्यके विकारका कारण नहीं होती इसलिये कार्यभूत बन्धकी अकारणभूततासे और कार्यभूत मोक्षकी कारणभूततासे क्षायिकी ही क्यों न माननी चाहिये? (अवश्य माननी चाहिये) और जब क्षायिकी ही माने तब कर्मविपाक (कर्मोदय) भी उनके (अरहन्तोंके) स्वभाव विघातका कारण नहीं होता; (यह निश्चित होता है)।

भावार्थ:—अरहन्त भगवानके जो दिव्य ध्वनि, विहार आदि क्रियाऐं हैं वे निष्क्रिय शुद्ध आत्मतत्त्वके प्रदेशपरिस्पंदमें निमित्तभूत पूर्वबद्ध कर्मोदयसे उत्पन्न होती हैं इसलिये औदयिकी हैं। वे क्रियाऐं अरहन्त भगवानके चैतन्यविकाररूप भावकर्म उत्पन्न नहीं करतीं, क्योंकि (उनके) निर्मोह शुद्ध आत्मतत्त्वके रागद्वेषमोहरूप विकारमें निमित्तभूत मोहनीयकर्मका क्षय हो चुका है। और वे क्रियाऐं उन्हें, रागद्वेष मोहका अभाव होजानेसे नवीन बन्धमें कारणरूप नहीं होती, प्रत्युत वे पूर्वकर्मों के क्षयमें कारणरूप हैं, क्योंकि जिनकर्मों के उदयसे वे क्रियाऐं होती हैं वे कर्म अपना रस देकर खिर जाते हैं। इसप्रकार मोहनीयकर्मके क्षय से उत्पन्न होनेसे और कर्मोंके क्षय में कारणभूत होनेसे अरहंतभगवानकी वह औदयिकी क्रिया क्षायिकी कहलाती है ॥ ४५ ॥

अब, केवलीभगवानकी भाँति समस्त जीवोंके स्वभावविघातका अभाव होनेका निषेध करते हैं:—

गाथा ४६

अन्वयार्थः—**[यदि]** यदि (यह माना जाये कि) **[सः आत्मा]** आत्मा **[स्वयं]** स्वयं **[स्वभावेन]** स्वभावसे (अपने भावसे) **[शुभः वा अशुभः]** शुभ या अशुभ **[न भवति]** नहीं होता (शुभाशुभ भावमें परिणमित ही नहीं होता) **[सर्वेषांजीवकायानां]** तो समस्त जीव निकायोंके **[संसारः अपि]** संसार भी **[न विद्यते]** विद्यमान नहीं है (ऐसा सिद्ध होगा)।

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वयं स्वभावेन।
संसारोऽपि न विद्यते सर्वेषां जीवकायानाम् ॥ ४६ ॥

यदि खल्वेकान्तेन शुभाशुभभावस्वभावेन स्वयमात्मा न परिणमते तदा सर्वदैव सर्वथा निर्विघातेन शुद्धस्वभावेनैवावतिष्ठते। तथा च सर्व एव भूतग्रामाः समस्तबन्धसाधनशून्यत्वादाजवंजवाभावस्वभावतो नित्यमुक्ततां प्रतिपद्येरन्। तच्च नाभ्युपगम्यते। आत्मनः परिणामधर्मत्वेन स्फटिकस्य जपातापिच्छरागस्वभावत्ववत् शुभाशुभस्वभावत्वद्योतनात् ॥ ४६ ॥

अथ पुनरपि प्रकृतमनुसृत्यातीन्द्रियज्ञानं सर्वज्ञत्वेनाभिनन्दति—

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥ ४७ ॥

टीका:—यदि एकान्तसे (यह माना जाये कि) शुभाशुभभावरूप स्वभावमें (-अपने भावमें) आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता, तो यह सिद्ध हुआ कि (वह) सदा ही सर्वथा निर्विघात शुद्ध स्वभावमें ही अवस्थित है। और इसप्रकार समस्त जीवसमूह समस्त बन्धकारणोंसे रहित सिद्ध होनेसे संसार-अभावरूप स्वभावके कारण नित्यमुक्तताको प्राप्त हो जायेंगे (नित्यमुक्त सिद्ध होवेंगे)! किन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि आत्मा परिणामधर्मवाला होनेसे, जैसे स्फटिकमणि, जवाकुसुम और तमालपुष्पके रंग-रूप स्वभावयुक्ततासे प्रकाशित होता है, उसीप्रकार उसे (आत्माके) शुभाशुभ स्वभावयुक्तता प्रकाशित होती है। (जैसे स्फटिकमणि लाल और काले फूलके निमित्तसे लाल और काले स्वभावमें परिणमित दिखाई देता है, उसीप्रकार आत्मा कर्मोपाधिके निमित्तसे शुभाशुभ स्वभावरूप परिणमित होता हुआ दिखाई देता है)।

भावार्थ:—जैसे शुद्धनयसे कोई जीव शुभाशुभ भावरूप परिणमित नहीं होता उसी प्रकार यदि अशुद्धनयसे भी परिणमित न होता हो तो व्यवहारनयसे भी समस्त जीवोंके संसारका अभाव होजाये और सभी जीव सदा मुक्त ही सिद्ध होजावें? किन्तु यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसलिये जैसे केवली-भगवानके शुभाशुभ परिणामोंका अभाव है उसीप्रकार सभी जीवोंके सर्वथा शुभाशुभ परिणामोंका अभाव नहीं समझना चाहिये ॥ ४६ ॥

अब, पुनः प्रकृत (चालू विषय) का अनुसरण करके अतीन्द्रिय ज्ञानको सर्वज्ञरूपसे अभिनन्दन करते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान सबका ज्ञाता है, इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं):—

गाथा ४७

अन्वयार्थ:—[यत्] जो [युगपद्] एकही साथ [समन्ततः] सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेशोंसे) [तात्कालिकं] तात्कालिक [इतरं] या अतात्कालिक, [विचित्रविषमं] विचित्र (अनेक प्रकारके) और विषम (मूर्त, अमूर्त आदि असमान जातिके) [सर्वं अर्थं] समस्त

यत्तात्कालिकमितरं जानाति युगपत्समन्ततः सर्वम् ।
अर्थं विचित्रविषमं तत् ज्ञानं क्षायिकं भणितम् ॥४७॥

तत्कालकलितवृत्तिकमतीतोदर्ककालकलितवृत्तिकं चाप्येकपद एव समन्ततोऽपि सकलमप्यर्थजातं पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणलक्ष्मीकटाक्षितानेकप्रकारव्यञ्जितवैचित्र्यमितरेतरविरोधधापितासमानजातीयत्वोद्दामितवैषम्यं क्षायिकं ज्ञानं किल जानीयात् । तस्य हि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानां क्षयोपशमावस्थावस्थितज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामत्यन्ताभावात्तात्कालिकमतात्कालिकं वाप्यर्थजातं तुल्यकालमेव प्रकाशेत । सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्तःप्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशेत । सर्वावरणक्षयादेशावरणक्षयोपशमस्यानवस्थानात्सर्वमपि प्रकाशेत। सर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयादसर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विलयनाद्विचित्रमपि प्रकाशेत ।

पदार्थोंको **[जानाति]** जानता है **[तत् ज्ञानं]** उस ज्ञानको **[क्षायिकं भणितम्]** क्षायिक कहा है ।

टीका:—क्षायिक ज्ञान वास्तवमें एक समयमें ही सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेशोंसे), वर्तमानमें वर्तते तथा भूत-भविष्यत कालमें वर्तते उन समस्त पदार्थोंको जानता है जिनमें पृथक्‌रूप* से वर्तते स्वलक्षण रूप लक्ष्मीसे आलोकित अनेक प्रकारोंके कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है और जिनमें परस्पर विरोधसे उत्पन्न होने वाली असमान जातीयताके कारण वैषम्य प्रगट हुआ है। (इसी बातको युक्तिपूर्वक समझाते हैं:—) क्रम प्रवृत्तिके हेतुभूत, क्षयोपशम अवस्थामें रहनेवाले ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलोंका उसके (क्षायिक ज्ञानके) अत्यन्त अभाव होनेसे वह तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थमात्रको समकालमें ही प्रकाशित करता है; (क्षायिक ज्ञान) सर्वतः विशुद्ध होनेके कारण प्रतिनियत प्रदेशोंकी विशुद्धि (सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जानेसे वह सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेशोंसे) भी प्रकाशित करता है; सर्व आवरणोंका क्षय होनेसे, देश आवरणका क्षयोपशम न रहनेसे वह सबको भी प्रकाशित करता है, सर्वप्रकार ज्ञानावरणके क्षयके कारण (सर्व प्रकारके पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मके क्षय होनेसे), असर्वप्रकारके ज्ञानावरणका क्षयोपशम (अमुक ही प्रकारके पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मोंका क्षयोपशम) विलयको प्राप्त होनेसे वह विचित्र (अनेक प्रकारके पदार्थों) को भी प्रकाशित करता है; असमानजातीय ज्ञानावरणके क्षयके कारण (असमानजातिके पदार्थोंको जानने वाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मोंके क्षयके कारण) समानजातीय ज्ञानावरणका क्षयोपशम (समानजातिके ही पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मोंका क्षयोपशम) नष्ट होजानेसे वह विषम (असमानजातिके पदार्थों) को भी प्रकाशित करता है । अथवा, अतिविस्तारसे पूरा पड़े (कुछ लाभ नहीं) ? जिसका अनिवार फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होनेसे क्षायिक ज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा सर्वको जानता है ।

*द्रव्योंके भिन्न भिन्न वर्तने वाले निज निज लक्षण उन द्रव्योंकी लक्ष्मी-सम्पत्ति-शोभा है ।

असमानजातीयज्ञानावरणक्षयात्समानजातीयज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विनाशनाद्विपममपि प्रकाशेत । अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ॥ ४७ ॥

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान् ।
ज्ञातुं तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा ॥ ४८ ॥

भावार्थः—क्रमपूर्वक जानना, नियत आत्मप्रदेशोंसे ही जानना, अमुकको ही जानना,—इत्यादि मर्यादायें मति,-श्रुतादि क्षायोपशमिक ज्ञानमें ही संभव हैं । क्षायिकज्ञानके अमर्यादित होनेसे एक ही साथ सर्व आत्मप्रदेशोंसे तीनों कालकी पर्यायोंके साथ सर्व पदार्थोंको उन पदार्थोंके अनेक प्रकारके और विरुद्ध जातिके होने पर भी जानता है, अर्थात् केवलज्ञान एक ही समयमें सर्व आत्मप्रदेशोंसे समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको जानता है ॥ ४७ ॥

अब, यह निश्चित करते हैं कि जो सबको नहीं जानता वह एकको भी नहीं जानता:—

गाथा ४८

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**युगपद्**] एकही साथ [**त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्**] त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (तीनों कालके और तीनोंलोकके) [**अर्थान्**] पदार्थोंको [**न विजानाति**] नहीं जानता, [**तस्य**] उसे [**सपर्ययं**] पर्याय सहित [**एकं द्रव्यं वा**] एक द्रव्य भी [**ज्ञातुं न शक्यं**] जानना शक्य नहीं है ।

टीकाः—इस विश्वमें एक आकाशद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असंख्य कालद्रव्य और अनन्त जीवद्रव्य तथा उनसे भी अनन्तगुने पुद्गल द्रव्य हैं, और उन्हींके प्रत्येकके अतीत, अनागत और वर्तमान ऐसे (तीन) प्रकारोंसे भेदवाली निरवधि [1]वृत्तिप्रवाहके भीतर पड़ने वाली अनन्त पर्यायें हैं । इसप्रकार यह समस्त (द्रव्यों और पर्यायोंका) समुदाय ज्ञेय है । उसीमें ही एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है । अब यहाँ जैसे समस्त दाह्यको दहकती हुई अग्नि समस्तदाह्यहेतुक (समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसा) समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार (स्वरूप) है, ऐसे अपने रूपमें (अग्निरूपमें) परिणमित होती है, वैसे ही समस्त ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञाता (आत्मा)

१—वृत्ति=वर्तन करना; उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य; अस्तित्व, परिणति ।

इह किलैकमाकाशद्रव्यमेकं धर्मद्रव्यमेकमधर्मद्रव्यमसंख्येयानि कालद्रव्याण्यनन्तानि जीवद्रव्याणि। ततोऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि। तथैषामेव प्रत्येकमतीतानागतानुभूयमानभेदभिन्ननिरवधिवृत्तिप्रवाहपरिपातिनोऽनन्ताः पर्यायाः। एवमेतत्समस्तमपि समुदितं ज्ञेयं, इहैवैकं किंचिज्जीवद्रव्यं ज्ञातृ। अथ यथा समस्तं दाह्यं दहन् दहनः समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं परिणमति, तथा समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति। एवं किल द्रव्यस्वभावः। यस्तु समस्तं ज्ञेयं न जानाति स समस्तं दाह्यमदहन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं दहन इव समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारमात्मानं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति। एवमेतदायाति यः सर्वं न जानाति स आत्मानं न जानाति॥ ४८॥

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—

- - - - - - - - - - - - - - - -

समस्तज्ञेयहेतुक समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार (स्वरूप) है ऐसे निजरूपसे—जो चेतनताके कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष है उस रूप—परिणमित होता है। इस प्रकार वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है। किन्तु जो समस्त ज्ञेयको नहीं जानता वह (आत्मा), जैसे समस्त दाह्यको न दहती हुई अग्नि समस्तदाह्यहेतुक समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार है ऐसे अपने रूपमें परिणमित नहीं होता उसी प्रकार, समस्तज्ञेयहेतुक समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे अपने रूपमें—स्वयं चेतनताके कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष होने पर भी—परिणमित नहीं होता, (अपनेको परिपूर्णतया अनुभव नहीं करता—नहीं जानता) इसप्रकार यह फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता वह अपनेको (आत्माको) नहीं जानता।

भावार्थ:—जो अग्नि काष्ठ, तृण, पत्ते इत्यादि समस्त दाह्यपदार्थोंको नहीं जलाता, उसका दहनस्वभाव (काष्ठादिक समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसा) समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित न होनेसे अपूर्णरूपसे परिणमित होता है—परिपूर्ण रूपसे परिणमित नहीं होता, इसलिये परिपूर्ण एक दहन जिसका स्वरूप है ऐसी वह अग्नि अपने रूप ही पूर्ण रीत्या परिणमित नहीं होती; उसी प्रकार यह आत्मा समस्त द्रव्य-पर्यायरूप समस्त ज्ञेयको नहीं जानता, उसका ज्ञान (समस्त ज्ञेय जिसका निमित्त है ऐसे) समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित न होनेसे अपूर्णरूपसे परिणमित होता है—परिपूर्ण रूपसे परिणमित नहीं होता, इसलिये परिपूर्ण एक ज्ञान जिसका स्वरूप है ऐसा वह आत्मा अपने रूप से ही पूर्णरीत्या परिणमित नहीं होता, अर्थात् निजको ही पूर्णरीत्या अनुभव नहीं करता—नहीं जानता। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि जो सबको नहीं जानता वह एकको—अपनेको (पूर्ण रीत्या) नहीं जानता॥४८॥

अब, यह निश्चित करते हैं कि एकको न जानने वाला सबको नहीं जानता:—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥
द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि ।
न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति ॥४९॥

आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव । ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम् । तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि । ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनाः । अथ यः सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनानन्तविशेषव्यापिप्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथं प्रतिभासमयमहासामान्यव्याप्यप्रतिभासमयानन्तविशेषनिबन्धनभूत-

---

गाथा ४९

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**अनन्तपर्यायं**] अनन्त पर्यायवाले [**एकं द्रव्यं**] एक द्रव्यको (आत्मद्रव्यको) [**अनन्तानि द्रव्यजातानि**] तथा अनन्त द्रव्यसमूहको [**युगपद्**] एक ही साथ [**न विजानाति**] नहीं जानता [**सः**] तो वह [**सर्वाणि**] सब (अनन्त द्रव्यसमूह) को [**कथं जानाति**] कैसे जान सकेगा ? (अर्थात् जो आत्मद्रव्यको नहीं जानता वह समस्त द्रव्यसमूहको नहीं जान सकता) ।

प्रकारान्तरसे अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**अनन्त पर्यायं**] अनन्त पर्यायवाले [**एकं द्रव्यं**] एक द्रव्यको (आत्मद्रव्यको) [**न विजानाति**] नहीं जानता [**सः**] तो वह [**युगपद्**] एक ही साथ [**सर्वाणि अनन्तानि द्रव्य जातानि**] सर्व अनन्त द्रव्यसमूहको [**कथं जानाति**] कैसे जान सकेगा ?

टीकाः—पहले तो आत्मा वास्तवमें स्वयं ज्ञानमय होनेसे ज्ञातृत्वके कारण ज्ञान ही है; और ज्ञान प्रत्येक आत्मामें वर्तता (रहता) हुआ प्रतिभासमय महासामान्य है । वह प्रतिभासमय अनन्तविशेषोंमें व्याप्त होने वाला है; और उन विशेषोंके (भेदोंके) निमित्त सर्व द्रव्यपर्याय हैं । अब जो पुरुष सर्व द्रव्यपर्याय जिनके निमित्त हैं ऐसे अनन्त विशेषोंमें व्याप्त होने वाले प्रतिभासमय महासामान्यरूप आत्माका स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता, वह प्रतिभासमय महासामान्यके द्वारा व्याप्य[1] जो प्रतिभासमय अनन्त विशेष हैं उनकी निमित्तभूत सर्व द्रव्य पर्यायोंको कैसे प्रत्यक्ष कर सकेगा ? (नहीं कर सकेगा) इससे यह फलित हुआ कि आत्माको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता ।

अब इससे यह निश्चित होता है कि सर्वके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान और आत्माके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान (होता है) और ऐसा होनेसे, आत्मा ज्ञानमयताके कारण स्वसंचेतक होनेसे, ज्ञाता और ज्ञेयका

---

१ ज्ञान सामान्य व्यापक है, और ज्ञान विशेष-भेद व्याप्य हैं । उन ज्ञान विशेषोंके निमित्त ज्ञेयभूत सर्व द्रव्य और पर्यायें हैं ।

द्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात् । एवमेतदायाति य आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानाति । अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवतिष्ठते । एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्यमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति । यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत् ॥४९॥

अथ क्रमकृतप्रवृत्त्या ज्ञानस्य सर्वगतत्वं न सिद्ध्यतीति निश्चिनोति—

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥ ५० ॥

उत्पद्यते यदि ज्ञानं क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिनः ।
तन्नैव भवति नित्यं न क्षायिकं नैव सर्वगतम् ॥ ५० ॥

वस्तुरूपसे अन्यत्व होनेपर भी प्रतिभास और प्रतिभास्यमानकर अपनी अवस्थामें अन्योन्य मिलन होनेके कारण (ज्ञान और ज्ञेय, आत्माकी—ज्ञानकी अवस्थामें परस्पर मिश्रित—एकमेक रूप होनेसे) उन्हें भिन्न करना अत्यन्त अशक्य है इसलिये, मानो सब कुछ आत्मामें प्रविष्ट होगया हो इसप्रकार प्रतिभासित होता है—ज्ञात होता है । (आत्मा ज्ञानमय है इसलिये वह अपनेको अनुभव करता है—जानता है; और अपनेको जाननेपर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते हैं मानों वे ज्ञानमें स्थित ही हों, क्योंकि ज्ञानकी अवस्थामेंसे ज्ञेयाकारोंको भिन्न करना अशक्य है) यदि ऐसा न हो तो (यदि आत्मा सबको न जानता हो तो) ज्ञानके परिपूर्ण आत्मसंचेतनका अभाव होनेसे परिपूर्ण एक आत्माका भी ज्ञान सिद्ध न हो ।

भावार्थः—४८ और ४९ वीं गाथामें यह बताया गया है कि जो सबको नहीं जानता वह अपनेको नहीं जानता, और जो अपनेको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता । अपना ज्ञान और सबका ज्ञान एक साथ ही होता है । स्वयं और सर्व इन दोमेंसे एकका ज्ञान हो और दूसरेका न हो यह असम्भव है ।

यह कथन एकदेश ज्ञानकी अपेक्षासे नहीं किन्तु पूर्णज्ञानकी (केवलज्ञानकी) अपेक्षासे है ॥४९॥

अब यह निश्चित करते हैं कि क्रमशः प्रवर्तमान ज्ञानकी सर्वगतता सिद्ध नहीं होतीः—

गाथा ५०

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**ज्ञानिनः ज्ञानं**] आत्माका ज्ञान [**क्रमशः**] क्रमशः [**अर्थान् प्रतीत्य**] पदार्थोंका अवलंबन लेकर [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होता हो [**तत्**] तो वह (ज्ञान) [**न एव नित्यं भवति**] नित्य नहीं है, [**न क्षायिकं**] क्षायिक नहीं है, [**न एव सर्वगतम्**] और सर्वगत् नहीं है ।

टीका—जो ज्ञान क्रमशः एक एक पदार्थका अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है, वह एक पदार्थके

यत्किल क्रमेणैकैकमर्थमालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तदेकार्थालम्बनादुत्पन्नमन्यार्थालम्बनात् प्रलीयमानं नित्यमसत्तथा कर्मोदयादेकां व्यक्तिं प्रतिपन्नं पुनर्व्यक्त्यन्तरं प्रतिपद्यमानं क्षायिकमप्यसदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानाक्रान्तुमशक्तत्वात् सर्वगतं न स्यात् ॥ ५० ॥

अथ यौगपद्यप्रवृत्त्यैव ज्ञानस्य सर्वगतत्वं सिद्ध्यतीति व्यवतिष्ठते—

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थ संभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥ ५१ ॥

त्रैकाल्यनित्यविषमं सकलं सर्वत्र संभवं चित्रम् ।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम् ॥ ५१ ॥

क्षायिकं हि ज्ञानमतिशयास्पदीभूतपरममाहात्म्यं, यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णन्यायावस्थितसमस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वं प्रतिपन्नसमस्तव्यक्तित्वेनाभिव्यक्तस्वभावभासिक्षायिकभावं त्रैकाल्येन नित्यमेव विषमीकृतां सकलामपि सर्वार्थसंभूतिमनन्तजातिप्रापितवैचित्र्यां परिच्छिन्ददक्रमसमाक्रान्तानन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया प्रकटीकृताद्भुतमाहात्म्यं सर्वगतमेव स्यात् ॥ ५१ ॥

अवलम्बनसे उत्पन्न होकर दूसरे पदार्थके अवलम्बनसे नष्ट होजानेसे नित्य नहीं होता, तथा कर्मोदयके कारण एक व्यक्ति[1]को प्राप्त करके फिर अन्य व्यक्तिको प्राप्त करता है इसलिये क्षायिक भी न होता हुआ, वह अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको प्राप्त होने (जानने) में असमर्थ होनेके कारण सर्वगत नहीं है।

भावार्थ:—क्रमशः प्रवर्तमान ज्ञान अनित्य है, क्षायोपशमिक है। ऐसा क्रमिक ज्ञानवाला पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता ॥ ५० ॥

अब यह निश्चित होता है कि युगपत् प्रवृत्तिके द्वारा ही ज्ञानका सर्वगतत्व सिद्ध होता है (अक्रम से प्रवर्तमान ज्ञान ही सर्वगत हो सकता है):—

गाथा ५१

अन्वयार्थः—[**त्रैकाल्यनित्यविषमं**] तीनों कालमें सदा विषम [**सर्वत्र संभवं**] सर्व क्षेत्रके [**चित्रं**] अनेक प्रकारके [**सकलं**] समस्त पदार्थोंको [**जैनं**] जिनदेवका ज्ञान [**युगपत् जानाति**] एक साथ जानता है [**अहो हि**] अहो ! [**ज्ञानस्य माहात्म्यम्**] ज्ञानका माहात्म्य !

टीका:—वास्तवमें क्षायिक ज्ञानका, सर्वोत्कृष्टताका स्थानभूत परम माहात्म्य है; और जो ज्ञान एक साथही समस्त पदार्थोंका अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है वह ज्ञान—अपनेमें समस्त वस्तुओंके ज्ञेयाकार [2]टंकोत्कीर्ण-न्यायसे स्थित होनेसे जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है, और समस्त व्यक्तिको प्राप्त

१—व्यक्ति=प्रगटता; विशेष; भेद। २—टंकोत्कीर्ण न्याय=पत्थरमें टांकीसे उत्कीर्ण आकृतिकी भाँति।

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूतं बन्धं प्रतिषेधयन्नुपसंहरति—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥ ५२ ॥

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु ।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्तः ॥ ५२ ॥

इह खलु 'उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया । तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥' इत्यत्र सूत्रे उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमानः क्रियाफलभूतं बंधमनुभवति, न तु

कर लेनेसे जिसने स्वभाव प्रकाशक क्षायिकभाव प्रगट किया है, ऐसा-त्रिकालमें सदा विषम रहने वाले (असमान जातिरूपसे परिणमित होने वाले) और अनन्त प्रकारोंके कारण विचित्रताको प्राप्त सम्पूर्ण-सर्व पदार्थोंके समूहको जानता हुआ, अक्रमसे अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको प्राप्त होनेसे जिसने अद्भुत माहात्म्य प्रगट किया है ऐसा सर्वगत ही है।

भावार्थः—अक्रमसे प्रवर्तमान ज्ञान एक ज्ञेयसे दूसरेके प्रति नहीं बदलता इसलिए नित्य है, अपनी समस्त शक्तियोंके प्रगट हो जानेसे क्षायिक है । ऐसे अक्रमिक ज्ञानवाला पुरुषही सर्वज्ञ हो सकता है । सर्वज्ञके इस ज्ञानका कोई परम अद्भुत माहात्म्य है ॥५१॥

अब, ज्ञानीके (केवलज्ञानी आत्माके) ज्ञप्तिक्रियाका सद्भाव होने पर भी उसके क्रियाके फलरूप बन्धका निषेध करते हुए उपसंहार करते हैं (केवलज्ञानी आत्माके जाननेकी क्रिया होने पर भी बन्ध नहीं होता, यह कहकर ज्ञान अधिकार पूर्ण करते हैं):—

गाथा ५२

अन्वयार्थः—[**आत्मा**] (केवलज्ञानी) आत्मा [**तान् जानन् अपि**] पदार्थोंको जानता हुआ भी [**न अपि परिणमति**] उसरूप परिणमित नहीं होता, [**न गृह्णाति**] उन्हें ग्रहण नहीं करता [**तेषु अर्थेषु न एव उत्पद्यते**] और उन पदार्थोंके रूपमें उत्पन्न नहीं होता [**तेन**] इसलिये [**अबन्धकः प्रज्ञप्तः**] उसे अबन्धक कहा है ।

टीकाः—यहाँ 'उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया । तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि[1] ॥' इस गाथा सूत्रमें, 'उदयगत पुद्गल कर्मांशोंके अस्तित्वमें चेतित होनेपर—जाननेपर—अनुभव करने पर मोह-राग-द्वेषमें परिणत होनेसे ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप क्रियाके साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रियाफलभूत बन्धका अनुभव करता है, किन्तु ज्ञानसे नहीं' इस प्रकार प्रथम ही अर्थपरिणमन-क्रियाके फलरूपसे बन्धका समर्थन किया गया है (बन्ध पदार्थ रूपमें परिणमनरूप क्रियाका फल है

१—ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापनकी ४३ वीं गाथा ।

ज्ञानादिति प्रथममेवार्थपरिणमनक्रियाफलत्वेन बन्धस्य समर्थितत्वात् । तथा 'गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि ण परं परिणमदि केवली भगवं । पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥' इत्यर्थपरिणमनादिक्रियाणामभावस्य शुद्धात्मनो निरूपितत्वाच्चार्थानपरिणमतोऽगृह्णतस्तेष्वनुत्पद्यमानस्य चात्मनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि न खलु क्रियाफलभूतो बन्धः सिद्ध्येत् ॥ ५२ ॥

❀ स्रग्धरा छन्द ❀

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा ।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥४॥

इति ज्ञानाधिकारः ॥

यह निश्चित किया गया है) तथा 'गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि ण परं परिणमदि केवली भगवं । पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं'[1] ॥'

इस गाथा सूत्रमें शुद्धात्माके अर्थ परिणमनादि क्रियाओंका अभाव निरूपित किया गया है, इसलिये जो (आत्मा) पदार्थरूपमें परिणमित नहीं होता उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता उस आत्माके ज्ञप्तिक्रियाका सद्भाव होनेपर भी वास्तवमें क्रियाफलभूत बन्ध सिद्ध नहीं होता ।

भावार्थः—कर्मके तीन भेद किये गये हैं—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य । केवली भगवानके प्राप्य कर्म, विकार्य कर्म और निर्वर्त्य कर्म ज्ञान ही है, क्योंकि वे ज्ञानको ही ग्रहण करते हैं, ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं और ज्ञानरूप ही उत्पन्न होते हैं, इसप्रकार ज्ञान ही उनका कर्म, और ज्ञप्ति ही उनकी क्रिया है । ऐसा होनेसे केवली भगवानके बन्ध नहीं होता, क्योंकि ज्ञप्तिक्रिया बन्धका कारण नहीं है, किन्तु ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंके सन्मुख वृत्ति होना (ज्ञेय पदार्थोंके प्रति परिणमित होना) वह बन्धका कारण है ॥ ५२ ॥

अब, श्लोक द्वारा पूर्वोक्त आशयको काव्यद्वारा कहकर, केवलज्ञानी आत्माकी महिमा बताकर, यह ज्ञान अधिकार पूर्ण किया जाता है ।)

अर्थः—जिसने कर्मोंको छेद डाला है ऐसा यह आत्मा भूत, भविष्यत और वर्तमान समस्त विश्वको (तीनों कालकी पर्यायोंसे युक्त समस्त पदार्थोंको) एक ही साथ जानता हुआ भी मोहके अभावके कारण पररूप परिणमित नहीं होता, इसलिये अब, जिसके (समस्त) ज्ञेयाकारोंको अत्यन्त विकसित ज्ञप्तिके विस्तारसे स्वयं पी गया है ऐसे तीनोंलोकके पदार्थोंको पृथक और अपृथक प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है ।

इसप्रकार ज्ञान-अधिकार समाप्त हुआ ।

१—ज्ञानतत्त्व—प्रज्ञापनकी ३२ वीं गाथा ।

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति–

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥ ५३ ॥

अस्त्यमूर्तं मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रियं चार्थेषु।
ज्ञानं च तथा सौख्यं यत्तेषु परं च तत् ज्ञेयम् ॥ ५३॥

अत्र ज्ञानं सौख्यं च मूर्तमिन्द्रियजं चैकमस्ति। इतरदमूर्तमतीन्द्रियं चास्ति। तत्र यदमूर्तमतीन्द्रियं च तत्प्रधानत्वादुपादेयत्वेन ज्ञातव्यम्। तत्राद्यं मूर्ताभिः क्षायोपशमिकीभिरुपयोगशक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्यः समुत्पद्यमानं परायत्तत्वात् कादाचित्कत्वं, क्रमकृतप्रवृत्ति

अब, ज्ञानसे अभिन्न सुखका स्वरूप विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए ज्ञान और सुखकी हेयोपादेयताका विचार करते हैं:—

गाथा ५३

अन्वयार्थः—[अर्थेषु ज्ञानं] पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान **[अमूर्तं मूर्तं]** अमूर्त या मूर्त, **[अतीन्द्रियं ऐन्द्रियं च अस्ति]** अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय होता है; **[च तथा सौख्यं]** और इसी प्रकार (अमूर्त या मूर्त, अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय) सुख होता है। **[तेषु च यत् परं]** उसमें जो प्रधान–उत्कृष्ट है **[तत् ज्ञेयं]** वह (उपादेयरूप) जानना।

टीका:—यहां, (ज्ञान तथा सुख दो प्रकारका है-) एक ज्ञान तथा सुख मूर्त और इन्द्रियज है; और दूसरा (ज्ञान तथा सुख) अमूर्त और अतीन्द्रिय है। उसमें जो अमूर्त और अतीन्द्रिय है वह प्रधान होनेसे उपादेयरूप जानना।

वहाँ पहला ज्ञान तथा सुख मूर्तरूप क्षायोपशमिक उपयोगशक्तियोंसे उस–उस प्रकारकी इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न होता हुआ पराधीन होनेसे कादाचित्क[1], क्रमशः प्रवृत्त[2] होनेवाला, सप्रतिपक्ष[3] और हानिवृद्धियुक्त है, इसलिये गौण है, यह समझकर वह हेय है; और दूसरा ज्ञान तथा सुख अमूर्तरूप चैतन्यानुविधायी[4] एकाकी आत्मपरिणामशक्तियोंसे तथाविध अतीन्द्रिय, स्वाभाविक- चिदाकारपरिणामोंके द्वारा उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त आत्माधीन होनेसे नित्य युगपत् प्रवर्तमान निःप्रतिपक्ष और हानिवृद्धिसे रहित है, इसलिये मुख्य है, यह समझकर वह (ज्ञान और सुख) उपादेय है ॥ ५३ ॥

१—कादाचित्क=कदाचित्–कभी कभी होनेवाला; अनित्य। २—मूर्तिक इन्द्रियज ज्ञान क्रमसे प्रवृत्त होता है, युगपत् नहीं होता; तथा मूर्तिक इन्द्रियज सुख भी क्रमशः होता है, एक ही साथ सर्व इन्द्रियोंके द्वारा या सर्व प्रकारसे नहीं होता। ३—सप्रतिपक्ष=प्रतिपक्ष—विरोधी सहित। (मूर्त इन्द्रियज ज्ञान अपने प्रतिपक्ष-अज्ञान सहित ही होता है, और मूर्त इन्द्रियज सुख उसके प्रतिपक्षभूत दुःख सहित ही होता है। ४—चैतन्यानुविधायी=चैतन्यके अनुसार वर्तनेवाली; चैतन्यके अनुकूल रूपसे–विरुद्धरूपसे नहीं वर्तने वाली।

सप्रतिपत्तं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्यं च हेयम्। इतरत्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानुविधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणामशक्तिभिस्तथाविधेभ्योऽतीन्द्रियेभ्यः स्वाभाविकचिदाकारपरिणामेभ्यः समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्यं, युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्यं चोपादेयम् ॥ ५३ ॥

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति—

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥ ५४ ॥

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम्।
सकलं स्वकं च इतरत् तद्ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम् ॥५४॥

अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियं यत्प्रच्छन्नं च तत्सकलं स्वपरविकल्पान्तःपाति प्रेक्षत एव। तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु द्रव्यप्रच्छन्नेषु

अब, अतीन्द्रिय सुखका साधनभूत अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है, इसप्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं:—

गाथा ५४

अन्वयार्थः—[प्रेक्षमाणस्य यत्] देखनेवालेका जो ज्ञान **[अमूर्तं]** अमूर्तको, **[मूर्तेषु]** मूर्त पदार्थोंमें भी **[अतीन्द्रियं]** अतीन्द्रियको, **[च प्रच्छन्नं]** और प्रच्छन्नको, **[सकलं]** इन सबको **[स्वकं च इतरत्]** स्व तथा परको-देखता है **[तत् ज्ञानं]** वह ज्ञान **[प्रत्यक्षं भवति]** प्रत्यक्ष है।

टीका:—जो अमूर्त है, जो मूर्त पदार्थोंमें भी अतीन्द्रिय है, और जो प्रच्छन्न (ढका हुआ) है, उस सबको—जो कि स्व और पर इन दो भेदोंमें समा जाता है उसे—अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है। अमूर्त-धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय इत्यादि, और मूर्त पदार्थोंमें भी अतीन्द्रिय परमाणु इत्यादि तथा द्रव्यमें प्रच्छन्न काल इत्यादि (द्रव्य अपेक्षासे गुप्त ऐसे जो काल धर्मास्तिकाय वगैरह), क्षेत्रमें प्रच्छन्न अलोकाकाशके प्रदेश इत्यादि, कालमें प्रच्छन्न असाम्प्रतिक (अतीत-अनागत) पर्यायें, तथा भाव-प्रच्छन्न स्थूल पर्यायोंमें अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें हैं, उन सबका जो कि स्व और परके भेदसे विभक्त हैं उनका—वास्तवमें उस अतीन्द्रिय ज्ञानके दृष्टापन है, (उन सबको वह अतीन्द्रिय ज्ञान देखता है) क्योंकि वह (अतीन्द्रिय ज्ञान) प्रत्यक्ष है। जिसे अनन्त शुद्धिका सद्भाव प्रगट हुआ है, ऐसे चैतन्यसामान्यके साथ अनादिसिद्ध सम्बन्धवाले एक ही 'अक्ष'[1] नामक आत्माके प्रति जो नियत है (जो ज्ञान आत्माके साथ ही लगा हुआ है—आत्माके द्वारा सीधा प्रवृत्ति करता है), जो (इन्द्रियादिक) अन्य सामग्रीको नहीं ढूंढता,

१—अक्ष=आत्माका नाम 'अक्ष' भी है। (इन्द्रिय ज्ञान अक्ष=अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा जानता है; अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अक्ष अर्थात् आत्माके द्वारा ही जानता है।)

ालादिषु, क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसांप्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टृत्वं प्रत्यक्षत्वात्। प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसन्निधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धमेकमेवाक्षनामानमात्मानं प्रतिनियतमितरां सामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव दाह्याकाराणां ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत। अतस्तदुपादेयम् ॥ ५४ ॥

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥ ५५ ॥

जीवः स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तेन मूर्तम्।
अवगृह्य योग्यं जानाति वा तन्न जानाति ॥ ५५ ॥

और जो अनन्तशक्तिके सद्भावके कारण अनन्तताको प्राप्त है, ऐसे उस प्रत्यक्ष ज्ञानको जैसे दाह्याकार दहनका अतिक्रमण नहीं करते उसीप्रकार ज्ञेयाकार ज्ञानका अतिक्रम (उल्लंघन) न करनेसे यथोक्त प्रभावका अनुभव करते हुए (उपर्युक्त पदार्थोंको जानते हुए) कौन रोक सकता है? इसलिये वह अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है ॥ ५४ ॥

अब, इन्द्रियसुखका साधनभूत इन्द्रियज्ञान हेय है, इसप्रकार उसकी निन्दा करते हैं :—

गाथा ५५

अन्वयार्थः— [**स्वयं अमूर्तः**] स्वयं अमूर्त [**जीवः**] जीव [**मूर्तिगतः**] मूर्त शरीरको प्राप्त होता हुआ [**तेन मूर्तेन**] उस मूर्त शरीरके द्वारा [**योग्यं मूर्तं**] योग्य मूर्त पदार्थको [**अवगृह्य**] अवग्रह[1] करके (इन्द्रियग्रहण योग्य मूर्त पदार्थका अवग्रह करके) [**तत्**] उसे [**जानाति**] जानता है [**वा न जानाति**] अथवा नहीं जानता (कभी जानता है और कभी नहीं जानता)।

टीका:—इन्द्रियज्ञानको उपलम्भक[2] भी मूर्त है, और उपलभ्य[3] भी मूर्त है। वह इन्द्रियज्ञानवाला जीव स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त-पंचेन्द्रियात्मक शरीरको प्राप्त होता हुआ, ज्ञप्ति उत्पन्न करनेमें बल-धारणका निमित्त होनेसे जो उपलम्भक है ऐसे उस मूर्त (शरीर) के द्वारा मूर्त-स्पर्शादि प्रधान[4] वस्तुको

१—अवग्रह=मतिज्ञानसे किसी पदार्थको जाननेका प्रारम्भ होने पर पहले ही अवग्रह होता है क्योंकि मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणके क्रमसे जानता है। २—उपलम्भक=बतानेवाला; जाननेमें निमित्तभूत। (इन्द्रियज्ञानको पदार्थोंके जाननेमें निमित्तभूत मूर्त पंचेन्द्रियात्मक शरीर है)। ३—उपलभ्य=जनाने योग्य। ४—स्पर्शादि प्रधान=जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण मुख्य हैं, ऐसी।

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भकं मूर्तोपलभ्यं च तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पञ्चेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्तं स्पर्शादिप्रधानं वस्तूपलभ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तदसंभवान्नावगच्छति । परोक्षत्वात् । परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलितस्यानादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धस्याप्यात्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यन्तविसंष्ठुलत्वमवलम्बमानमनन्तायाः शक्तेः परिस्खलनान्नितान्तविक्लवीभूतं महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् परपरिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसंभावनामेव परमार्थतोऽर्हति । अतस्तद्धेयम् ॥ ५५ ॥

अथेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति—

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥ ५६ ॥

जो कि योग्य हो अर्थात् जो (इन्द्रियोंके द्वारा) उपलभ्य हो उसे-अवग्रह करके, कदाचित् उससे ऊपर ऊपरकी शुद्धिके सद्भावके कारण उसे जानता है और कदाचित् अवग्रहसे ऊपर ऊपरकी शुद्धिके असद्भाव के कारण नहीं जानता, क्यों कि वह (इन्द्रिय ज्ञान) परोक्ष है। परोक्षज्ञान, चैतन्यसामान्यके साथ (आत्मा का) अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी जो अति दृढ़तर अज्ञानरूप तमोग्रन्थि (अन्धकार-समूह) द्वारा आवृत हो गया है, ऐसा आत्मा पदार्थको स्वयं जाननेके लिये असमर्थ होनेसे उपात्त[1] और अनुपात्त[2] परपदार्थरूप सामग्रीको ढूंढ़नेकी व्यग्रतासे अत्यन्त चंचल-तरल-अस्थिर वर्तता हुआ, अनन्तशक्तिसे च्युत होनेसे अत्यन्त विक्लव (खिन्न) वर्तता हुआ, महामोह-मल्लके जीवित होनेसे पर परिणतिका (परको परिणमित करनेका) अभिप्राय करनेपर भी पद पद पर ठगाता हुआ, परमार्थतः अज्ञानमें गिनेजानेयोग्य है; इसलिये वह हेय है।

भावार्थः—इन्द्रियज्ञान इन्द्रियोंके निमित्तसे मूर्त स्थूल इन्द्रियगोचर पदार्थोंको ही क्षायोपशमिक ज्ञानके अनुसार जान सकता है। परोक्षभूत इन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय, प्रकाश, आदि बाह्य सामग्रीको ढूंढ़नेकी व्यग्रताके कारण अतिशय चंचल-क्षुब्ध है। अल्पशक्तिवान होनेसे खेद खिन्न है, परपदार्थोंको परिणमित करानेका अभिप्राय होने पर भी पद पद पर ठगा जाता है (क्योंकि पर पदार्थ आत्माके आधीन परिणमित नहीं होते) इसलिये परमार्थसे वह ज्ञान 'अज्ञान' नामके ही योग्य है। इसलिये वह हेय है ॥५५॥

अब, इन्द्रियां मात्र अपने विषयोंमें भी युगपत् प्रवृत्त नहीं होतीं इसलिये इन्द्रियज्ञान हेय ही है, यह निश्चय करते हैं:—

१—उपात्त=प्राप्त (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं) २—अनुपात्त=अप्राप्त (प्रकाश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं)।

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णः शब्दश्च पुद्गला भवन्ति ।
अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति ॥ ५६ ॥

इन्द्रियाणां हि स्पर्शरसगन्धवर्णप्रधानाः शब्दश्च ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः । अथेन्द्रियैर्युगपत्तेऽपि न गृह्यन्ते, तथाविधक्षयोपशमनशक्तेरसंभवात् । इन्द्रियाणां हि क्षयोपशमसंज्ञिकायाः परिच्छेत्र्याः शक्तेरन्तरङ्गायाः काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकतः प्रकाशयितुमसमर्थत्वात्सत्स्वपि द्रव्येन्द्रियद्वारेषु न यौगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोधः सिद्धयेत्, परोक्षत्वात् ॥ ५६ ॥

गाथा ५६

अन्वयार्थः—[स्पर्शः] स्पर्श **[रसः च]** रस **[गंधः]** गंध **[वर्णः]** वर्ण **[शब्दः च]** और शब्द **[पुद्गलाः]** पुद्गल हैं, वे **[अक्षाणां भवन्ति]** इन्द्रियोंके विषय हैं **[तानि अक्षाणि]** (परन्तु) वे इन्द्रियां **[तान्]** उन्हें (भी) **[युगपत्]** एक साथ **[न एव गृह्णन्ति]** ग्रहण नहीं करतीं नहीं जान सकतीं ।

टीका:—मुख्य है ऐसा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द जो कि पुद्गल हैं वे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य हैं । (किन्तु) इन्द्रियोंके द्वारा वे भी एक साथ ग्रहण नहीं होते, क्योंकि क्षयोपशमकी उसप्रकारकी शक्ति नहीं है । इन्द्रियोंके जो क्षयोपशम नामकी अन्तरंग ज्ञातृशक्ति है वह कौवेकी आँख की पुतलीकी भांति क्रमिक प्रवृत्तिवाली होनेसे अनेकतः प्रकाशके लिये (एक ही साथ अनेक विषयोंको जाननेके लिये) असमर्थ है, इसलिये द्रव्येन्द्रियद्वारोंके विद्यमान होने पर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयों का (विषयभूत पदार्थोंका) ज्ञान एक ही साथ नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है ।

भावार्थ:—कौवेकी दो आँखें होती हैं, किन्तु पुतली एक ही होती है । कौवेको जिस आँखसे देखना हो उस आँखमें पुतली आजाती है; उस समय वह दूसरी आँखसे नहीं देख सकता । ऐसा होने पर भी वह पुतली इतनी जल्दी दोनों आँखोंमें आती जाती है कि लोगोंको ऐसा मालुम होता है कि दोनों आँखोंमें दो भिन्न भिन्न पुतलियाँ हैं; किन्तु वास्तवमें वह एक ही होती है । ऐसी ही दशा क्षायोपशमिक ज्ञानकी है । द्रव्य-इन्द्रियरूपीद्वार तो पांच हैं, किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान एक समय एक इन्द्रिय द्वारा ही जाना जा सकता है; उस समय दूसरी इन्द्रियोंके द्वारा कार्य नहीं होता । जब क्षायोपशमिक ज्ञान नेत्रके द्वारा वर्णको देखनेका कार्य करता है तब वह शब्द, गंध, रस या स्पर्शको नहीं जान सकता; अर्थात् जब उस ज्ञानका उपयोग नेत्रके द्वारा वर्णके देखनेमें लगा होता है तब कानमें कौनसे शब्द पड़ते हैं या नाकमें कैसी गन्ध आती है, इत्यादि ख्याल नहीं रहता । यद्यपि ज्ञानका उपयोग एक विषयमेंसे दूसरेमें अत्यन्त शीघ्रतासे बदलता है, इसलिये स्थूलदृष्टिसे देखनेमें ऐसा लगता है कि मानों सभी विषय एक ही साथ ज्ञात होते हों, तथापि सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर क्षायोपशमिक ज्ञान एक समयमें एक ही इन्द्रियके द्वारा प्रवर्तमान होता हुआ स्पष्टतया भासित होता है । इसप्रकार इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें भी क्रमशः प्रवर्तमान होनेसे परोक्षभूत इन्द्रियज्ञान हेय है ॥ ५६ ॥

अथेन्द्रियज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥ ५७ ॥

परद्रव्यं तान्यक्षाणि नैव स्वभाव इत्यात्मनो भणितानि।
उपलब्धं तैः कथं प्रत्यक्षमात्मनो भवति ॥ ५७ ॥

आत्मानमेव केवलं प्रतिनियतं किल प्रत्यक्षं, इदं तु व्यतिरिक्तास्तित्वयोगितया परद्रव्यतामुपगतैरात्मनः स्वभावतां मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरुपलभ्योपजन्यमानं न नामात्मनः प्रत्यक्षं भवितुमर्हति ॥ ५७ ॥

अथ परोक्षप्रत्यक्षलक्षणमुपलक्षयति—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥ ५८ ॥

अब, यह निश्चय करते हैं कि इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है:—

गाथा ५७

अन्वयार्थः—[**तानि अक्षाणि**] वे इन्द्रियाँ [**परद्रव्यं**] पर द्रव्य हैं [**आत्मनः स्वभावः इति**] उन्हें आत्मस्वभावरूप [**न एव भणितानि**] नहीं कहा है [**तैः**] उनके द्वारा [**उपलब्धं**] ज्ञात [**आत्मनः**] आत्माका [**प्रत्यक्षं**] प्रत्यक्ष [**कथं भवति**] कैसे हो सकता है ?

टीका:—जो केवल आत्माके प्रति ही नियत हो वह (ज्ञान) वास्तवमें प्रत्यक्ष है। जो भिन्न अस्तित्व वाली होनेसे परद्रव्यत्वको प्राप्त हुई हैं, और आत्मस्वभावत्वको किंचित्मात्र स्पर्श नहीं करतीं (आत्मस्वभावरूप किंचित्मात्र भी नहीं हैं) ऐसी इन्द्रियोंके द्वारा वह (इन्द्रिय ज्ञान) उपलब्धि करके (ऐसी इन्द्रियोंके निमित्तसे पदार्थोंको जानकर) उत्पन्न होता है, इसलिये वह (इन्द्रियज्ञान) आत्माके लिये प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

भावार्थ:—जो सीधा आत्माके द्वारा ही जानता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्द्रियज्ञान परद्रव्यरूप इन्द्रियोंके द्वारा जानता है इसलिये वह प्रत्यक्ष नहीं है ॥ ५७ ॥

अब, परोक्ष और प्रत्यक्षके लक्षण बतलाते हैं:—

गाथा ५८

अन्वयार्थः—[**परतः**] परके द्वारा होने वाला [**यत्**] जो [**अर्थेषु विज्ञानं**] पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है [**तत् तु**] वह तो [**परोक्षं इति भणितं**] परोक्ष कहा गया है,

ीभूयाभिव्याप्य व्यवस्थितत्वात्समन्तम् अशेषद्वारापावरणेन, प्रसभं निपीतसमस्तवस्तुज्ञेयाकारं परमं वैश्वरूप्यमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादनन्तार्थविस्तृतम् समस्तार्थाबुभुत्सया, सकलशक्तिप्रतिबन्धककर्मसामान्यनिःक्रान्ततया परिस्पष्टप्रकाशभास्वरं स्वभावमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वाद्विमलम् सम्यगवबोधेन, युगपत्समर्पितत्रैसमयिकात्मस्वरूपं लोकालोकमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादवग्रहादिरहितम् क्रमकृतार्थग्रहणखेदाभावेन प्रत्यक्षं ज्ञानमनाकुलं भवति। ततस्तत्पारमार्थिकं खलु सौख्यम् ॥ ५९ ॥

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य संभवादैकान्तिकसुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे—

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥ ६० ॥

यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं परिणामश्च स चैव ।
खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षयं जातानि ॥ ६० ॥

होकर रहनेसे 'विमल है' इसलिये सम्यक्तया जानता है (और इसप्रकार संशयादि रहिततासे जाननेके कारण आकुलता नहीं होती); तथा (५) जिनने त्रिकालका अपना स्वरूप युगपत् समर्पित किया है (एक ही समय बताया है) ऐसे लोकालोकमें व्याप्त होकर रहनेसे 'अवग्रहादि रहित है' इसलिये क्रमशः होने वाले पदार्थ ग्रहणके खेदका अभाव है। इसप्रकार (उपरोक्त पांच कारणोंसे) प्रत्यक्षज्ञान अनाकुल है। इसलिये वास्तवमें वह पारमार्थिक सुख है।

भावार्थः—क्षायिकज्ञान-केवलज्ञान एकान्त सुखस्वरूप है ॥ ५९ ॥

अब, इस अभिप्रायका खंडन करते हैं कि 'केवलज्ञानको भी परिणामके द्वारा खेदका (सन्तापका) सम्भव है, इसलिये केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख नहीं है:—

गाथा ६०

अन्वयार्थः—[यत्] जो **[केवलं इति ज्ञानं]** 'केवल' नामका ज्ञान है **[तत्] [सौख्यं]** वह सुख है **[परिणामः च]** परिणाम भी **[सः च एव]** वही है **[तस्य खेदः न भणितः]** उसे खेद नहीं कहा है (केवलज्ञानमें सर्वज्ञदेवने खेद नहीं कहा) **[यस्मात्]** क्योंकि **[घातीनि]** घातिकर्म **[क्षयं जातानि]** क्षयको प्राप्त हुए हैं।

टीकाः—यहां (केवलज्ञानके सम्बन्धमें), खेद क्या, (२) परिणमन क्या तथा (३) केवलज्ञान और सुखका व्यतिरेक (भेद) क्या, कि जिससे केवलज्ञानको ऐकान्तिक सुखत्व न हो ?

(१) खेदके आयतन (स्थान) घातिकर्म हैं, केवल परिणमन मात्र नहीं। घातिकर्म महामोहके

अत्र को हि नाम खेदः कश्च परिणामः कश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेकः, यतः केवलस्यैकान्तिकसुखत्वं न स्यात्। खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवलं परिणाममात्रम्। घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिंस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते। तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः। यतश्च त्रिसमयावच्छिन्नसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूतं चित्रभित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः, ततः कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः। यतश्च समस्तस्वभावप्रतिघाताभावात्समुल्लसितनिरङ्कुशानन्तशक्तितया सकलं त्रैकालिकं लोकालोकाकारमभिव्याप्य कूटस्थत्वेनात्यन्तनिः-

उत्पादक होनेसे धतूरेकी भाँति अतत्‌में तत् बुद्धि* धारण करवाकर आत्माको ज्ञेयपदार्थके प्रति परिणमन कराते हैं; इसलिये वे घातिकर्म प्रत्येक पदार्थके प्रति परिणमित हो-होकर थकने वाले आत्माके लिये खेदके कारण होते हैं। उनका (घातिकर्मोंका) अभाव होनेसे केवलज्ञानमें खेद कहाँसे प्रगट होगा? (२) और तीनकाल रूप तीन भेद जिसमें किये जाते हैं ऐसे समस्त पदार्थोंकी ज्ञेयाकाररूप विविधताको प्रकाशित करनेका स्थानभूत केवलज्ञान चित्रित दीवारकी भांति, स्वयं ही अनन्त स्वरूप परिणमित होता है इसलिये केवलज्ञान ही परिणमन है। इसलिये अन्य परिणमन कहां है कि जिनसे खेदकी उत्पत्ति हो? (३) और, केवलज्ञान समस्त स्वभावप्रतिघातके[2] अभावके कारण निरंकुश अनन्त शक्तिके उल्लसित होनेसे समस्त त्रैकालिक लोकालोकके आकारमें व्याप्त होकर कूटस्थतया[3] अत्यंत निष्कंप है, इसलिये आत्मासे अभिन्न सुख-लक्षणभूत अनाकुलताको धारण करता हुआ केवलज्ञान ही सुख है, इसलिये केवलज्ञान और सुखका व्यतिरेक कहां है?

इससे, यह सर्वथा अनुमोदन करनेयोग्य है कि 'केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख है'।

भावार्थः—केवलज्ञानमें भी परिणमन होते रहते हैं, इसलिये वहां भी थकावट हो सकती है, और इसीलिये दुःख हो सकता है, अतः केवलज्ञान ऐकान्तिक सुखरूप कैसे कहा जा सकता है? इस शंकाका समाधान यहाँ किया गया है:—

(१) परिणमन मात्र थकावट या दुःखका कारण नहीं है, किन्तु घातिकर्मोंके निमित्तसे होने वाला परोन्मुख परिणमन थकावट या दुःखका कारण है। केवलज्ञानमें घातिकर्म अविद्यमान हैं इसलिये वहाँ थकावट या दुःख नहीं है। (२) केवलज्ञान स्वयं ही परिणमनशील है; परिणमन केवलज्ञानका स्वरूप ही है उपाधि नहीं। यदि परिणमनका नाश हो जाये तो केवलज्ञानका ही नाश हो जाये। इस प्रकार

*अतत्‌में तत्‌बुद्धि=वस्तु जिस स्वरूप न होय उस स्वरूप होनेकी मान्यता; जैसे कि—जड़में चेतनबुद्धि (अर्थात् जड़में चेतनकी मान्यता) दुःखमें सुखबुद्धि वगैरह। २—प्रतिघात=विघ्न; रुकावट; हनन; घात। ३—कूटस्थ=सदा एकरूप रहने वाला; अचल (केवलज्ञान सर्वथा अपरिणामी नहीं है, किन्तु वह एक ज्ञेयसे दूसरे ज्ञेयके प्रति नहीं बदलता—सर्वथा तीनों कालके समस्त ज्ञेयाकारोंको जानता रहता है, इसलिये उसे कूटस्थ कहा है)

कम्पं व्यवस्थितत्वादनाकुलतां सौख्यलक्षणभूतामात्मनोऽव्यतिरिक्तां बिभ्राणं केवलमेव सौख्यम्। ततः कुतः केवलसुखयोर्व्यतिरेकः। अतः सर्वथा केवलं सुखमैकान्तिकमनुमोदनीयम् ॥ ६० ॥

अथ पुनरपि केवलस्य सुखस्वरूपतां निरूपयन्नुपसंहरति—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥ ६१ ॥

ज्ञानमर्थान्तगतं लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टिः।
नष्टमनिष्टं सर्वमिष्टं पुनर्यत्तु तल्लब्धम् ॥ ६१ ॥

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम्। आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभावः तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभावः। ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम्। किंच केवलं सौख्यमेव, सर्वानिष्टप्रहाणात्। सर्वेष्टोपलम्भाच्च।

परिणमन केवलज्ञानका सहज स्वरूप है, इसलिये केवलज्ञानको परिणमनके द्वारा खेद नहीं हो सकता—नहीं होता। (३) केवलज्ञान समस्त त्रैकालिक लोकालोकके आकारको (समस्त पदार्थोंके त्रैकालिक ज्ञेयाकार समूह को सर्वदा अडोलरूपसे जानता हुआ अत्यंत निष्कंप,-स्थिर-अक्षुब्ध-अनाकुल है; और अनाकुल होनेसे सुखी है-सुखस्वरूप है, क्योंकि अनाकुलता सुख का ही लक्षण है। इस प्रकार केवलज्ञान और अक्षुब्धता-अनाकुलता भिन्न नहीं है इसलिये केवलज्ञान और सुख भिन्न नहीं है।

इसप्रकार १ घातिकर्मोंके अभावके कारण, २ परिणमन कोई उपाधि न होनेसे और ३ केवलज्ञान निष्कंप-स्थिर-अनाकुल होने से केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है ॥ ६० ॥

अब, पुनः 'केवलज्ञान सुखस्वरूप है' यह निरूपण करते हुये उपसंहार करते हैं:—

गाथा ६१

अन्वयार्थः—[**ज्ञानं**] ज्ञान [**अर्थान्तगतं**] पदार्थोंके पारको प्राप्त है, [**दृष्टिः**] और दर्शन [**लोकालोकेषु विस्तृताः**] लोकालोक में विस्तृत है; [**सर्वं अनिष्टं**] सर्व अनिष्ट [**नष्टं**] नष्ट हो चुका है, [**पुनः**] और [**यत् तु**] जो [**इष्टं**] इष्ट है [**तत्**] वह सब [**लब्धं**] प्राप्त हुआ है। (इसलिये केवलज्ञान सुखस्वरूप है)

टीका:—सुख का कारण स्वभावप्रतिघात का अभाव है। आत्मा का स्वभाव दर्शन-ज्ञान है; (केवलदशामें) उनके (दर्शन ज्ञानके) प्रतिघातका अभाव है क्योंकि दर्शन लोकालोकमें विस्तृत होनेसे और ज्ञान पदार्थोंके पारको प्राप्त होनेसे वे (दर्शन-ज्ञान) स्वच्छन्दता पूर्वक (स्वतंत्रता पूर्वक) विकसित हैं (इसप्रकार दर्शन-ज्ञानरूप स्वभावके प्रतिघातका अभाव है) इसलिये स्वभाव के प्रतिघात का अभाव जिसका कारण है ऐसा सुख अभेदविवक्षा से केवलज्ञान का स्वरूप है।

यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञानमखिलं प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायेत । ततः केवलमेव सौख्यमित्यलं प्रपञ्चेन ॥ ६१ ॥

अथ केवलिनामेव पारमार्थिकसुखमिति श्रद्धापयति—

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं ।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥ ६२ ॥

न श्रद्दधति सौख्यं सुखेषु परममिति विगतघातिनाम् ।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति ॥ ६२ ॥

इह खलु स्वभावप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशालिनां सुखाभासेऽप्यपारमार्थिकी सुखमिति रूढिः । केवलिनां तु भगवतां प्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघाताभावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयम् । न किलैवं येषां

(प्रकारान्तरसे केवलज्ञानको सुखस्वरूपता बतलाते हैं:—) और, केवलज्ञान सुख ही है क्योंकि सर्व अनिष्टोंका नाश हो चुका है और सम्पूर्ण इष्टकी प्राप्ति हो चुकी है । केवल अवस्थामें, सुखोपलब्धिके विपक्षभूत दुःखोंके साधनभूत अज्ञानका सम्पूर्णतया नाश होजाता है और सुखका साधनभूत परिपूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये केवल ही सुख है । प्रपञ्च (अधिक विस्तारसे) क्या पूरा पड़े ? ॥ ६१ ॥

अब, यह श्रद्धा कराते हैं कि केवलज्ञानियोंको ही पारमार्थिक सुख होता है:—

गाथा ६२

अन्वयार्थः—[**विगतघातिनां**] जिनके घातिकर्म नष्ट होगये हैं, उनका [**सौख्यं**] सुख [**सुखेषु परमं**] (सर्व) सुखोंमें उत्कृष्ट है [**इति श्रुत्वा**] यह सुनकर [**न श्रद्दधति**] जो श्रद्धा नहीं करते [**ते अभव्याः**] वे अभव्य हैं; [**भव्याः वा**] और भव्य [**तत्**] उसे [**प्रतीच्छन्ति**] स्वीकार (आदर) करते हैं—उसकी श्रद्धा करते हैं ।

टीका:—इस लोकमें मोहनीयआदिकर्मजालवालोंके स्वभाव प्रतिघातके कारण और आकुलता के कारण सुखाभास होने पर भी उस सुखाभासको 'सुख' कहनेकी अपारमार्थिक रूढ़ि है; और जिनके घातिकर्म नष्ट होचुके हैं ऐसे केवलीभगवानके, स्वभावप्रतिघातके अभावके कारण और अनाकुलताके कारण सुखके यथोक्त कारण[1] और लक्षणका[2] सद्भाव होनेसे पारमार्थिक सुख है—यह श्रद्धा करने योग्य है । जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है वे मोक्षसुखके सुधापानसे दूर रहनेवाले अभव्य मृगतृष्णाके जलसमूहको ही देखते (अनुभव करते) हैं । और जो उस वचनको इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते

१—सुखका कारण स्वभाव प्रतिघातका अभाव है । २—सुखका लक्षण अनाकुलता है ।

ज्ञानमस्ति ते खलु मोक्षसुखसुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भोभारमेवाभव्याः पश्यन्ति । ये पुनरिदमिदानीमेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजनं समासन्नभव्याः भवन्ति । ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते तु दूरभव्या इति ॥ ६२ ॥

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति—

मणुआसुरामरिंदा अहिदुदा इन्दियेहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ६३ ॥

मनुजासुरामरेन्द्राः अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः ।
असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ६३ ॥

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते । अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां तप्तायोगोलानामिवात्यन्तमुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु

हैं वे शिवश्री (मोक्षलक्ष्मी) के भाजन आसन्नभव्य हैं, और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूर भव्य हैं ।

भावार्थः—'केवलीभगवानके ही पारमार्थिक सुख है' यह वचन सुनकर जो कभी इसका स्वीकार–आदर–श्रद्धा नहीं करते वे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करते, वे अभव्य हैं । जो उपरोक्त वचन सुनकर अंतरंगसे उसकी श्रद्धा करते हैं वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं । जो वर्तमानमें श्रद्धा करते हैं वे आसन्न-भव्य हैं और जो भविष्यमें श्रद्धा करेंगे वे दूरभव्य हैं ॥ ६२ ॥

अब, परोक्षज्ञानवालोंके अपारमार्थिक इन्द्रियसुखका विचार करते हैं:—

गाथा ६३

अन्वयार्थः—[**मनुजासुरामरेन्द्राः**] मनुष्येंद्र (चक्रवर्ती) असुरेन्द्र और सुरेन्द्र [**सहजैः इन्द्रियैः**] स्वाभाविक (परोक्षज्ञानवालोंको जो स्वाभाविक है ऐसी) इन्द्रियोंसे [**अभिद्रुताः**] पीड़ित वर्तते हुए [**तद् दुःखं**] उस दुःखको [**असहमानाः**] सहन न कर सकनेसे [**रम्येषु विषयेषु**] रम्य विषयोंमें [**रमन्ते**] रमण करते हैं ।

टीकाः—प्रत्यक्षज्ञानके अभावके कारण परोक्षज्ञानका आश्रय लेने वाले इन प्राणियोंको उसकी (परोक्षज्ञानकी) सामग्रीरूप इन्द्रियोंके प्रति निजरससे (स्वभावसे) ही मैत्री प्रवर्तती है । उन इन्द्रियोंके प्रति मैत्रीको प्राप्त उन प्राणियोंको, उदयप्राप्त महामोहरूपी कालाग्निने ग्रास बना लिया है, इसलिये तप्त लोहेके गोलेकी भाँति (जैसे गरम किया हुआ लोहेका गोला पानीको शीघ्र ही सोख लेता है) अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न हुई है; उस दुःखके वेगको सहन न कर सकनेसे उन्हें व्याधिके प्रतिकारके समान

विषयेषु रतिरुपजायते । ततो व्याधिस्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां न छद्मस्थानां पारमार्थिकं सौख्यम् ॥ ६३ ॥

अथ यावदिन्द्रियाणि तावत्स्वभावादेव दुःखमेवं वितर्कयति—

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ ६४ ॥

येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम् ।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥६४॥

येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम् । किंतु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात् । अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श

(रोगमें थोड़ासा आराम जैसा अनुभव करानेवाले उपचारके समान) रम्य विषयोंमें रति उत्पन्न होती है । इसलिये इन्द्रियां व्याधि समान होनेसे और विषय व्याधिके प्रतिकार समान होनेसे छद्मस्थोंके पारमार्थिक सुख नहीं है ॥ ६३ ॥

अब, जहाँ तक इन्द्रियाँ हैं वहाँ तक स्वभावसे ही दुःख है, यह न्यायसे निश्चित करते हैं:—

गाथा ६४

अन्वयार्थः—[**येषां**] जिन्हें [**विषयेषु रतिः**] विषयोंमें रति है [**तेषां**] उन्हें [**दुःखं**] दुःख [**स्वाभावं**] स्वाभाविक [**विजानीहि**] जानो, [**हि**] क्योंकि [**यदि**] यदि [**तद्**] वह दुःख [**स्वभावं न**] स्वभाव न हो तो [**विषयार्थं**] विषयार्थमें [**व्यापारः**] व्यापार [**न अस्ति**] न हो ।

टीका:—जिनकी हत (निकृष्ट निंद्य) इन्द्रियां जीवित हैं, उन्हें उपाधिके कारण (बाह्य संयोगोंके कारण, औपाधिक) दुःख नहीं है, किन्तु स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनको विषयोंमें रति देखी जाती है । जैसे-हाथी हथिनीरूपी कुट्टनीके शरीरस्पर्शकी ओर, मछली वंसीमें फंसे हुए मांसके स्वादकी ओर, भ्रमर बन्द होजाने वाले कमलके गंधकी ओर, पतंगा दीपककी ज्योतिके रूपकी ओर और हिरन शिकारीके संगीतके स्वरकी ओर दौड़ते हुए दिखाई देते हैं उसी प्रकार दुर्निवार इन्द्रियवेदनाके वशीभूत होते हुए वे लोग वास्तवमें, जो कि विषयोंका नाश अति निकट है (अर्थात् विषय क्षणिक हैं) तो भी विषयोंकी ओर दौड़ते दिखाई देते हैं । और यदि 'उनका दुःख स्वाभाविक है' ऐसा स्वीकार न किया जाये तो जैसे-जिसका शीतज्वर उपशांत होगया है, वह पसीना आनेके लिये उपचार करना तथा जिसका दाहज्वर उतर गया है वह कांजीसे शरीरके तापको उतारना तथा जिसकी आंखोंका दुःख दूर होगया है वह वटाचूर्ण (शंख इत्यादिका चूर्ण) आंजना तथा जिसका कर्णशूल नष्ट होगया हो वह कानमें फिर बकरेका मूत्र डालना और जिसका घाव भर जाता है वह फिर लेप करना दिखाई

इव, सफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः। यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशांतशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णावचूर्णनमिव, विनष्टकर्णशूलस्य बस्तमूत्रपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपनदानमिव, विषयव्यापारो न दृश्येत। दृश्यते चासौ। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः ॥६४॥

अथ मुक्तात्मसुखप्रसिद्धये शरीरस्य सुखसाधनतां प्रतिहन्ति—

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो॥६५॥

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देहः॥ ६५ ॥

नहीं देता–इसीप्रकार उनके विषय व्यापार देखनेमें नहीं आना चाहिये; किन्तु उनके वह (विषयप्रवृत्ति) तो देखी जाती है। इससे (सिद्ध हुआ कि) जिनके इन्द्रियाँ जीवित हैं ऐसे परोक्षज्ञानियोंके दुःख स्वाभाविक ही है।

भावार्थः—परोक्षज्ञानियोंके स्वभावसे ही दुःख है क्योंकि उनके विषयोंमें रति वर्तती है। कभी कभी तो वे असह्य तृष्णाकी दाहसे (तीव्र इच्छारूपी दुःखके कारण) मरने तककी परवाह न करके क्षणिक इन्द्रियविषयोंमें कूद पड़ते हैं। यदि उन्हें स्वभावसे ही दुःख न हो तो विषयोंमें रति ही न होनी चाहिये। जिसके शरीरका दाह–दुःख नष्ट होगया हो वह बाह्य शीतोपचारमें रति क्यों करेगा? इससे सिद्ध हुआ कि परोक्षज्ञानियोंके दुःख स्वाभाविक ही है॥ ६४ ॥

अब, मुक्त आत्माके सुखकी प्रसिद्धिके लिये, शरीर सुखका साधन है, इसका खंडन करते हैं। (सिद्ध भगवानके शरीरके विना भी सुख होता है यह बात स्पष्ट समझानेके लिये, संसारावस्थामें भी शरीर सुखका इन्द्रियसुखका साधन नहीं है, यह निश्चित करते हैं):—

गाथा ६५

अन्वयार्थः—[**स्पर्शैः समाश्रितान्**] स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ जिनका आश्रय लेती हैं ऐसे [**इष्टान् विषयान्**] इष्ट विषयोंको [**प्राप्य**] पाकर [**स्वभावेन**] (अपने अशुद्ध) स्वभावसे [**परिणममानः**] परिणमन करता हुआ [**आत्मा**] आत्मा [**स्वयमेव**] स्वयं ही [**सुखं**] सुखरूप (इन्द्रियसुखरूप) होता है [**देहः न भवति**] देह सुखरूप नहीं होती।

अस्य खल्वात्मनः सशरीरावस्थायामपि न शरीरं सुखसाधनतामापद्यमानं पश्यामः, यतस्तदापि पीतोन्मत्तकरसैरिव प्रकृष्टमोहवशवर्तिभिरिन्द्रियैरिमेऽस्माकमिष्टा इति क्रमेण विषयानभिपतद्भिरसमीचीनवृत्तितामनुभवन्नुपरुद्धशक्तिसारेणापि ज्ञानदर्शनवीर्यात्मकेन निश्चयकारणतामुपागतेन स्वभावेन परिणममानः स्वयमेवायमात्मा सुखतामापद्यते। शरीरं त्वचेतनत्वादेव सुखत्वपरिणतेर्निश्चयकारणतामनुपगच्छन्न जातु सुखतामुपढौकत इति ॥ ६५ ॥

अथैतदेव दृढयति—

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६६॥

एकान्तेन हि देहः सुखं न देहिनः करोति स्वर्गे वा।
विषयवशेन तु सौख्यं दुःखं वा भवति स्वयमात्मा ॥६६॥

टीकाः—वास्तवमें इस आत्माके लिये सशरीर अवस्थामें भी शरीर सुखका साधन हो ऐसा नहीं दिखाई देता; क्योंकि तब भी, मानों उन्मादजनक मदिराका पान किया हो ऐसी, प्रबल मोहके वश वर्तने वाली, 'यह (विषय) हमें इष्ट है' इसप्रकार विषयोंकी ओर दौड़ती हुई इन्द्रियोंके द्वारा असमीचीन (अयोग्य) परिणतिका अनुभव करनेसे जिसकी[1] शक्तिकी उत्कृष्टता (परम शुद्धता) रुक गई है ऐसे भी (अपने) ज्ञान-दर्शन-वीर्यात्मक स्वभावमें जो कि (सुखके) निश्चय-कारणरूप है—परिणमन करता हुआ यह आत्मा स्वयमेव सुखत्वको प्राप्त करता है, (सुखरूप होता है;) और शरीर तो अचेतन ही है इसलिये सुखत्वपरिणतिका निश्चय कारण न होता हुआ किंचित् मात्र भी सुखत्वको प्राप्त नहीं करता।

भावार्थः—सशरीर अवस्थामें भी आत्मा ही सुखरूप (इन्द्रिय सुखरूप) परिणतिमें परिणमन करता है, शरीर नहीं; इसलिये सशरीर अवस्थामें भी सुखका निश्चय कारण आत्मा ही है, अर्थात् इन्द्रियसुखका भी वास्तविक कारण आत्माका ही अशुद्ध स्वभाव है। अशुद्ध स्वभावमें परिणमित आत्मा ही स्वयमेव इन्द्रियसुखरूप होता है। उसमें शरीर कारण नहीं है; क्योंकि सुखरूप परिणति और शरीर सर्वथा भिन्न है इसलिये सुख और शरीरमें निश्चयसे किंचितमात्रभी कार्य कारणता नहीं है ॥६५॥

अब, इसी बातको दृढ़ करते हैं:—

गाथा ६६

अन्वयार्थः—[एकान्तेन हि] एकांतसे अर्थात् नियमसे **[स्वर्गे वा]** स्वर्गमें भी **[देहः]** शरीर **[देहिनः]** शरीरी (आत्माको) **[सुखं न करोति]** सुख नहीं देता **[विषयवशेन तु]** परन्तु विषयोंके वशसे **[सौख्यं दुःखं वा]** सुख अथवा दुःखरूप **[स्वयं आत्मा भवति]** स्वयं आत्मा होता है।

१—इन्द्रियसुखरूप परिणमन करनेवाले आत्माकी ज्ञान, दर्शन, वीर्यात्मक स्वभावकी उत्कृष्ट शक्ति रुक गई है, अर्थात् स्वभाव अशुद्ध होगया है।

अयमत्र सिद्धांतो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीरं न खलु सुखाय कल्प्येतेतीष्टानामनिष्टानां वा विषयाणां वशेन सुखं वा दुःखं वा स्वयमेवात्मा स्यात् ॥ ६६ ॥

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्वं द्योतयति—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६७॥

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्तव्यम् ।
तथा सौख्यं स्वयमात्मा विषयाः किं तत्र कुर्वन्ति ॥ ६७ ॥

यथा हि केषांचिन्नक्तंचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपाकरणप्रवणेन प्रदीपप्रकाशादिना कार्यं, एवमस्यात्मनः संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः ॥ ६७ ॥

टीका:—यहाँ यह सिद्धांत है कि—भले ही दिव्य वैक्रियिकता प्राप्त हो तथापि 'शरीर सुख नहीं दे सकता' इसलिये, आत्मा स्वयं ही इष्ट अथवा अनिष्ट विषयोंके वशसे सुख अथवा दुःखरूप स्वयं ही होता है ।

भावार्थ:—शरीर सुख-दुःख नहीं देता । देवोंका उत्तम वैक्रियिक शरीर सुखका कारण नहीं है, और नारकियोंका शरीर दुःखका कारण नहीं है । आत्मा स्वयं ही इष्ट अनिष्ट विषयोंके वश होकर सुख-दुःखकी कल्पना रूपमें परिणमित होता है ॥ ६६ ॥

अब, आत्मा स्वयं ही सुखपरिणामकी शक्तिवाला है इसलिये विषयोंकी अकिंचित्करता बतलाते हैं:—

गाथा ६७

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**जनस्य दृष्टिः**] प्राणीकी दृष्टि [**तिमिरहरा**] तिमिर-नाशक हो तो [**दीपेन नास्ति कर्तव्यं**] दीपकसे कोई प्रयोजन नहीं है, अर्थात् दीपक कुछ नहीं कर सकता [**तथा**] इसी प्रकार (जहाँ) [**आत्मा**] आत्मा [**स्वयं**] स्वयं [**सौख्यं**] सुखरूप परिणमन करता है, [**तत्र**] वहाँ [**विषयाः**] विषय [**किं कुर्वन्ति**] क्या कर सकते हैं ? ।

टीका:—जैसे किन्हीं निशाचरोंके (उल्लू, बिल्ली इत्यादि) नेत्र स्वयमेव अन्धकारको नष्ट करनेकी शक्तिवाले होते हैं, इसलिये उन्हें अंधकार नाशक स्वभाववाले दीपक-प्रकाशादिसे कोई प्रयोजन नहीं होता, (उन्हें दीपक-प्रकाश कुछ नहीं करता,) इसी प्रकार—यद्यपि अज्ञानी 'विषय सुखके साधन हैं' ऐसी बुद्धिके द्वारा व्यर्थ ही विषयोंका अध्यास आश्रय करते हैं, तथापि—संसारमें या मुक्तिमें स्वयमेव सुखरूप परिणमित इस आत्माका विषय क्या कर सकते हैं ?

भावार्थ:—संसारमें या मोक्षमें आत्मा अपने आप ही सुखरूप परिणमित होता है; उसमें विषय अकिंचित्कर हैं अर्थात् कुछ नहीं कर सकते । अज्ञानी विषयोंको सुखका कारण मानकर व्यर्थ ही उनका अवलंबन लेते हैं ॥ ६७ ॥

अथात्मनः सुखस्वभावत्वं दृष्टान्तेन दृढयति—

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ॥६८॥

स्वयमेव यथादित्यस्तेजः उष्णश्च देवता नभसि ।
सिद्धोऽपि तथा ज्ञानं सुखं च लोके तथा देवः ॥ ६८ ॥

यथा खलु नभसि कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव प्रभाकरः प्रभूतप्रभाभारभास्वरस्वरूपविकस्वरप्रकाशशालितया तेजः, यथा च कादाचित्कौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवन्नित्यमेवौष्ण्यपरिणामापन्नत्वादुष्णः, यथा च देवगतिनामकर्मोदयानुवृत्तिवशवर्तिस्वभावतया देवः । तथैव लोके कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थनिर्वितथानन्तशक्तिसहजसंवेदनतादात्म्यात् ज्ञानं, तथैव चात्मतृप्तिसमुपजातपरिनिर्वृत्तिप्रवर्तितानाकुलत्वसुस्थितत्वात् सौख्यं,

---

अब, आत्माका सुखस्वभावत्व दृष्टांत देकर दृढ़ करते हैं:—

गाथा ६८

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**नभसि**] आकाशमें [**आदित्यः**] सूर्य [**स्वयमेव**] अपने आप ही [**तेजः**] तेज [**उष्णः**] उष्ण [**च**] और [**देवता**] देव है [**तथा**] उसी प्रकार [**लोके**] लोकमें [**सिद्धःअपि**] सिद्ध भगवान भी (स्वयमेव) [**ज्ञानं**] ज्ञान [**सुखं च**] सुख [**तथा देवः**] और देव हैं ।

टीका:—जैसे आकाशमें अन्यकारणकी अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य (१) स्वयमेव अत्यधिक प्रभा समूहसे चमकते हुए स्वरूपके द्वारा विकसित प्रकाशयुक्त होनेसे तेज है, (२)कभी *उष्णता रूप परिणमित लोहेके गोलेकी भाँति सदा उष्णता-परिणामको प्राप्त होनेसे उष्ण है, और (३) देवगतिनामकर्मके धारावाहिक उदयके वशवर्ती स्वभावसे देव है; इसी प्रकार लोकमें अन्य कारणकी अपेक्षा रखे बिना ही भगवान आत्मा स्वयमेव ही (१) स्वपरको प्रकाशित करनेमें समर्थ यथार्थ अनन्तशक्तियुक्त सहज संवेदन के साथ तादात्म्य होनेसे ज्ञान है, (२) आत्मतृप्तिसे उत्पन्न होनेवाली जो परिनिर्वृत्ति[1] है, उससे प्रवर्तमान अनाकुलतामें सुस्थितताके कारण सौख्य है, और (३) जिन्हें आत्मतत्त्वकी उपलब्धि निकट है ऐसे बुध-जनोंके मनरूपी शिलास्तम्भमें जिसकी अतिशय द्युति[2] स्तुति उत्कीर्ण है ऐसा दिव्य आत्मस्वरूपवान होनेसे देव है । इसलिये इस आत्माको सुखसाधनाभासके विषयोंसे बस हो ।

---

* जैसे लोहेका गोला कभी उष्णतापरिणामसे परिणमता है वैसे सूर्य सदाही उष्णतापरिणामसे परिणमा हुआ है । १—परिनिर्वृत्ति=मोक्ष; परिपूर्णता; अन्तिम सम्पूर्ण सुख (परिनिर्वृत्ति आत्म तृप्तिसे होती है, अर्थात् आत्मतृप्तिकी पराकाष्ठा ही परिनिर्वृत्ति है । २—द्युति=दिव्यता; भव्यता; महिमा (गणधर देवादि बुधजनोंके मनमें शुद्धात्मस्वरूपकी दिव्यताका स्तुतिगान उत्कीर्ण होगया है ।

थैव चासन्नात्मतत्त्वोपलम्भलब्धवर्णजनमानसशिलास्तम्भोत्कीर्णसमुदीर्णद्युतिस्तुतियोगिदिव्यात्मस्वरूपत्वाद्देवः। अतोऽस्यात्मनः सुखसाधनाभासैर्विषयैः पर्याप्तम् ॥६८॥ इति आनन्दप्रपञ्चः।

अथ शुभपरिणामाधिकारप्रारम्भः।

अथेन्द्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधनस्वरूपमुपन्यस्यति—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥ ६९ ॥

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु।
उपवासादिषु रक्तः शुभोपयोगात्मक आत्मा ॥६९॥

यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिकामतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत ॥ ६९ ॥

भावार्थः—सिद्ध भगवान किसी बाह्य कारणकी अपेक्षाके बिना अपने आप ही स्वपरप्रकाशक ज्ञानरूप हैं, अनन्त आत्मिक आनन्दरूप हैं और अचिंत्य दिव्यतारूप हैं। सिद्ध भगवानकी भाँति ही सर्व जीवोंका स्वभाव है; इसलिये सुखार्थी जीवोंको विषयालम्बी भाव छोड़कर निरालम्बी परमानंद स्वभावरूप परिणमन करना चाहिये।

卐 इस प्रकार यह आनंद अधिकार पूर्ण हुआ 卐

—❀ अब, यहाँ शुभ परिणामका अधिकार प्रारंभ होता है ❀—

अब, इन्द्रियसुखस्वरूप सम्बन्धी विचारको लेकर, उसके साधनका (शुभोपयोगका) स्वरूप कहते हैं:—

गाथा ६९

अन्वयार्थः—[**देवतायतिगुरुपूजासु**] देव, गुरु और यतिकी पूजामें [**दाने च एव**] तथा दानमें [**सुशीलेषु वा**] एवं सुशीलोंमें [**उपवासादिषु**] और उपवासादिकमें [**रक्तः आत्मा**] लीन आत्मा [**शुभोपयोगात्मकः**] शुभोपयोगात्मक है।

टीकाः—जब यह आत्मा दुःखकी साधनभूत द्वेषरूप तथा इन्द्रिय विषयकी अनुरागरूप अशुभोपयोग भूमिकाका उलंघन करके, देव-गुरु-यतिकी पूजा, दान, शील और उपवासादिकके प्रीतिस्वरूप धर्मानुरागको अंगीकार करता है तब वह इन्द्रियसुखकी साधनभूत शुभोपयोगभूमिकामें आरूढ़ कहलाता है।

भावार्थः—सर्व दोष रहित परमात्मा देव हैं; भेदाभेद रत्नत्रयके स्वयं आराधक तथा उस आराधनाके अर्थी अन्य भव्य जीवोंको जिनदीक्षा देनेवाले गुरु हैं; इन्द्रियजय करके शुद्धात्मस्वरूपमें प्रयत्न परायण यति हैं। ऐसे देव, गुरु, यतिकी अथवा उनकी प्रतिमाकी पूजामें, आहारादिक चतुर्विधदानमें

अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्योति—

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्दियं विविहं ॥ ७० ॥

युक्तः शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा।
भूतस्तावत्कालं लभते सुखमैन्द्रियं विविधं ॥ ७० ॥

अयमात्मेन्द्रियसुखसाधनीभूतस्य शुभोपयोगस्य सामर्थ्यात्तदधिष्ठानभूतानां तिर्यग्मानुष-देवत्वभूमिकानामन्यतमां भूमिकामवाप्य यावत्कालमवतिष्ठते, तावत्कालमनेकप्रकारमिन्द्रियसुखं समासादयतीति ॥ ७० ॥

अथैवमिन्द्रियसुखमुत्क्षिप्य दुःखत्वे प्रक्षिपति—

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ७१ ॥

एवं शास्त्रोदित शीलव्रतोंमें तथा उपवासादिक तपमें प्रीतिका होना धर्मानुराग है। जो आत्मा द्वेषरूप और विषयानुरागरूप अशुभोपयोगको पार करके धर्मानुरागको अंगीकार करता है वह शुभोपयोगी है ॥ ६९ ॥

अब, इन्द्रिय सुखको शुभोपयोगके साध्यके रूपमें कहते हैं:—

गाथा ७०

अन्वयार्थः—[**शुभेन युक्तः**] शुभोपयोग युक्त [**आत्मा**] आत्मा [**तिर्यक् वा**] तिर्यंच [**मानुषः वा**] मनुष्य [**देवः वा**] अथवा देव [**भूतः**] होकर [**तावत्कालं**] उतने समय तक [**विविधं**] विविध [**ऐन्द्रियं सुखं**] इन्द्रिय सुख [**लभते**] प्राप्त करता है।

टीका:—यह आत्मा इन्द्रियसुखके साधनभूत शुभोपयोगकी सामर्थ्यसे उसके अधिष्ठानभूत (इन्द्रियसुखके स्थानभूत-आधारभूत) तिर्यंच, मनुष्य और देवत्वकी भूमिकाओंमेंसे किसी एक भूमिका को प्राप्त करके जितने समय तक उसमें रहता है उतने समय तक अनेक प्रकारका इन्द्रियसुख प्राप्त करता है ॥ ७० ॥

इसप्रकार इन्द्रियसुखकी बात उठाकर अब उसे दुःखरूपमें प्रक्षिपित करते हैं:—

गाथा ७१

अन्वयार्थः—[**उपदेशे सिद्धं**] (जिनेन्द्र देव के) उपदेशसे सिद्ध है कि [**सुराणाम् अपि**] देवों के भी [**स्वभावसिद्धं**] स्वभावसिद्ध [**सौख्यं**] सुख [**नास्ति**] नहीं है; [**ते**] वे [**देहवेदनार्ता**] (पंचेन्द्रियमय) देह की वेदना से पीडित होने से [**रम्येषु विषयेषु**] रम्य विषयों में [**रमन्ते**] रमते हैं।

सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे ।
ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ७१ ॥

इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकसः, तेषामपि स्वाभाविकं न खलु सुखमस्ति प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते । यतस्ते पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरपिशाचपीडया परवशा भृगुप्रपातस्थानीयान्मनोज्ञविषयानभिपतन्ति ॥ ७१ ॥

अथैवमिन्द्रियसुखस्य दुःखतायां युक्त्यावतारितायामिन्द्रियसुखसाधनीभूतपुण्यनिर्वर्तकशुभोपयोगस्य दुःखसाधनीभूतपापनिर्वर्तकाशुभोपयोगविशेषादविशेषत्वमवतारयति—

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं ।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥७२॥

नरनारकतिर्यक्सुरा भजन्ति यदि देहसंभवं दुःखं ।
कथं स शुभो वाऽशुभ उपयोगो भवति जीवानाम् ॥ ७२ ॥

यदि शुभोपयोगजन्यसमुदीर्णपुण्यसंपदस्त्रिदशादयोऽशुभोपयोगजन्यपर्यागतपातकापदो वा

टीकाः—इन्द्रियसुखके भाजनोंमें प्रधान देव हैं; उनके भी वास्तवमें स्वाभाविक सुख नहीं है, प्रत्युत उनके स्वाभाविक दुःख ही देखा जाता है; क्योंकि वे पंचेन्द्रियात्मक शरीररूपी पिशाचकी पीड़ासे परवश होनेसे भृगुप्रपातके* समान मनोज्ञ विषयोंकी ओर दौड़ते हैं ॥ ७१ ॥

इसप्रकार युक्तिपूर्वक इन्द्रियसुखको दुःखरूप प्रगट करके, अब इन्द्रियसुखके साधनभूत पुण्यको उत्पन्न करने वाले शुभोपयोगकी दुःखके साधनभूत पापको उत्पन्न करने वाले अशुभोपयोगसे अविशेपता प्रगट करते हैं:—

गाथा ७२

अन्वयार्थः—[नरनारकतिर्यक्सुराः] मनुष्य नारकी तिर्यंच और देव (सभी) **[यदि]** यदि **[देहसंभवं]** देहोत्पन्न **[दुःखं]** दुःखको **[भजंति]** अनुभव करते हैं तो **[जीवानां]** जीवोंका **[सः उपयोगः]** वह (शुद्धोपयोग से विलक्षण अशुद्ध) उपयोग **[शुभः वा अशुभः]** शुभ और अशुभ-दोप्रकार का **[कथं भवति]** कैसे है ? (अर्थात् नहीं है)

टीकाः—यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्यकी सम्पत्तिवाले देवादिक (शुभोपयोगजन्य पुण्यके उदयसे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिवाले देव इत्यादि) और अशुभोपयोगजन्य उदयगत पापकी आपदावाले नारकादिक दोनों स्वाभाविक सुखके अभावकेकारण अविशेषरूपसे (विना अन्तरके) पंचेन्द्रियात्मक शरीर सम्बन्धी दुःखका ही अनुभव करते हैं तब फिर परमार्थसे शुभ और अशुभ उपयोगकी पृथक्त्व व्यवस्था नहीं रहती ।

---

*भृगुप्रपात=अत्यंत दुःखसे घबराकर आत्मघात करनेके लिये पर्वतके निराधार उच्च शिखरसे गिरना । (भृगु=पर्वतका निराधार उच्चस्थान—शिखर; प्रपात=गिरना)

नारकादयश्च, उभयेऽपि स्वाभाविकसुखाभावादविशेषेण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरप्रत्ययं दुःखमेवानुभवन्ति । ततः परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोः पृथक्त्वव्यवस्थानावतिष्ठते ॥ ७२ ॥

अथ शुभोपयोगजन्यं फलवत्पुण्यं विशेषेण दूषणार्थमभ्युपगम्योत्थापयति—

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥ ७३ ॥

कुलिशायुधचक्रधराः शुभोपयोगात्मकैः भोगैः ।
देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरताः ॥ ७३ ॥

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वेच्छोपगतैर्भोगैः शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ताः सुखिता इव प्रतिभासन्ते । ततः शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते ॥ ७३ ॥

भावार्थ—शुभोपयोगजन्य पुण्यके फलरूपमें देवादिककी सम्पदायें मिलती हैं, और अशुभोपयोगजन्य पापके फलरूपमें नारकादिककी आपदायें मिलती हैं। किन्तु वे देवादिक तथा नारकादिक दोनों परमार्थसे दुःखी ही हैं। इसप्रकार दोनोंका फल समान होनेसे शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों परमार्थसे समान ही हैं अर्थात् उपयोगमें अशुद्धोपयोगमें शुभ और अशुभ नामक भेद परमार्थसे घटित नहीं होते ॥ ७२ ॥

(जैसे इन्द्रिय सुखको दुःखरूप और शुभोपयोगको अशुभोपयोगके समान बताया है इसी प्रकार) अब, शुभोपयोगजन्य फलवाला जो पुण्य है उसे विशेषतः दूषण देनेके लिये (उसमें दोष दिखानेके लिये) उस पुण्यको (उसके अस्तित्वको) स्वीकार करके उसकी बातका खंडन करते हैं:—

गाथा ७३

अन्वयार्थः—[कुलिशायुधचक्रधराः] वज्रधर और चक्रधर (इन्द्र और चक्रवर्ती) [शुभोपयोगात्मकैः भोगैः] शुभोपयोगमूलक (पुण्यों के फलरूप) भोगोंके द्वारा [देहादीनां] देहादिकी [वृद्धिं कुर्वन्ति] पुष्टि करते हैं और [अभिरताः] (इस प्रकार) भोगोंमें रत वर्तते हुए [सुखिताः इव] सुखी जैसे भासित होते हैं। (इसलिये पुण्य विद्यमान अवश्य है)

टीकाः—शक्रेन्द्र और चक्रवर्ती अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगोंके द्वारा शरीरादिको पुष्ट करते हुए जैसे गोंच (जोंक) दूषित रक्तमें अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी जैसी भासित होती है, उसी प्रकार उन भोगोंमें अत्यंत आसक्त वर्तते हुए सुखी जैसे भासित होते हैं, इसलिये शुभोपयोगजन्य फल वाले पुण्य दिखाई देते हैं (शुभोपयोजन्य फल वाले पुण्योंका अस्तित्व दिखाई देता है)

भावार्थः—जो भोगोंमें आसक्त वर्तते हुए इन्द्र इत्यादि गोंच (जोंक) की भांति सुखी जैसे

अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥ ७४ ॥

यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि ।
जनयन्ति विपयतृष्णां जीवानां देवतान्तानाम् ॥ ७४ ॥

यदि नामैवं शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यन्त इत्यभ्युपगम्यते,तदा तानि सुधाशनानप्यवधिं कृत्वा समस्तसंसारिणां विपयतृष्णामवश्यमेव समुत्पादयन्ति। न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकानां समस्तसंसारिणां विपयेपु प्रवृत्तिरवलोक्यते। अवलोक्यते च सा। ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमवाधितमेव ॥ ७४ ॥

अथ पुण्यस्य दुःखबीजविजयमाघोपयति—

मालुम होते हैं, वे भोग पुण्यके फल हैं, इसलिये पुण्यका अस्तित्व अवश्य है। इस प्रकार इस गाथा में पुण्यकी विद्यमानता स्वीकार करके आगेकी गाथाओंमें पुण्यको दुःखका कारणरूप बतायेंगे ॥७३॥

अब, इस प्रकार स्वीकार किये गये पुण्य दुःखके बीजके कारण हैं, (तृष्णाके कारण हैं) इस प्रकार न्यायसे प्रगट करते हैं:—

गाथा ७४

अन्वयार्थः—[यदि हि] (पूर्वोक्तप्रकारसे) यदि **[परिणामसमुद्भवानि]** (शुभोपयोगरूप) परिणामसे उत्पन्न होने वाले **[विविधानि पुण्यानि च]** विविध पुण्य **[संति]** विद्यमान हैं **[देवातान्तानां जीवानां]** तो वे देवों तकके जीवोंको **[विपयतृष्णां]** विषय-तृष्णा **[जनयन्ति]** उत्पन्न करते हैं।

टीका:—यदि इस प्रकार शुभोपयोग परिणामसे उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकारके पुण्य विद्यमान हैं, यह स्वीकार किया है तो वे (पुण्य) देवों तकके समस्त संसारियोंके विषयतृष्णा अवश्यमेव उत्पन्न करते हैं (यह भी स्वीकार करना पड़ता है) वास्तवमें तृष्णाके विना जोंक (गोंच) को दूपित रक्तकी भांति समस्त संसारियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति दिखाई न दे; किन्तु वह तो दिखाई देती है। इसलिये पुण्योंकी तृष्णायतनता अवाधित ही है, (पुण्य तृष्णाके घर हैं, यह अविरोधरूपसे सिद्ध होता है)।

भावार्थ:—जैसा कि ७३वीं गाथामें कहा गया है उस प्रकार अनेक तरहके पुण्य विद्यमान हैं सो भले रहें। वे सुखके साधन नहीं किन्तु दुःखके बीजरूप तृष्णाके ही साधन हैं ॥७४॥

अब, पुण्यमें दुःखके बीजकी विजय घोषित करते हैं। (पुण्यमें तृष्णाबीज दुःखवृक्षरूपसे वृद्धि को प्राप्त होता है—फैलता है, यह घोषित करते हैं):—

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छन्ति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥ ७५ ॥

ते पुनरुदीर्णतृष्णाः दुःखितास्तृष्णाभिर्विषयसौख्यानि ।
भुंजंति इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरणं दुःखसंतप्ताः ॥ ७५ ॥

अथ ते पुनस्त्रिदशावसानाः कृत्स्नसंसारिणः समुदीर्णतृष्णाः पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिताः सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्यः सौख्यान्यभिलषन्ति। तद्दुःखसंतापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान् जलायुका इव, तावद्यावत् क्षयं यान्ति। यथा हि जलायुकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा दुष्टकीलालमभिल-

---

गाथा ७५

अन्वयार्थः—[पुनः] और **[उदीर्णतृष्णाः ते]** जिनकी तृष्णा उदित है ऐसे वे जीव **[तृष्णाभिः दुःखिताः]** तृष्णाओंके द्वारा दुखी होते हुए **[आमरणं]** मरण पर्यंत **[विषय सौख्यानि इच्छन्ति]** विषयसुखोंको चाहते हैं **[च]** और **[दुःखसन्तप्ताः]** दुःखोंसे संतप्त होते हुए (दुःखदाहको सहन न करते हुए) **[अनुभवंति]** उन्हें भोगते हैं।

टीका:—जिनके तृष्णा उदित है ऐसे देवपर्यंत समस्त संसारी, तृष्णा दुःखका बीज होनेसे पुण्यजनित तृष्णाओंके द्वारा भी अत्यंत दुखी होते हुए मृगतृष्णामेंसे[1] जलकी भांति विषयोंमेंसे सुख चाहते हैं, और उस दुःख-संतापके वेगको सहन न कर सकनेसे जोंककी भांति विषयोंको तबतक भोगते हैं, जब तक कि मरणको प्राप्त नहीं होते। जैसे जोंक (गोंच) तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विजयको प्राप्त होती हुई दुःखांकुरसे क्रमशः आक्रान्त होनेसे दूषित रक्तको चाहती और उसीको भोगती हुई मरण पर्यंत क्लेशको पाती है, उसी प्रकार यह पुण्यशाली जीव भी पापशाली जीवोंकी भांति तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विजयप्राप्त दुःखांकुरोंके द्वारा क्रमशः आक्रांत होनेसे विषयोंको चाहते हुए और उन्हींको भोगते हुए विनाश पर्यंत (मरणपर्यंत) क्लेश पाते हैं।

इससे पुण्य सुखाभासरूप दुःखका ही साधन है।

भावार्थ:—जिन्हें समस्तविकल्पजालरहित परमसमाधिसे उत्पन्न सुखामृतरूप सर्व आत्मप्रदेशोंमें परमआह्लादभूतस्वरूपतृप्ति नहीं वर्तती, ऐसे समस्त संसारी जीवोंके निरन्तर विषयतृष्णा व्यक्त या अव्यक्तरूप से अवश्य वर्तती है। वे तृष्णारूपीबीज क्रमशः अंकुररूप होकर दुःखवृक्षरूपसे वृद्धिको प्राप्त होकर इस प्रकार दुःखदाहका वेग असह्य होने पर वे जीव विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं। इसलिये जिनकी विषयोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है ऐसे देवों तक के समस्त संसारी जीव दुखीही हैं।

१—जैसे मृगजलमेंसे जल नहीं मिलता वैसे ही इन्द्रियविषयोंमेंसे सुख प्राप्त नहीं होता।

त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । एवममी अपि पुण्यशालिनः पापशालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलपन्तस्तानेवानुभवन्तश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्युः ॥ ७५ ॥

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वमुद्योतयति—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इन्दियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥७६॥

सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बन्धकारणं विषमम् ।
यदिन्द्रियैर्लब्धं तत्सौख्यं दुःखमेव तथा ॥ ७६ ॥

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बंधकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यमपीन्द्रियसुखं दुःखमेव स्यात् । सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया, बाधासहितं हि सदशनाया-

इस प्रकार दुःखभाव ही पुण्योंका-पुण्य जनित सामग्रीका आलम्बन करता है इसलिये पुण्य सुखाभासभूत दुःखका ही अवलम्बन-साधन है ॥ ७५ ॥

अब, पुनः पुण्यजन्य इन्द्रियसुखको अनेकप्रकारसे दुःखरूप प्रकाशित करते हैं:—

गाथा ७६

अन्वयार्थः—[**यत्**] जो [**इंद्रियैः लब्धं**] इंद्रियों से प्राप्त होता है [**तत् सौख्यं**] वह सुख [**सपरं**] परसम्बन्धयुक्त [**बाधासहितं**] बाधासहित [**विच्छिन्नं**] विच्छिन्न [**बंधकारणं**] बंधका कारण [**विषमं**] और विषम है, [**तथा**] इस प्रकार [**दुःखम् एव**] वह दुःख ही है।

टीका:—परसम्बन्धयुक्त होनेसे, बाधा सहित होनेसे, विच्छिन्न होनेसे, बन्धका कारण होनेसे, और विषम होनेसे, इन्द्रियसुख पुण्यजन्य होने पर भी दुःख ही है।

इन्द्रियसुख (१) 'परके सम्बन्ध वाला' होता हुआ पराश्रयताके कारण पराधीन है, (२) 'बाधा सहित' होता हुआ खाने, पीने और मैथुनकी इच्छा इत्यादि तृष्णाकी प्रगटताओंसे युक्त होनेसे अत्यन्त आकुल है, (३) 'विच्छिन्न' होता हुआ असातावेदनीयका उदय जिसे च्युत[1] कर देता है, ऐसे सातावेदनीयके उदयसे प्रवर्तमान होता हुआ अनुभवमें आता है, इसलिये विपक्षकी उत्पत्ति वाला है, (४) 'बंधका कारण' होता हुआ विषयोपभोगके मार्गमें लगी हुई रागादि दोषोंकी सेनाके अनुसार कर्मरजके घन (ठोस) पटल (समूह) का सम्बन्ध होता है इसलिये परिणामसे दुःसह है, और (५) 'विषम' होता हुआ हानि वृद्धिमें परिणमित होनेसे अत्यन्त अस्थिर है; इसलिये वह (इन्द्रियसुख) दुःख ही है।

१—च्युत करना=हटा देना; पदभ्रष्ट करना; (सातावेदनीयका उदय उसकी स्थिति अनुसार रहकर हट जाता है और असाता वेदनीयका उदय आता है)

दन्यावृषस्यादिभिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया, बंधकारणं हि सद्विषयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसंगच्छमानघनकर्मपांसुपटलत्वादुदर्कदुःसहतया, विषमं हि सदभिवृद्धिपरिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसंष्ठुलतया च दुःखमेव भवति । अथैवं पुण्यमपि पापवद्दुःखसाधनमायातम् ॥ ७६ ॥

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति--

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

न हि मन्यते य एवं नास्ति विशेष इति पुण्यपापयोः ।
हिण्डति घोरमपारं संसारं मोहसंछन्नः ॥ ७७ ॥

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदुःखद्वैतमिव च न खलु परमार्थतः पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात् । यस्तु पुनरनयोः कल्याणकालायसनिगलयोरि-

---

जब कि ऐसा है (इन्द्रियसुख दुःख ही है) तो पुण्य भी पापकी भांति दुःखका साधन है, यह फलित हुआ ।

भावार्थः—इन्द्रियसुख दुःख ही है, क्योंकि वह पराधीन है अत्यंतआकुल है, विपक्ष की उत्पत्ति वाला है, परिणामसे दुःसह है, और अत्यन्त अस्थिर है । इससे यह सिद्ध हुआ कि पुण्य भी दुःखका ही साधन है ॥ ७६ ॥

अब, पुण्य और पापकी अविशेषताका निश्चय करते हुए (इस विषयका) उपसंहार करते हैं:—

गाथा ७७

अन्वयार्थः--[**एवं**] इस प्रकार [**पुण्यपापयोः**] पुण्य और पापमें [**विशेषः नास्ति**] अन्तर नहीं है [**इति**] इस प्रकार [**यः**] जो [**न हि मन्यते**] नहीं मानता [**मोहसंछन्नः**] वह मोहाच्छादित होता हुआ [**घोरं अपारं संसारं**] घोर अपार संसार में [**हिण्डति**] परिभ्रमण करता है ।

टीकाः—यों पूर्वोक्त प्रकारसे शुभाशुभ उपयोगके द्वैत की भांति और सुखदुःखके द्वैतकी भांति परमार्थसे पुण्यपापका द्वैत नहीं टिकता, क्योंकि दोनोंमें अनात्मधर्मत्व अविशेष (समान) है (परमार्थसे जैसे शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप द्वैत विद्यमान नहीं है, जैसे इन्द्रियसुख और दुःखरूप द्वैत विद्यमान नहीं है, उसी प्रकार पुण्य और पापरूप द्वैतकाभी अस्तित्व नहीं है;क्योंकि पुण्य और पाप दोनों आत्माके धर्म न होनेसे निश्चयसे समान ही हैं) ऐसा होने पर भी जो जीव उन दोनोंमें सुवर्ण और लोहेकी वेड़ीकी भांति *अहंकारिक अन्तर मानता हुआ,अहमिन्द्रपदादि-सम्पदाओंके कारणभूत धर्मानुराग

---

*पुण्य और पापमें अन्तर होनेका मत अहंकार जन्य (अविद्याजन्य, अज्ञानजन्य है) ।

हुङ्कारिकं विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्रपदादिसंपदां निदानमिति निर्भरतरं धर्मानुरागमवलम्बते र्ष खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दुःखमेवानुभवति ॥७७॥

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेषदुःखक्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति—

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥ ७८ ॥

एवं विदितार्थो यो द्रव्येषु न रागमेति द्वेषं वा।
उपयोगविशुद्धः स क्षपयति देहोद्भवं दुःखम् ॥७८॥

यो हि नाम शुभानामशुभानां च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तुस्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु रागं द्वेषं चाशेषमेव परिवर्जयति स

पर अत्यन्त निर्भररूपसे (गाढ़रूपसे) अवलम्बित है, वह जीव वास्तवमें चित्तभूमिके उपरक्त होनेसे (चित्तकीभूमिकर्मोपाधिके निमित्तसे रंगी हुई-मलिन-विकृत होनेसे) जिसने शुद्धोपयोग शक्तिका तिरस्कार किया है, ऐसा वर्तता हुआ, संसारपर्यंत (जब तक इस संसारका अस्तित्व है तबतक सदाके लिये) शारीरिक दुःखका ही अनुभव करता है।

भावार्थः—जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी-दोनों अविशेष रूप से बांधने का ही काम करती हैं इसी प्रकार पुण्य-पाप दोनों अविशेषरूपसे बन्धन ही हैं जो जीव पुण्य और पाप की अविशेषताको कभी नहीं मानता उसका इस भयंकर संसार में परिभ्रमण का कभी अन्त नहीं आता।७७।

अब इस प्रकार शुभ और अशुभ उपयोगकी अविशेषता अवधारित करके समस्त रागद्वेषके द्वैतको दूर करते हुए अशेष दुःख का क्षय करनेका मनमें दृढ़ निश्चय करनेवाला शुद्धोपयोगमें निवास करता है (उसे अंगीकार करता है):—

गाथा ७८

अन्वयार्थः—[**एवं**] इसप्रकार [**विदितार्थः**] वस्तुस्वरूपको जानकर [**यः**] जो [**द्रव्येषु**] द्रव्योंके प्रति [**रागं द्वेषं वा**] राग या द्वेषको [**न एति**] प्राप्त नहीं होता [**सः**] वह [**उपयोग विशुद्धः**] उपयोगविशुद्ध होता हुआ [**देहोद्भवं दुःखं**] देहोत्पन्न दुःखका [**क्षपयति**] क्षय करता है।

टीकाः—जो जीव शुभ और अशुभ भावोंके अविशेष दर्शनसे (समानताकी श्रद्धासे) वस्तु-स्वरूपको सम्यक्प्रकारसे जानता है, स्व और पर ऐसे दो विभागोंमें रहनेवाली समस्त पर्यायों सहित समस्त द्रव्योंके प्रति रागद्वेषको निरवशेष रूपसे छोड़ता है वह जीव एकान्तसे उपयोगविशुद्ध (सर्वथा शुद्धोपयोगी) होनेसे जिसने परद्रव्यका आलम्बन छोड़ दिया है ऐसा वर्तता हुआ-लोहेके गोलेमेंसे लोहे

किलैकान्तेनोपयोगविशुद्धतया परित्यक्तपरद्रव्यालम्बनोऽग्निरिवायःपिण्डादननुष्ठितायःसारः प्रचण्डघनघातस्थानीयं शारीरं दुःखं क्षपयति, ततो ममायमेवैकः शरणं शुद्धोपयोगः ॥ ७८ ॥

अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि, ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥ ७९ ॥
त्यक्त्वा पापारम्भं समुत्थितो वा शुभे चरित्रे ।
न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मकं शुद्धम् ॥ ७९ ॥

यः खलु समस्तसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणं परमसामायिकं नाम चारित्रं प्रतिज्ञायापि शुभोपयोगवृत्त्या बकाभिसारिकयेवाभिसार्यमाणो न मोहवाहिनीविधेयतामवकिरति स किल समासन्नमहादुःखसङ्कटः कथमात्मानमविप्लुतं लभते । अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम् ॥ ७९ ॥

के सारका[1] अनुसरण न करनेवाली अग्निकी भांति-प्रचंड घनके आघात समान शारीरिक दुःखका क्षय करता है । (जैसे अग्नि लोहेके तप्त गोलेमेंसे लोहेके सत्वको धारण नहीं करती इसलिये अग्नि पर प्रचंड घनके प्रहार नहीं होते, इसी प्रकार परद्रव्यका आलम्बन न करनेवाले आत्माको शारीरिक दुःखका वेदन नहीं होता) इसलिए यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है ॥७८॥

अब, सर्व सावद्ययोगको छोड़कर चारित्र अङ्गीकार किया हो तो भी यदि मैं शुभोपयोगपरिणति के वश होकर मोहादिका उन्मूलन न करूँ तो मुझे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति कहाँसे होगी ? इस प्रकार विचार करके मोहादिके उन्मूलनके प्रति सर्वारम्भ (सर्वउद्यम) पूर्वक कटिबद्ध होता है :—

गाथा ७९

अन्वयार्थः—[**पापारम्भं**] पापारम्भको [**त्यक्त्वा**] छोड़कर [**शुभेचरित्रे**] शुभ चारित्रमें [**समुत्थितः वा**] उद्यत होने पर भी [**यदि**] यदि जीव [**मोहादीन्**] मोहादिको [**न जहाति**] नहीं छोड़ता तो [**सः**] वह [**शुद्धं आत्मकं**] शुद्ध आत्माको [**न लभते**] प्राप्त नहीं होता ।

टीकाः—जो जीव समस्त सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप परमसामायिक नामक चारित्रकी प्रतिज्ञा करके भी धूर्त [2]अभिसारिका (नायिका) की भाँति शुभोपयोगपरिणतिसे अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ (शुभोपयोगपरिणतिके प्रेममें फँसता हुआ) मोहकी सेनाकी वशवर्तिताको दूर नहीं कर डालता-जिसके महा दुःख संकट निकट हैं वह,—शुद्ध आत्माको कैसे प्राप्त कर सकता है ? इसलिये मैंने मोहकी सैनापर विजय प्राप्त करनेको कमर कसी है ।

१—सार=सत्व, घनता, कठिनता । २—अभिसारिका=संकेत अनुसार प्रेमीसे मिलने जानेवाली स्त्री ।

अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनीत्युपायमालोचयति—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

यो जानात्यर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः ।
स जानात्यात्मानं मोहः खलु याति तस्य लयम् ॥ ८० ॥

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति, स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात् । अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्मरूपं, ततस्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः । तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः । तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमुत्पश्यति । यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकाल-

---

अब, वह यह उपाय सोचता है कि मुझे मोहकी सेनाको कैसे जीतना चाहिये:—

गाथा ८०

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**अर्हन्तं**] अरहंतको [**द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः**] द्रव्यपनें गुणपनें और पर्यायपनें [**जानाति**] जानता है, [**सः**] वह [**आत्मानं**] (अपने) आत्माको [**जानाति**] जानता है, और [**तस्यमोहः**] उसका मोह [**खलु**] अवश्य [**लयं याति**] लयको प्राप्त होता है ।

टीका:—जो वास्तवमें अरहंतको द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे जानता है वह वास्तवमें अपने आत्माको जानता है, क्यों कि दोनोंमें निश्चयसे अन्तर नहीं है; और अरहंतका स्वरूप, अन्तिम तावको प्राप्त सोनेके स्वरूपकी भाँति, परिस्पष्ट है, इसलिये उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्माका ज्ञान होता है । वहाँ अन्वय द्रव्य है, अन्वयका विशेषण गुण है और अन्वयके व्यतिरेक (भेद) पर्यायें हैं । सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहंतमें (अरहंतके स्वरूपका ख्याल करने पर) जीव तीनों प्रकार युक्त समयको (द्रव्यगुणपर्यायमय निज आत्माको) अपने मनसे जान लेता है—समझ लेता है । यथा 'यह चेतन है' इस प्रकारका अन्वय वह द्रव्य है, अन्वयके आश्रित रहनेवाला 'चैतन्य' विशेषण वह गुण है, और एक समय मात्रकी मर्यादावाला कालपरिमाण होनेसे परस्पर अप्रवृत्त [1]अन्वयव्यतिरेक वे पर्यायें हैं—जो कि चिद्विवर्तनकी (आत्माके परिणमनकी) ग्रन्थियाँ (गांठें) हैं ।

अब, इसप्रकार त्रैकालिकको भी (त्रैकालिक आत्माको भी) एक कालमें समझ लेनेवाला वह जीव, जैसे मोतियोंको झूलते हुए हारमें अन्तर्गत माना जाता है, उसी प्रकार चिद्विवर्तोंको चेतनमें ही

१—अन्वयव्यतिरेक=एक दूसरेमें नहीं प्रवर्तते ऐसे जो अन्वयके व्यतिरेक ।

परिमाणतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चिद्विवर्तनग्रन्थय इति यावत् । अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्ताश्चेतन एव संक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव प्रालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हितं विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्दतस्तदुत्तरोत्तरक्षणक्षीयमानकर्तृकर्मक्रियाविभागतया निःक्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते । यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः ॥ ८० ॥

अन्तर्गत करके, तथा विशेषणविशेष्यताकी[1] वासनाका अन्तर्धान[2] होनेसे-जैसे सफेदीको हारमें अन्तर्हित[3] किया जाता है, उसी प्रकार-चैतन्यको चेतनमें ही अन्तर्हित करके, जैसे मात्र *हारको जाना जाता है, उसी प्रकार केवल आत्माको जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षणमें कर्ता-कर्म-क्रियाका विभाग क्षयको प्राप्त होता जाता है इसलिये निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होता है; और इस प्रकार मणिकी भाँति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्परूपसे प्रवर्तमान है ऐसे उस (चिन्मात्रभावको प्राप्त) जीवके, मोहान्धकार निराश्रयताके कारण अवश्यमेव प्रलयको प्राप्त होता है । यदि ऐसा है तो मैंने मोहकी सेनाको जीतनेका उपाय प्राप्त कर लिया है ।

भावार्थ:—अरहंत भगवान और अपना आत्मा निश्चयसे समान है । अरहंत भगवान मोह राग द्वेष रहित हैं इसलिये उनका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिये यदि जीव द्रव्य-गुण-पर्याय रूपसे उस (अरहंत भगवानके) स्वरूपको मनके द्वारा प्रथम समझ ले तो "यह जो आत्मा आत्माका एकरूप (कथंचित् सदृश) त्रैकालिक प्रवाह है सो द्रव्य है, उसका जो एकरूप रहने वाला चैतन्य रूप विशेषण है सो गुण है और उस प्रवाहमें जो क्षणवर्ती व्यतिरेक हैं सो पर्यायें हैं" इसप्रकार अपना आत्मा भी द्रव्यगुण पर्यायरूपसे मनके द्वारा ज्ञानमें आता है । इसप्रकार त्रैकालिक निज आत्माको मनके द्वारा ज्ञानमें लेकर जैसे मोतियोंको और सफेदीको हारमें ही अन्तर्गत करके मात्र हार ही जाना जाता है, उसी प्रकार आत्म पर्यायोंको और चैतन्य गुणको आत्मामें ही अन्तर्गर्भित करके केवल आत्माको जानने पर परिणामी-परिणाम-परिणतिके भेदका विकल्प नष्ट होता जाता है, इसलिये जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होता है, और उससे दर्शनमोह निराश्रय होता हुआ नष्ट हो जाता है । यदि ऐसा है तो मैंने मोहकी सेना पर विजय प्राप्त करनेका उपाय प्राप्त कर लिया है,-ऐसा कहा है ॥ ८० ॥

१—विशेषणगुण है और विशेष्य वो द्रव्य है । २—अंतर्धान=अदृश्य होजाना । ३—अंतर्हित=गुप्त; अदृश्य ।
*हारको खरीदने वाला मनुष्य हारको खरीदते समय हार, उसकी सफेदी और उसके मोतियों इत्यादिकी परीक्षा करता है, किन्तु बादमें सफेदी और मोतियोंको हारमें ही समाविष्ट करके उनका लक्ष छोड़कर वह मात्र हारको ही जानता है । यदि ऐसा न करे तो हारके पहिनने पर भी उसकी सफेदी आदिके विकल्प बने रहनेसे हारको पहननेके सुखका वेदन नहीं कर सकेगा ।

अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ ८१ ॥

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवांस्तत्त्वमात्मनः सम्यक् ।
जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मानं लभते शुद्धम् ॥ ८१ ॥

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति । यदि पुनः पुनरपि तावनुवर्तते तदा प्रमादतन्त्रतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति । अतो मया रागद्वेषनिषेधायात्यन्तं जागरितव्यम् ॥ ८१ ॥

अब, इसप्रकार मैंने चिंतामणि-रत्न प्राप्त कर लिया है तथापि प्रमाद चोर विद्यमान है, यह विचार कर जागृत रहता है :—

गाथा ८१

अन्वयार्थः—[**व्यपगतमोहः**] जिसने मोहको दूर किया है और [**सम्यक् आत्मनः तत्त्वं**] आत्माके सम्यक् तत्वको [**उपलब्धवान्**] प्राप्त किया है ऐसा [**जीवः**] जीव [**यदि**] यदि [**राग द्वेषौ**] राग द्वेषको [**जहाति**] छोड़ता है [**सः**] तो वह [**शुद्धं आत्मानं**] शुद्ध आत्माको [**लभते**] प्राप्त करता है ।

टीकाः—इसप्रकार जिस उपायका स्वरूप वर्णन किया गया है, उस उपायके द्वारा मोहको दूर करके भी सम्यक् आत्मतत्वको (यथार्थ स्वरूपको) प्राप्त करके भी यदि जीव राग द्वेषको निर्मूल करता है तो शुद्ध आत्माका अनुभव करता है । (किन्तु) यदि पुनः पुनः उनका अनुसरण करता है, (राग द्वेपरूप परिणमन करता है) तो प्रमादके अधीन होनेसे शुद्धात्म तत्वके अनुभव रूप चिंतामणि-रत्नके चुराये जानेसे अन्तरंगमें खेदको प्राप्त होता है । इसलिये मुझे रागद्वेषको दूर करनेके लिये अत्यन्त जागृत रहना चाहिये ।

भावार्थः— ८०वीं गाथामें बताये गये उपायसे दर्शनमोहको दूर करके, अर्थात् सम्यक्दर्शन प्राप्त करके जो जीव शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप वीतरागचारित्रके प्रतिबन्धक रागद्वेषको छोड़ता है, पुनः पुनः रागद्वेष भावमें परिणमित नहीं होता वही अभेदरत्नत्रयपरिणत जीव शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव आत्माको प्राप्त करता है-मुक्त होता है । इसलिये जीव को सम्यक्दर्शन प्राप्त करके भी सराग चारित्र प्राप्त करके भी रागद्वेषके निवारणार्थ अत्यन्त सावधान रहना चाहिये ॥ ८१ ॥

अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिमवस्थापयति—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८२ ॥

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः ।
कृत्वा तथोपदेशं निर्वृतास्ते नमस्तेभ्यः ॥ ८२ ॥

यतः खल्वतीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थकराः प्रकारान्तरस्यासंभवादसंभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपणं कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया परेषामप्यायत्यामिदानींत्वे वा मुमुक्षूणां तथैव तदुपदिश्य निःश्रेयसमध्याश्रिताः । ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते । अलमथवा प्रलपितेन । व्यवस्थिता मतिर्मम, नमो भगवद्भ्यः ॥ ८२ ॥

अब, यही एक (पूर्वोक्त गाथाओंमें वर्णित), भगवन्तों के द्वारा अनुभव करके प्रगट किया हुआ निःश्रेयसका पारमार्थिकपन्थ है—इस प्रकार मतिको निश्चित करते हैं:—

गाथा ८२

अन्वयार्थः—[**सर्वे अपि च**] सभी [**अर्हन्तः**] अरहन्त भगवान [**तेन विधानेन**] उसी विधिसे [**क्षपितकर्मांशाः**] कर्मांशोंका क्षय करके [**तथा**] तथा उसी प्रकारसे [**उपदेशं कृत्वा**] उपदेश करके [**निर्वृताः ते**] मोक्षको प्राप्त हुए हैं [**नमः तेभ्यः**] उन्हें नमस्कार हो ।

टीका:—अतीत कालमें क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर भगवान, प्रकारान्तरका असंभव होनेसे जिसमें द्वैत संभव नहीं है, ऐसे इसी एकप्रकारसे कर्मांशों (ज्ञानावरणादि कर्म भेदों) का क्षय स्वयं अनुभव करके (तथा) परमाप्तताके[1] कारण भविष्यकालमें अथवा इस (वर्तमान)कालमें अन्य मुमुक्षुओंको भी इसी प्रकारसे उसका (कर्म क्षयका) उपदेश देकर निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं; इसलिये निर्वाणका अन्य (कोई) मार्ग नहीं है यह निश्चित होता है । अथवा, अधिक प्रलापसे क्या ? मेरी मति व्यवस्थित (सुनिश्चित) हो गई है । भगवन्तों को नमस्कार हो ।

भावार्थ:— ८० और ८१ वीं गाथाके कथनानुसार सम्यक्दर्शन प्राप्त करके वीतराग चारित्रके विरोधी राग द्वेषको दूर करना अर्थात् निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धानुभूतिमें लीन होना ही एक मात्र मोक्षमार्ग है; त्रिकालमें भी कोई दूसरा मोक्षका मार्ग नहीं है । समस्त अरहन्तोंने इसी मार्गसे मोक्ष प्राप्त किया है, और अन्य मुमुक्षुओंको भी इसी मार्गका उपदेश दिया है । उन भगवन्तोंको नमस्कार हो । ८२ ।

१—परमाप्त=परमआप्त; परम विश्वासपात्र (तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञ और वीतराग होनेसे परमआप्त हैं, यथार्थ उपदेष्टा हैं)

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभावं भूमिकाश्च विभावयति—

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति ।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति ।
क्षुभ्यति तेनावच्छन्नः प्राप्य रागं वा द्वेषं वा ॥८३॥

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नयमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मगुणतया परपर्यायानात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु विषयेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य प्रचुरतराम्भोभाररयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदार्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति । अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः ॥ ८३ ॥

अब, शुद्धात्म लाभके शत्रु-मोहका स्वभाव और उसके प्रकारोंको व्यक्त करते हैं:—

गाथा ८३

अन्वयार्थः—[**जीवस्य**] जीवके [**द्रव्यादिकेषु मूढः भावः**] द्रव्यादि सम्बन्धी मूढ भाव [**मोहः इति भवति**] वह मोह है [**तेन अवच्छन्नः**] उससे आच्छादित वर्तता हुआ जीव [**रागं वा द्वेषं वा प्राप्य**] राग अथवा द्वेषको प्राप्त करके [**क्षुभ्यति**] क्षुब्ध होता है ।

टीका:—धतूरा खाये हुए मनुष्यकी भाँति, जीवके जो पूर्व वर्णित द्रव्य, गुण, पर्याय हैं उनमें होनेवाला तत्व-अप्रतिपत्तिलक्षण[1] मूढ़भाव-वास्तवमें मोह है । उस मोहसे निजरूप आच्छादित होनेसे यह आत्मा परद्रव्यको स्वद्रव्यरूपसे, परगुणको स्वगुणरूपसे, और परपर्यायोंको स्वपर्यायरूप समझकर—अंगीकार करके अतिरूढ़—दृढ़तर संस्कारके कारण परद्रव्यको ही सदा ग्रहण करता हुआ, दग्ध[2] इन्द्रियोंकी रुचिके वशसे अद्वैत[3] में भी द्वैत प्रवृत्ति कराता हुआ, रुचिकर - अरुचिकर विषयोंमें रागद्वेष करके अति प्रचुर जलसमूहके वेगसे प्रहारको प्राप्त सेतुबन्ध (पुल) की भाँति दो भागोंमें खंडित होता हुआ अत्यन्त क्षोभको प्राप्त होता है । इससे मोह, राग और द्वेष इन भेदोंके कारण मोह तीन प्रकारका है ।८३।

१—तत्व अप्रतिपत्तिलक्षण=तत्वकी अप्रतिपत्ति (अप्राप्ति, अज्ञान, अनिर्णय) जिसका लक्षण है, ऐसा ।

२—दग्ध=जली हुई; हल्की; शापित । ('दग्ध' तिरस्कार वाचक शब्द है) ३—इन्द्रियविषयोंमें-पदार्थोंमें यह अच्छे हैं और यह बुरे इसप्रकारका द्वैत नहीं है; तथापि वहाँ भी मोहाच्छादित जीव अच्छे-बुरेका द्वैत कल्पित कर लेते हैं ।

अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥ ८४ ॥

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य ।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते संक्षपयितव्याः ॥ ८४ ॥

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य तृणपटलावच्छन्नगर्तसंगतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धतप्रविधावितस्य च सिन्धुरस्येव भवति नाम नानाविधो बन्धः । ततोऽमी अनिष्टकार्यकारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषाः सम्यग्निर्मूलकाषं कषित्वा क्षपणीयाः ॥ ८४ ॥

अब, तीनों प्रकारके मोहको अनिष्ट कार्यका कारण कहकर उसका क्षय करनेको सूत्र द्वारा कहते हैं:-

गाथा ८४

अन्वयार्थः—[**मोहेन वा**] मोहरूप [**रागेण वा**] रागरूप [**द्वेषेण वा**] अथवा द्वेषरूप [**परिणतस्य जीवस्य**] परिणमित जीवके [**विविधः बंधः**] विविध बंध [**जायते**] होता है; [**तस्मात्**] इसलिये [**ते**] वे (मोह, राग, द्वेष) [**संक्षपयितव्याः**] सम्पूर्णतया क्षय करने योग्य हैं ।

टीका:—इस प्रकार तत्व अप्रतिपत्ति (वस्तुस्वरूपके अज्ञान) से रुके हुवे, मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप परिणमित होते हुए इस जीवको घासके ढेरसे ढँके हुए खड्डेको प्राप्त होने वाले हाथीकी भाँति हथिनीरूपी कुट्टनीके शरीरमें आसक्त हाथीकी भाँति, और विरोधी हाथीको देखकर, उत्तेजित होकर (उसकी ओर) दौड़ते हुए हाथीकी भाँति विविध प्रकारका बन्ध होता है; इसलिये मुमुक्षु जीवको अनिष्ट कार्य करने वाले इस मोह, राग और द्वेषका यथावत् निर्मूल नाश हो इस प्रकार क्षय करना चाहिये ।

भावार्थ:—(१) हाथीको पकड़नेके लिये धरतीमें खड्डा बनाकर उसे घाससे ढक दिया जाता है, वहाँ खड्डा होनेके अज्ञानके कारण उस खड्डे पर जानेसे हाथी गिर पड़ता है, और वह इस प्रकार पकड़ा जाता है । (२) हाथीको पकड़ने के लिये सिखाई हुई हथिनी भेजी जाती है; उसके शारीरिक रागमें फँसनेसे हाथी पकड़ा जाता है (३) हाथी पकड़नेकी तीसरी रीति यह है कि उस हाथीके सामने दूसरा पालित हाथी भेजा जाता है; उसके पीछे वह हाथी उत्तेजित होकर लड़नेके लिये दौड़ता है और इस प्रकार वह पकड़ने वालोंके जालमें फँस जाता है ।

उपर्युक्त प्रकारसे जैसे हाथी (१) अज्ञानसे, (२) रागसे या (३) द्वेषसे अनेक प्रकारके बन्धनको प्राप्त होता है उसी प्रकार जीव (१) मोहसे (२) रागसे या (३) द्वेषसे अनेक प्रकारके बन्धनको प्राप्त होता है, इसलिये मोक्षार्थीको मोह-राग-द्वेषका भलीभाँति - सम्पूर्णतया मूलसे ही क्षय कर देना चाहिये ॥ ८४ ॥

अथामी अमीभिर्लिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।
विसएसु च पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८५॥

अर्थे अयथाग्रहणं करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु ।
विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि ॥ ८५ ॥

अर्थानामयथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्ध्या च मोहमभीष्टविषयप्रसंगेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः ॥ ८५ ॥

अथ मोहक्षपणोपायान्तरमालोचयति—

अब, इस राग द्वेष मोहको इन (आगामी गाथामें कहे गये) चिन्हों - लक्षणोंके द्वारा पहिचान कर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिये, यह प्रगट करते हैं :—

गाथा ८५

अन्वयार्थः—[**अर्थे अयथाग्रहणं**] पदार्थका अयथाग्रहण [**च**] और [**तिर्यङ्मनुजेषु करुणाभावः**] तिर्यंच-मनुष्योंके प्रति करुणाभाव, [**विषयेषु प्रसंगः च**] तथा विषयोंकी संगति (इष्ट विषयोंमें प्रीति और अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति) [**एतानि**] यह सब [**मोहस्य लिंगानि**] मोहके चिन्ह-लक्षण हैं ।

टीका:—पदार्थोंकी अयथातथ्यरूप[1] प्रतिपत्तिके द्वारा और तिर्यंच-मनुष्य प्रेक्षायोग्य[2] होनेपर भी उनके प्रति करुणाबुद्धिसे मोहको (जानकर), इष्ट विषयोंकी आसक्तिसे रागको और अनिष्ट विषयोंकी अप्रीतिसे द्वेषको (जानकर) - इस प्रकार तीन लिंगोंके द्वारा (तीन प्रकारके मोहको) पहिचानकर तत्काल ही उत्पन्न होते ही तीनों प्रकारका मोह नष्ट कर देने योग्य है ।

भावार्थ:—मोहके तीन भेद हैं—दर्शनमोह, राग, द्वेष । पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपसे विपरीत मान्यता तथा तिर्यंचों और मनुष्योंके प्रति तन्मयतासे करुणा भाव दर्शन मोहके चिन्ह हैं, इष्ट विषयोंमें प्रीति रागका चिन्ह है, और अनिष्ट विषयोंमें अप्रीति द्वेषका चिन्ह है, इन चिन्होंसे तीनों प्रकारके मोहको पहिचानकर मुमुक्षुओंको उसे तत्काल ही नष्ट कर देना चाहिये ॥ ८५ ॥

अब मोह क्षय करनेका दूसरा उपाय विचारते हैं:—

१—पदार्थोंकी अयथातथ्यरूप प्रतिपत्ति=पदार्थ जैसे नहीं हैं उन्हें वैसा समझना अर्थात् उन्हें अन्यथा स्वरूपसे अंगीकार करना । २—प्रेक्षायोग्य=मात्र प्रेक्षकभावसे-दृष्टा ज्ञाता रूपसे - मध्यस्थभावसे देखने योग्य ।

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥ ८६ ॥

जिनशास्त्रादर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्य नियमात्।
क्षीयते मोहोपचयः तस्मात् शास्त्रं समध्येतव्यम् ॥ ८६ ॥

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतो ज्ञानादात्मनस्तथा ज्ञानं मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नम्। तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते। इदं हि विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शाब्दं प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कारस्फुटीकृतविशिष्टसंवेदनशक्तिसंपदः सहृदयहृदयानंदोद्भेददायिना प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वतः समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः। अतो हि मोहक्षपणे परमं शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ॥ ८६ ॥

गाथा ८६

अन्वयार्थः—[**जिनशास्त्रात्**] जिनशास्त्र द्वारा [**प्रत्यक्षादिभिः**] प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे [**अर्थान्**] पदार्थोंको [**बुध्यमानस्य**] जानने वालेके [**नियमात्**] नियमसे [**मोहोपचयः**] मोहसमूह [**क्षीयते**] क्षय हो जाता है [**तस्मात्**] इसलिये [**शास्त्रं**] शास्त्रका [**समध्येतव्यम्**] सम्यक्प्रकारसे अध्ययन करना चाहिये।

टीका:—द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभावसे अरहंतके ज्ञान द्वारा आत्माका उस प्रकारका ज्ञान मोहक्षयके उपायके रूपमें पहले (८० वीं गाथामें) प्रतिपादित किया गया था, वह वास्तवमें इस (निम्न लिखित) उपायान्तरकी अपेक्षा रखता है:—

जिसने प्रथम भूमिकामें गमन किया है, ऐसे जीवको जो सर्वज्ञोपज्ञ[1] होनेसे सर्व प्रकारसे अबाधित है, ऐसे शाब्द प्रमाणको (द्रव्य श्रुतप्रमाणको) प्राप्त करके क्रीड़ा करने पर, उसके संस्कारसे विशिष्ट संवेदन[2] शक्तिरूप सम्पदा प्रगट करनेपर, सहृदय[3] जनोंके हृदयको आनन्दका उद्भेद[4] देनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाणसे अथवा उससे अविरुद्ध अन्यप्रमाणसमूहसे तत्वतः समस्त वस्तु मात्रको जानने पर अतत्वअभिनिवेशके* संस्कार करने वाला मोहोपचय (मोहसमूह) अवश्य ही क्षयको प्राप्त होता है। इसलिये मोहका क्षय करनेमें, परम शब्दब्रह्मकी उपासनाका भावज्ञानके अवलम्बनद्वारा दृढ़ किये गये परिणामसे सम्यक् प्रकार अभ्यास करना सो उपायान्तर है। (जो परिणाम भावज्ञानके अवलम्बनसे दृढ़ीकृत हो ऐसे परिणामसे द्रव्य श्रुतका अभ्यास करना सो मोहक्षय करनेके लिये उपायान्तर है) ॥ ८६ ॥

१—सर्वज्ञोपज्ञ=सर्वज्ञद्वारा स्वयं जानाहुआ (और कहाहुवा)। २—संवेदन=ज्ञान। ३—सहृदय=भावुक; शास्त्रमें जिससमय जिस भावका प्रसंग होय उस भावको हृदयमें ग्रहण करनेवाला; बुध; पंडित। ४—उद्भेद=स्फुरण; प्रगटता; फुवारा। *अतत्वअभिनिवेश=यथार्थ वस्तुस्वरूपसे विपरीत अभिप्राय।

अथ कथं जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थितिरिति वितर्कयति—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥ ८७ ॥

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिताः ।
तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः ॥ ८७ ॥

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः, तत्र गुणपर्यायानि-यृति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयृति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयृति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थाः पर्यायाः।

अब जिनेन्द्रके शब्द ब्रह्ममें अर्थोंकी व्यवस्था (पदार्थोंकी स्थिति) किस प्रकार है सो विचार करते हैं:—

गाथा ८७

अन्वयार्थः—[**द्रव्याणि**] द्रव्य [**गुणाः**] गुण [**तेषां पर्यायाः**] और उनकी पर्यायें [**अर्थसंज्ञया**] 'अर्थ' नामसे [**भणिताः**] कही गई हैं। [**तेषु**] उनमें [**गुणपर्यायाणाम् आत्मा द्रव्यम्**] गुण-पर्यायों का आत्मा द्रव्य है (गुण और पर्यायोंका स्वरूप-सत्व द्रव्य ही है, वे भिन्न वस्तु नहीं हैं) [**इति उपदेशः**] इसप्रकार (जिनेन्द्रका) उपदेश है।

टीकाः—द्रव्य, गुण और पर्यायोंमें अभिधेयभेद होने पर भी अभिधान का अभेद होनेसे वे 'अर्थ' हैं [अर्थात् द्रव्य गुण पर्यायोंमें वाच्यका भेद होने पर भी वाचकमें भेद न रखें तो 'अर्थ' ऐसे एक ही वाचक (शब्द) से ये तीनों पहिचाने जाते हैं] उसमें (इन द्रव्य, गुण और पर्यायोंमेंसे), जो गुणोंको और पर्यायोंको प्राप्त करते हैं अथवा जो गुणों और पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे 'अर्थ'* द्रव्य हैं, जो द्रव्योंको आश्रयके रूपमें प्राप्त करते हैं अथवा जो आश्रयभूत द्रव्योंके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे 'अर्थ' गुण हैं, जो द्रव्योंको क्रमपरिणामसे प्राप्त करते हैं, अथवा जो द्रव्योंके द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थ' पर्याय हैं।

जैसे द्रव्यस्थानीय (द्रव्यके समान, द्रव्यके दृष्टान्तरूप) सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुणोंको और कुण्डल इत्यादि पर्यायोंको प्राप्त करता है, अथवा सुवर्ण उनके द्वारा प्राप्त किया जाता है, उससे द्रव्य-स्थानीय सुवर्ण 'अर्थ' है। जैसे पीलापन इत्यादि गुण सुवर्णको आश्रयके रूपमें प्राप्त करते हैं, अथवा (वे) आश्रयभूत सुवर्णके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं इसलिये पीलापन इत्यादि गुण 'अर्थ' हैं; और जैसे

*'ऋ' धातुमेंसे 'अर्थ' शब्द बना है। 'ऋ' अर्थात् पाना, प्राप्त करना, पहुँचना, जाना।
'अर्थ' अर्थात् (१) जो पाये-प्राप्त करे-पहुँचे, अथवा (२) जिसे पाया जाये-प्राप्त किया जाये-पहुँचा जाये।

यथा हि सुवर्णं पीततादीन् गुणान् कुण्डलादींश्च पर्यायानियर्ति तैरर्यमाणं वा अर्थो द्रव्यस्थानीयं, यथा च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयूतितेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्थाः पीततादयो गुणाः, यथा च सुवर्णं क्रमपरिणामेनेयर्ति तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः कुण्डलादयः पर्यायाः। एवमन्यत्रापि। यथा चैतेषु सुवर्णपीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायेषु पीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्णमेवात्मा तथा च तेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथग्भावाद्द्रव्यमेवात्मा ॥ ८७ ॥

अथैवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुषकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुषं व्यापारयति—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥ ८८ ॥

कुण्डल इत्यादि पर्यायें सुवर्णको क्रमपरिणामसे प्राप्त करती हैं, अथवा (वे) सुवर्णके द्वारा क्रमपरिणामसे प्राप्त की जाती हैं, इसलिये कुण्डल इत्यादि पर्यायें 'अर्थ' हैं; इसीप्रकार अन्यत्र भी है, (इस दृष्टान्तकी भाँति सर्व द्रव्य, गुण, पर्यायोंमें भी समझना चाहिये)।

और जैसे इन सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुण और कुण्डल इत्यादि पर्यायोंमें (इन तीनोंमें), पीलापन इत्यादि गुणोंका और कुण्डल इत्यादि पर्यायोंका) सुवर्णसे अपृथक्त्व होनेसे उनका (पीलापन इत्यादि गुणोंका और कुण्डल इत्यादि पर्यायोंका) सुवर्ण ही आत्मा है, उसीप्रकार उन द्रव्य गुण पर्यायोंमें गुण–पर्यायोंका द्रव्यसे अपृथक्त्व होनेसे उनका द्रव्य ही आत्मा है (अर्थात् द्रव्य ही गुण और पर्यायोंका आत्मा-स्वरूप-सर्वस्व-सत्व है)।

भावार्थः—८६वीं गाथामें कहा है कि जिनशास्त्रोंका सम्यक् अभ्यास मोहक्षयका उपाय है। यहाँ संक्षेपमें यह बताया है कि उन जिनशास्त्रोंमें पदार्थोंकी व्यवस्था किसप्रकार कही गई है। जिनेन्द्रदेवने कहा है कि—अर्थ, अर्थात् द्रव्य, गुण, और पर्याय। इसके अतिरिक्त विश्वमें दूसरा कुछ नहीं है, और इन तीनोंमें गुण और पर्यायोंका आत्मा (उसका सर्वस्व) द्रव्य ही है। ऐसा होनेसे किसी द्रव्यके गुण और पर्याय अन्य द्रव्यके गुण और पर्यायरूप किंचित् मात्र नहीं होते, समस्त द्रव्य अपने अपने गुण और पर्यायोंमें रहते हैं। ऐसी पदार्थोंकी स्थिति मोहक्षयके निमित्तभूत पवित्र जिनशास्त्रोंमें कही है ॥ ८७ ॥

अब इसप्रकार मोहक्षयके उपायभूत जिनेश्वरके उपदेशकी प्राप्ति होनेपर भी पुरुषार्थ अर्थक्रियाकारी[1] है, इसलिये पुरुषार्थ करता है:—

गाथा ८८

अन्वयार्थः—[यः] जो [जैनं उपदेशं] जिनेन्द्रके उपदेशको [उपलभ्य]

[1]—अर्थक्रियाकारी=प्रयोजनभूत क्रियाका (सर्वदुःखपरिमोक्षका) करने वाला।

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम् ।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥ ८८ ॥

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेश्वरं निशिततरवारिधारापथस्थानीयमुपदेशं य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति स एव निखिलदुःखपरिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव । अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि ॥ ८८ ॥

अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥ ८९ ॥

ज्ञानात्मकमात्मानं परं च द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम् ।
जानाति यदि निश्चयतो यः स मोहक्षयं करोति ॥ ८९ ॥

प्राप्त करके [**मोहरागद्वेषान्**] मोह-राग-द्वेषको [**निहंति**] हनता है [**सः**] वह [**अचिरेण कालेन**] अल्प कालमें [**सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति**] सर्व दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

टीका:—इस अतिदीर्घ, सदा उत्पातमय संसारमार्गमें किसीभी प्रकारसे जिनेन्द्रदेवके इस तीक्ष्ण असिधारा समान उपदेशको प्राप्त करके भी जो मोह-राग-द्वेष पर अति दृढ़ता पूर्वक उसका प्रहार करता है वही हाथमें तलवार लिये हुए मनुष्यकी भांति शीघ्रही समस्त दुःखोंसे परिमुक्त होता है; अन्य (कोई) व्यापार (प्रयत्न; क्रिया) समस्त दुःखोंसे परिमुक्त नहीं करता । (जैसे मनुष्यके हाथमें तीक्ष्ण तलवार होने पर भी वह शत्रुओंपर अत्यन्त वेगसे उसका प्रहार करे तो ही वह शत्रु सम्बन्धी दुःखसे मुक्त होता है, अन्यथा नहीं इसप्रकार इस अनादि संसारमें महाभाग्यसे जिनेश्वर देवके उपदेशरूपी तीक्ष्ण तलवार को प्राप्त करके भी जो जीव मोह-राग-द्वेषरूपी शत्रुओंपर अतिदृढ़ता पूर्वक उसका प्रहार करता है वही सर्व दुःखोंसे मुक्त होता है अन्यथा नहीं) इसीलिये सम्पूर्ण प्रयत्न पूर्वक मोहका क्षय करनेके लिये मैं पुरुषार्थका आश्रय ग्रहण करता हूं ॥ ८८ ॥

अब, स्व-परके विवेककी (भेदज्ञानकी) सिद्धिसे ही मोहका क्षय होसकता है, इसलिये स्व परके विभागकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं :—

गाथा ८९

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**निश्चयतः**] निश्चयसे [**ज्ञानात्मकं आत्मानं**] ज्ञानात्मक ऐसे अपनेको [**च**] और [**परं**] परको [**द्रव्यत्वेन अभिसंबद्धम्**] निज निज द्रव्यत्वसे संबद्ध [**यदि जानाति**] जानता है [**सः**] वह [**मोह क्षयं करोति**] मोहका क्षय करता है ।

टीका:—जो निश्चयसे अपनेको स्वकीय (अपने) चैतन्यात्मक द्रव्यत्वसे संबद्ध (संयुक्त)

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमात्मानं परं च परकीयेन यथोचितेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति। अतः स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि ॥ ८९ ॥

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसंहरति—

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥९०॥

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मानं परं च द्रव्येषु ।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥ ९० ॥

इह खल्वागमनिगदितेष्वनन्तेषु गुणेषु कैश्चिद्गुणैरन्ययोगव्यवच्छेदकतयासाधारणतामुपादाय

और परको परकीय (दूसरेके) यथोचित्[1] द्रव्यत्वसे संबद्ध ही जानता है, वही (जीव), जिसने कि सम्यक्‌रूपसे स्व-परके विवेकको प्राप्त किया है, सम्पूर्ण मोहका क्षय करता है, इसलिये मैं स्व परके विवेकके लिये प्रयत्नशील हूँ ॥ ८९ ॥

अब, सब प्रकारसे स्वपरके विवेककी सिद्धि आगमसे करने योग्य है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं:-

गाथा ९०

अन्वयार्थः—[तस्मात्] इसलिये (स्व परके विवेकसे मोहका क्षय हो सकने योग्य होनेसे) **[यदि]** यदि **[आत्मा]** आत्मा **[आत्मनः]** अपनी **[निर्मोहं]** निर्मोहता **[इच्छति]** चाहता है तो **[जिनमार्गात्]** जिनमार्गसे **[गुणैः]** गुणोंके द्वारा **[द्रव्येषु]** द्रव्योंमें **[आत्मानं परं च]** स्व और परको **[अभिगच्छतु]** जानो (जिनागमके द्वारा विशेष गुणोंसे यह विवेक करो कि—अनन्त द्रव्योंमेंसे यह स्व और यह पर है)।

टीका—मोहका क्षय करनेके प्रति अभिमुख बुधजन इस जगतमें आगममें कथित अनन्तगुणोंमें से किन्हीं गुणोंके द्वारा—जो गुण अन्य[2] के साथ योग रहित होनेसे असाधारणता धारण करके विशेषत्वको प्राप्त हुए हैं उनके द्वारा—अनन्त द्रव्य परम्परामें स्व-परके विवेकको प्राप्त करो। (मोहका क्षय करनेके इच्छुक पंडितजन आगम कथित अनन्त गुणोंमेंसे असाधारण और भिन्नलक्षणभूत गुणोंके द्वारा अनन्त द्रव्य परम्परामें 'यह स्वद्रव्य है और यह परद्रव्य है' ऐसा विवेक करो), जो कि इस प्रकार है:—

[3]सत् और [4]अकारण होनेसे स्वतः सिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होनेसे स्व-परका

१—यथोचित=यथायोग्य-चेतन या अचेतन (पुद्गलादि द्रव्य पर-अचेतन द्रव्यत्वसे और अन्य आत्मा पर-चेतन द्रव्यत्वसे संबद्ध हैं) २—कितने ही गुण अन्य द्रव्योंके साथ सम्बन्ध रहित होनेसे अर्थात् अन्य द्रव्योंमें न होनेसे असाधारण हैं, और इसलिये विशेषणभूत-भिन्न लक्षणभूत है; उसके द्वारा द्रव्योंकी भिन्नता निश्चित की जा सकती है। ३—सत=अस्तित्ववाला; सत्‌रूप; सत्तावाला। ४—अकारण=जिसका कोई कारण न होय ऐसा अहेतुक, (चैतन्य सत् और अहेतुक होनेसे स्वयंसे ही सिद्ध है।

विशेषणतामुपगतैरनन्तायां द्रव्यसंततौ स्वपरविवेकमुपगच्छन्तु मोहप्रहाणप्रवणबुद्धयो लब्धवर्णाः। तथाहि—यदिदं सदकारणतया स्वतः सिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीयमसमानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यं जानामि। एवं पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणैर्द्रव्यमन्यदपहाय तस्मिन्नेव च वर्तमानैः सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यमाकाशं धर्ममधर्मं कालं पुद्गलमात्मान्तरं च निश्चिनोमि। ततो नाहमाकाशं न धर्मो नाधर्मो न च कालो न पुद्गलो नात्मान्तरं च भवामि, यतोऽमीष्वेकापवरकप्रबोधितानेकदीपप्रकाशेष्विव संभूयावस्थितेष्वपि मच्चैतन्यं स्वरूपादप्रच्युतमेव मां पृथगवगमयति। एवमस्य निश्चितस्वपरविवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ॥ ९० ॥

ज्ञायक—ऐसा जो यह मेरे साथ संबन्धवाला मेरा चैतन्य है उसके द्वारा–जो (चैतन्य) समानजातीय अथवा असमानजातीय अन्य द्रव्यको छोड़कर मेरे आत्मामें ही वर्तता है, उसके द्वारा मैं अपने आत्माको सकल त्रिकालमें[1] ध्रुवत्वका धारक द्रव्य जानता हूँ। इसप्रकार पृथक् रूपसे वर्तमान स्वलक्षणोंके द्वारा—जो अन्य द्रव्यको छोड़कर उसी द्रव्यमें वर्तते हैं उनके द्वारा–आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और अन्य आत्माको सकल त्रिकालमें ध्रुवत्व धारक द्रव्यके रूपमें निश्चित करता हूँ (जैसे चैतन्य लक्षणके द्वारा आत्माको ध्रुव द्रव्यके रूपमें जाना, उसी प्रकार अवगाह हेतुत्व, गति हेतुत्व इत्यादि लक्षणोंसे—जो कि स्वलक्ष्यभूत द्रव्यके अतिरिक्त अन्य द्रव्योंमें नहीं पाये जाते उनके द्वारा–आकाश, धर्मास्तिकाय इत्यादिको भिन्न २ ध्रुव द्रव्योंके रूपमें जानता हूँ) इसलिये मैं आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्गल नहीं हूँ और आत्मान्तर नहीं हूँ; क्योंकि—

मकानके एक कमरेमें जलाये गये अनेक दीपकोंके प्रकाशोंकी भांति[2] यह द्रव्य इकट्ठे होकर रहते हुए भी मेरा चैतन्य निजस्वरूपसे अच्युत ही रहता हुआ मुझे पृथक् बताता है।

इस प्रकार जिसने स्व–परका विवेक निश्चित किया है ऐसे आत्माके विकारकारी मोहांकुरका प्रादुर्भाव नहीं होता।

भावार्थः—स्व-परके विवेकसे मोहका नाश किया जा सकता है। वह स्वपरका विवेक, जिनागमके द्वारा स्व-परके लक्षणोंको यथार्थतया जानकर किया जा सकता है ॥ ९० ॥

१—सकलत्रिकाल=आत्मा कोई कालको बाकी रखे बिना संपूर्ण तीनों काल ध्रुव रहता ऐसा द्रव्य है।

२—जैसे किसी एक कमरेमें अनेक दीपक जलाये जायें तो स्थूलदृष्टिसे देखने पर उनका प्रकाश एक दूसरेमें मिला हुआ मालुम होता है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचारपूर्वक देखने पर वे सब प्रकाश भिन्न२ ही हैं; क्योंकि उनमेंसे एक दीपक बुझ जाने पर उसी दीपकका प्रकाश नष्ट होता है, अन्य दीपकोंके प्रकाश नष्ट नहीं होते; इसीप्रकार जीवादिक अनेक द्रव्य एक ही क्षेत्रमें रहते हैं फिर भी सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर वे सब भिन्न२ ही हैं एकमेक नहीं होते।

अथ जिनोदितार्थश्रद्धानमन्तरेण धर्मलाभो न भवतीति प्रतर्कयति—

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे ।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥ ९१ ॥

सत्तासंबद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये ।
श्रद्धाति न स श्रमणः ततो धर्मो न संभवति ॥ ९१ ॥

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लिष्टविशेषाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छिन्दन्नश्रद्धानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः । यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न संभूतिमनुभवति ॥ ९१ ॥

अब, न्यायपूर्वक यह विचार करते हैं कि—जिनेन्द्रोक्त अर्थोंके श्रद्धान विना धर्म लाभ (शुद्धात्म-अनुभवरूप धर्मप्राप्ति) नहीं होता:—

गाथा ९१

अन्वयार्थः—[**यः हि**] जो [**श्रामण्ये**] श्रमणावस्थामें [**एतान् सत्तासंबद्धान् सविशेषान्**] इन सत्ता संयुक्त सविशेष पदार्थोंकी [**न एव श्रद्दधाति**] श्रद्धा नहीं करता [**सः**] वह [**श्रमणः न**] श्रमण नहीं है; [**ततः धर्मः न संभवति**] उससे धर्मका उद्भव नहीं होता (उस श्रमणाभासके धर्म नहीं होता ।)

टीका:—जो (जीव) इन द्रव्योंको-जोकि सादृश्य अस्तित्व[1]के द्वारा समानताको धारण करते हुए स्वरूप-अस्तित्वके द्वारा विशेषयुक्त हैं उन्हें स्व-परके भेदपूर्वक न जानता हुआ और श्रद्धा न करता हुआ यों ही (ज्ञानश्रद्धाके विना) मात्र श्रमणतासे (द्रव्य मुनित्वसे) आत्माका दमन करता है वह वास्तवमें श्रमण नहीं है। इसलिये जैसे जिसे रेती और स्वर्णकणोंका अन्तर ज्ञात नहीं है, उसे धूलके धोनेसे—उसमेंसे स्वर्ण लाभ नहीं होता, इसी प्रकार उसमेंसे (श्रमणाभासमेंसे) निरुपराग (निर्विकार) आत्मतत्वकी उपलब्धि (प्राप्ति) लक्षणवाले धर्मलाभका उद्भव नहीं होता ।

भावार्थ:—जो जीव द्रव्यमुनित्वका पालनकरता हुआ भी स्वपरके भेद सहित पदार्थोंकी श्रद्धा नहीं करता, वह निश्चय-सम्यक्त्व पूर्वक परमसामायिक संयमरूप मुनित्वके अभावके कारण मुनि नहीं है; इसलिये जैसे जिसे रेती और स्वर्णकणका विवेक नहीं है, ऐसे धूलको धोनेवालेको चाहे जितना

१—अस्तित्व दो प्रकारका है—सादृश्य अस्तित्व और स्वरूप अस्तित्व । सादृश्य अस्तित्वकी अपेक्षासे सर्व द्रव्योंमें समानता है, और स्वरूप अस्तित्वकी अपेक्षासे समस्त द्रव्योंमें विशेषता है ।

अथ 'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इति प्रतिज्ञाय 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इति साम्यस्य धर्मत्वं निश्चित्य 'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इति यदात्मनो धर्मत्वमास्त्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुहं' इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तुमारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निर्ध्वस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूपं चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्योतयता संवेदनस्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम् । तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परमनिस्पृहामात्मतृप्तां पारमेश्वरीप्रवृत्तिमभ्युपगतः कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेषः स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते—

परिश्रम करने पर भी स्वर्णकी प्राप्ति नहीं होती, इसी प्रकार जिसे स्व और पर का विवेक नहीं है ऐसे उस द्रव्यमुनिको चाहे जितनी द्रव्यमुनित्वकी क्रियाओंका कष्ट उठानेपर भी धर्मकी प्राप्ति नहीं होती ॥९१॥

'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती'[1] इस प्रकार (पाँचवी गाथामें) प्रतिज्ञा करके 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो'[2] इसप्रकार (७वीं गाथामें) साम्यका धर्मत्व (साम्य ही धर्म है) निश्चित करके 'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं, तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो'[3] इस प्रकार (८वीं गाथामें) जो आत्माका धर्मत्व कहना प्रारम्भ किया और जिसकी सिद्धिके लिये 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो, पावदि णिव्वाणसुहं' इसप्रकार (११वीं गाथामें) निर्वाण-सुखके साधनभूत शुद्धोपयोगका अधिकार प्रारम्भ किया, विरोधी शुभाशुभ उपयोगको नष्ट किया (हेय बताया), शुद्धोपयोगका स्वरूप वर्णन किया, शुद्धोपयोगके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके सहज ज्ञान और आनन्दको समझाते हुये ज्ञानके स्वरूपका और सुखके स्वरूपका विस्तार किया, उसे (आत्माके धर्मत्वको) अब चाहे जैसे ही शुद्धोपयोगके प्रसादसे सिद्ध करके, परम निस्पृह आत्मतृप्त पारमेश्वरी[5]-प्रवृत्तिको प्राप्त होते हुये, कृतकृत्यताको प्राप्त करके अत्यन्त अनाकुल होकर जिनके भेदवासना (विकल्प-परिणाम) की प्रगटताका प्रलय हुआ है, ऐसे होते हुये (आचार्य भगवान) 'मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूं' इस प्रकार रहते हैं, (ऐसे भावमें निश्चल-स्थिर होते हैं) :—

१—अर्थ– मैं साम्यको प्राप्त करता हूँ, जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है । २—अर्थ–चारित्र वास्तवमें धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है, ऐसा (शास्त्रोंमें कहा है) । ३—अर्थ–द्रव्य जिसकालमें जिसभावरूप परिणमित होता है उस कालमें उस - मय है ऐसा (जिनेंद्रदेवने) कहा है; इसलिये धर्मपरिणत आत्माको धर्म जानना चाहिये । ४—अर्थ–धर्मपरिणत–स्वरूप वाला आत्मा यदि शुद्ध उपयोगमें युक्त हो तो मोक्षसुखको पाता है । ५—परकी स्पृहासे रहित और आत्मामें ही तृप्त, निश्चयरत्नत्रयमें लीनतारूप प्रवृत्ति ।

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥९२॥

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते ।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषितः श्रमणः ॥ ९२ ॥

यदयं स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव, तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री । सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मम पुनर्भावमापत्स्यते । ततो वीतरागचारित्रसूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वयं धर्मो भूत्वा निरस्तसमस्तप्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवावतिष्ठते । अलमतिविस्तरेण । स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे । स्वस्ति तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः । स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ॥ ९२ ॥

❀ मन्दाक्रांता छन्द ❀

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं

गाथा ९२

अन्वयार्थः—[यः आगमकुशलः] जो आगममें कुशल हैं, **[निहतमोहदृष्टिः]** जिसकी मोहदृष्टि हत हो गई है, और **[विरागचरितेअभ्युत्थितः]** जो वीतराग चारित्रमें आरूढ़ है, **[महात्मा श्रमणः]** उस महात्मा श्रमणको **[धर्मः इति विशेषितः]** (शास्त्रमें) 'धर्म' कहा है ।

टीका:—यह आत्मा स्वयं धर्म हो, यह वास्तव में मनोरथ है । उसमें विघ्न डालनेवाली एक (मात्र) बहिर्मोहदृष्टि (बहिर्मुख मोहदृष्टि) ही है । और वह (दृष्टि) आगमकौशल्य (आगममें कुशलता) से तथा आत्मज्ञानसे नष्ट हो चुकी है, इसलिये अब वह मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होगी । इसलिये वीतरागचारित्ररूपसे प्रगटता को प्राप्त (वीतरागचारित्ररूप पर्यायमें परिणत) मेरा यह आत्मा स्वयं धर्म होकर समस्त विघ्नोंका नाश हो जानेसे सदा निष्कंप ही रहता है । अधिक विस्तारसे पूरा पड़े ? जयवंतवर्तो स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म[1] ! जयवंतवर्तो शब्दब्रह्ममूलक[2] आत्मतत्त्वोपलब्धि;—कि जिसके प्रसादसे अनादि संसारसे बंधी हुई मोहग्रन्थि तत्काल ही छूट गई है; और जयवंतवर्तो परम वीतरागचारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग, कि जिसके प्रसादसे यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ है ॥ ९२ ॥

[अब (पांचवें) श्लोक द्वारा ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन अधिकारकी पूर्णाहुति की गई है ।]

अर्थ:—इस प्रकार शुद्धोपयोगको प्राप्त करके आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ अर्थात् स्वयं धर्मरूप

१—स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म=स्याद्वादकी छापवाला जिनेन्द्र भगवानका द्रव्यश्रुत । २—शब्दब्रह्ममूलक=शब्दब्रह्म जिसका मूल कारण है ।

नित्यानन्दप्रसरसरसं ज्ञानतत्त्वे निलीय ।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥ ५ ॥
निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत्
तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः ।
सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्त्या
प्रादुर्भूतिर्न भवति यथा जातु मोहांकुरस्य ॥ ६ ॥

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनो नाम प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥

परिणमित होता हुआ नित्य आनन्दके प्रसारसे सरस (शाश्वत आनन्दके प्रसारसे रसयुक्त) ज्ञानतत्वमें लीन होकर अत्यन्त अविचलताके कारण देदीप्यमान ज्योतिमय और सहजरूपसे विलसित (स्वभावसे ही प्रकाशित) रत्न दीपककी निष्कंप-प्रकाशमय शोभाको पाता है। (अर्थात् रत्नदीपककी भांति स्वभावसे ही निष्कंपतया अत्यन्त प्रकाशित होता-जानता रहता है)।

[अब (छट्टे) श्लोक द्वारा ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन नामक प्रथम अधिकारकी और ज्ञेयतत्व-प्रज्ञापन नामक दूसरे अधिकारकी संधि बताई जाती है]

अर्थ—आत्मारूपी अधिकरण (आश्रय) में रहने वाले ज्ञानतत्वका इस प्रकार यथार्थतया निश्चय करके, उसकी सिद्धिके लिये (केवलज्ञान प्रगट करनेके लिये) प्रशमके लक्षसे (उपशम प्राप्त करनेके हेतुसे) ज्ञेयतत्वको जाननेका इच्छुक (जीव) सर्व पदार्थोंको द्रव्य-गुण-पर्याय सहित जानता है, जिससे कभी मोहांकुरकी किंचित् मात्र भी उत्पत्ति न हो।

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्रीप्रवचनसारशास्त्रकी श्रीमद्अमृतचंद्राचार्यदेवविरचित 'तत्व दीपिका' नामक टीकामें 'ज्ञानतत्व प्रज्ञापन' नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

ज्ञेयतत्त्व–प्रज्ञापन

अथ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनं, तत्र पदार्थस्य सम्यग्द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥ ९३ ॥

अर्थः खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि।
तैस्तु पुनः पर्यायाः पर्ययमूढा हि परसमयाः ॥ ९३ ॥

इह किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना

ज्ञेयतत्त्व–प्रज्ञापन

अब ज्ञेयतत्त्वका प्रज्ञापन करते हैं, अर्थात् ज्ञेयतत्त्व बतलाते हैं। उसमें (प्रथम) पदार्थका सम्यक् (यथार्थ) द्रव्यगुणपर्यायस्वरूप वर्णन करते हैं:—

गाथा ९३

अन्वयार्थः—[**अर्थः खलु**] पदार्थ [**द्रव्यमयः**] द्रव्यस्वरूप है; [**द्रव्याणि**] द्रव्य [**गुणात्मकानि**] गुणात्मक [**भणितानि**] कहे गये हैं; [**तैः तु पुनः**] और द्रव्य तथा गुणोंसे [**पर्यायाः**] पर्याय होती हैं। [**पर्यायमूढाः हि**] पर्यायमूढ जीव [**परसमयाः**] परसमय (मिथ्यादृष्टि) हैं।

टीकाः—इस विश्वमें जो कोई जाननेमें आनेवाला पदार्थ है वह समस्त ही

द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमयः। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वाद्गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि। तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः। स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च। तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि। गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः। सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च। तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः, विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः। अथेदं दृष्टान्तेन द्रढयति—यथैव हि सर्व एव पटोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन चाभिनिर्वर्त्यमानस्तन्मय एव, तथैव हि सर्व एव पदार्थोऽवस्थायिना विस्तार-

---

विस्तारसामान्यसमुदायात्मक[1] और आयतसामान्यसमुदायात्मक[2] द्रव्यसे रचित होनेसे द्रव्यमय (द्रव्यस्वरूप) है। और द्रव्य एक[3] जिनका आश्रय हैं ऐसे विस्तारविशेषस्वरूप गुणोंसे रचित होनेसे गुणात्मक है।

और पर्यायें—जो कि आयतविशेष स्वरूप हैं वे—जिनके लक्षण (ऊपर) कहे गये हैं ऐसे द्रव्योंसे तथा गुणोंसे रचित होने से द्रव्यात्मक भी हैं, गुणात्मक भी हैं। उसमें, अनेक द्रव्यात्मक एकताकी प्रतिपत्तिकी[4] कारणभूत द्रव्यपर्याय है। वह दो प्रकार है। (१) समानजातीय और (२) असमानजातीय। उसमें (१) समानजातीय वह है,—जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक[5] त्रिअणुक इत्यादि; (२) असमानजातीय वह है, जैसे कि जीव-पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि। गुण द्वारा आयतकी अनेकताकी प्रतिपत्तिकी कारणभूत गुणपर्याय है। वह भी दो प्रकार है। (१) स्वभावपर्याय, और (२) विभावपर्याय। उसमें, समस्त द्रव्योंके अपने अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप अनेकत्वकी अनुभूति स्वभावपर्याय है; (२) रूपादिके या ज्ञानादिके स्व परके

१—विस्तार सामान्य समुदाय=विस्तारसामान्यरूप समुदाय। विस्तारका अर्थ है चौड़ाई। द्रव्यकी चौड़ाईकी अपेक्षाके (एकसाथ रहनेवाले, सहभावी) भेदोंको (विस्तारविशेषोंको) गुण कहा जाता है; जैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र इत्यादि जीवद्रव्यके विस्तारविशेष अर्थात् गुण हैं। उन विस्तारविशेषोंमें रहनेवाले विशेषत्वको गौण करें तो इन सबमें एक आत्मस्वरूप सामान्यत्व भासित होता है। यह विस्तारसामान्य (अथवा विस्तारसामान्यसमुदाय) वह द्रव्य है। २—आयतसामान्यसमुदाय=आयतसामान्यरूप समुदाय। आयतका अर्थ है लम्बाई अर्थात् कालापेक्षितप्रवाह। द्रव्यके लम्बाईकी अपेक्षाके (एकके बाद एक प्रवर्तमान, क्रमभावी, कालापेक्षित) भेदोंको (आयत विशेषोंको) पर्याय कहा जाता है। उन क्रमभावी पर्यायोंमें प्रवर्तमान विशेषत्वको गौण करें तो एक द्रव्यत्वस्वरूप सामान्यत्व ही भासित होता है। यह आयतसामान्य (अथवा आयतसामान्य समुदाय) वह द्रव्य है। ३—अनन्तगुणोंका आश्रय एक द्रव्य है। ४—प्रतिपत्ति=प्राप्ति; ज्ञान; स्वीकार। ५—द्विअणुक=दो अणुओंसे बना हुआ स्कंध।

सामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन च द्रव्यनाम्नाभिनिर्वर्त्यमानो द्रव्यमय एव यथैव च पटेऽवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव, तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव। यथैव चानेकपटात्मको द्विपटिका त्रिपटिकेति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः। यथैव चानेककौशेयककार्पासमयपटात्मको द्विपटिकात्रिपटिकेत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकजीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः। यथैव च क्वचित्पटे स्थूलात्मीयागुरु-

---

कारण[1] प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होने वाले तारतम्यके कारण देखनेमें आनेवाले स्वभाव विशेषरूप अनेकत्वकी आपत्ति[2] विभावपर्याय है।

अब यह (पूर्वोक्त) कथन दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं:—

जैसे सम्पूर्ण पट अवस्थायी (स्थिर) विस्तारसामान्यसमुदायसे और दौड़ते (बहते, प्रवाहरूप) हुये आयतसामान्यसमुदायसे रचित होता हुआ-तन्मय ही है, इसीप्रकार सम्पूर्ण पदार्थ 'द्रव्य' नामक अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायसे और दौड़ते हुये आयतसामान्यसमुदायसे रचित होता हुआ द्रव्यमय ही है। और जैसे पटमें, अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदाय या दौड़ते हुये आयतसामान्यसमुदाय गुणोंसे रचित होता हुआ गुणोंसे पृथक् अप्राप्त होनेसे गुणात्मक ही है, उसीप्रकार पदार्थोंमें, अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदाय या दौड़ता हुआ आयतसामान्यसमुदाय-जिसका नाम 'द्रव्य' है वह—गुणोंसे रचित होता हुआ गुणोंसे पृथक् अप्राप्त होनेसे गुणात्मक ही है। और जैसे अनेक पटात्मक (एकसे अधिक वस्त्रोंसे निर्मित) द्विपटिक[3], त्रिपटिक समानजातीय द्रव्यपर्याय है, उसीप्रकार अनेक पुद्गलात्मक द्वि-अणुक, त्रि-अणुक ऐसी समानजातीय द्रव्यपर्याय है; और जैसे अनेक रेशमी और सूती पटोंके बने हुए द्विपटिक, त्रिपटिक ऐसी असमानजातीय द्रव्यपर्याय है, उसी प्रकार अनेक जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य ऐसी असमानजातीय द्रव्य पर्याय है। और जैसे कभी पटमें अपने स्थूल अगुरुलघुगुणद्वारा कालक्रमसे प्रवर्तमान अनेक प्रकाररूपसे परिणमित होनेके कारण अनेकत्वकी प्रतिपत्ति गुणात्मक स्वभावपर्याय है, उसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें अपने अपने सूक्ष्म अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप अनेकत्वकी अनुभूति गुणात्मक स्वभावपर्याय है; और जैसे पटमें, रूपादिकके स्व-परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होनेवाले तारतम्यके कारण देखनेमें आने वाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्वकी आपत्ति गुणात्मक विभावपर्याय है, उसीप्रकार समस्त द्रव्योंमें,

---

१—स्व उपादान और पर निमित्त है। २—आपत्ति=आपतित, आपड़ना। ३—द्विपटिक=दो थानोंको जोड़कर (सींकर) बनाया गया एक वस्त्र [यदि दोनों थान एक ही जातिके हों तो समानजातीय द्रव्यपर्याय कहलाता है, और यदि दो थान भिन्न जातिके हों (जैसे एक रेशमी और दूसरा सूती) तो असमानजातीय द्रव्यपर्याय कहलाता है।]

लघुगुणद्वारेण कालक्रमप्रवृत्तेन नानाविधेन परिणमनान्नात्वप्रतिपत्तिगुणात्मकः स्वभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु सूक्ष्मात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः गुणात्मकः स्वभावपर्यायः। यथैव च पटे रूपादीनां स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिगुणात्मको विभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिगुणात्मकोविभावपर्यायः। इयं हि सर्वपदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा। यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छन्तः परसमया भवन्ति ॥ ९३ ॥

अथानुषङ्गिकीमिमामेव स्वसमयपरसमयव्यवस्थां प्रतिष्ठाप्योपसंहरति—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥९४॥

रूपादिके या ज्ञानादिके स्व-परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होनेवाले तारतम्यके कारण देखनेमें आनेवाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्वकी आपत्तिगुणात्मक विभाव-पर्याय है।

वास्तवमें यह, सर्व पदार्थोंके द्रव्यगुणपर्यायस्वभावकी प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था भली-उत्तम-पूर्ण-योग्य है, दूसरी कोई नहीं; क्योंकि बहुतसे (जीव) पर्यायमात्रका ही अवलम्बन करके, तत्त्व की अप्रतिपत्ति जिसका लक्षण है ऐसे मोहको प्राप्त होते हुये परसमय होते हैं।

भावार्थः—पदार्थ द्रव्यस्वरूप है। द्रव्य अनन्तगुणमय है। द्रव्यों और गुणोंसे पर्यायें होती हैं। पर्यायोंके दो प्रकार हैं:— १-द्रव्यपर्याय, २-गुणपर्याय। इनमेंसे द्रव्यपर्यायके दो भेद हैं:— १-समानजातीय,-जैसे द्विअणुक, त्रिअणुक इत्यादि स्कन्ध; २-असमानजातीय,-जैसे मनुष्य देव इत्यादि। गुणपर्यायके भी दो भेद हैं:—१-स्वभावपर्याय,-जैसे सिद्धपर्याय; २-विभावपर्याय,-जैसे मतिज्ञान।

ऐसा जिनेन्द्र भगवानकी वाणीसे कथित सर्वपदार्थोंका द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप ही यथार्थ है। जो जीव द्रव्य-गुणको न जानते हुये मात्र पर्यायको ही आलम्बन लेते हैं वे निज स्वभावको न जानते हुये पर समय हैं। ॥ ९३ ॥

अब *आनुषंगिक ऐसी यह ही स्वसमय-परसमयकी व्यवस्था (भेद) निश्चित करके (उसका) उपसंहार करते हैं:—

गाथा ९४

अन्वयार्थः—[ये जीवाः] जो जीव **[पर्यायेषु निरताः]** पर्यायोंमें लीन हैं

---

*आनुषंगिक=पूर्व गाथाके कथनके साथ संबंधवाली।

ये पर्यायेषु निरता जीवाः परसमयिका इति निर्दिष्टाः ।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया ज्ञातव्याः ॥९४॥

ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसंभावनक्लीवास्तस्मिन्नेवाशक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवैतन्मनुष्यशरीरमित्यहङ्कारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा संगतत्वात्परसमया जायन्ते। ये तु पुनरसंकीर्णद्रव्यगुणपर्यायसुस्थितं भगवंतमात्मनः स्वभावं सकलविद्यानामेकमूलमुपगम्य यथोदितात्मस्वभावसंभावनसमर्थतया पर्यायमात्राशक्तिमत्यस्यात्मनः स्वभाव एव स्थितिमासूत्रयन्ति, ते खलु सहजविजृम्भितानेकान्तदृष्टिप्रक्षपितसमस्तैकान्तदृष्टिपरिग्रहग्रहा मनुष्यादिगतिषु तद्विग्रहेषु चाविहिताहङ्कारममकारा अनेकापवरकसंचारितरत्नप्रदीपमिवैकरूपमेवात्मानमुपलभमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमनाश्रयन्तो विश्रा-

---

[परसमयिकाः इति निर्दिष्टाः] उन्हें पर-समय कहागया है [आत्मस्वभावे स्थिताः] जो जीव आत्मस्वभावमें स्थित हैं [ते] वे [स्वकसमयाः ज्ञातव्याः] स्व-समय जानने ।

टीका:—जो जीवपुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायका जो कि सकल अविद्याओंकी एक जड़ है, उसका आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभावकी संभावना[1] करनेमें नपुंसक होनेसे उसीमें बल धारण करते हैं (अर्थात् उन असमानजातीय द्रव्य-पर्यायोंके प्रति ही बलवान हैं), वे जिनकी निरर्गल[2] एकान्तदृष्टि उछलती है, ऐसे–'यह मैं मनुष्य ही हूं, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है' इसप्रकार अहंकार-ममकारसे ठगाये जाते हुये, अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहारसे[3] च्युत होकर, जिसमें समस्त क्रियाकलापको छातीसे लगाया जाता है ऐसे मनुष्यव्यवहारका[4] आश्रय करके रागी-द्वेषी, होते हुए पर द्रव्यरूप कर्मके साथ संगतताके कारण (परद्रव्यरूप कर्मके साथ युक्त होजानेसे) वास्तवमें परसमय[5] होते हैं, अर्थात् परसमयरूप परिणमित होते हैं।

और जो असंकीर्ण[6] द्रव्य गुण-पर्यायोंसे सुस्थित भगवान आत्माके स्वभावका-जो कि सकल विद्याओंका एक मूल है उसका-आश्रय करके यथोक्त आत्मस्वभावकी संभावनामें समर्थ होनेसे पर्यायमात्र प्रतिके बलको दूर करके आत्माके स्वभावमें ही स्थिति करते हैं (लीन होते हैं), वे-जिन्होंने सहज-

---

१—संभावना=संचेतन; अनुभव; मान्यता; आदर। २—निरर्गल=अंकुश विना की; बेहद (जो मनुष्यादि पर्यायमें लीन हैं, वे बेहद एकांतदृष्टि रूप हैं। ३—आत्मव्यवहार=आत्मारूप वर्तन, आत्मारूप कार्य, आत्मारूप व्यापार। ४—मनुष्यव्यवहार=मनुष्यरूप वर्तन (मैं मनुष्य ही हूं। ऐसी मान्यतापूर्वक वर्तन)। ५—जो जीव परके साथ एकत्वकी मान्यतापूर्वक युक्त होता है, उसे परसमय कहते हैं। ६—असंकीर्ण=एकमेक नहीं ऐसे; स्पष्टतया भिन्न। [भगवान् आत्मस्वभाव स्पष्ट भिन्न-परके साथ एकमेक नहीं ऐसे-द्रव्यगुणपर्यायोंसे सुस्थित है]।

न्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदासीन्यमवलंबमाना निरस्तसमस्तपरद्रव्यसंगतितया स्वद्रव्येणैव केवलेन संगतत्वात्स्वसमया जायन्ते। अतः स्वसमय एवात्मनस्तत्त्वम् ॥ ९४ ॥

अथ द्रव्यलक्षणमुपलक्षयति—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥ ९५ ॥

विकसित अनेकान्तदृष्टिसे समस्त एकान्तदृष्टिके परिग्रहके[1] आग्रह प्रक्षीण कर दिये हैं, ऐसे–मनुष्यादि गतियोंमें और उन गतियोंके शरीरोंमें अहंकार-ममकार न करके अनेक कक्षों (कमरों) में संचारित[2] रत्न-दीपककी भांति एकरूप ही आत्माको उपलब्ध (अनुभव) करते हुये, अविचलितचेतनाविलासमात्र-आत्मव्यवहारको अंगीकार करके, जिसमें समस्त क्रियाकलापसे भेंट की जाती है ऐसे मनुष्यव्यवहार का आश्रय नहीं करते हुवे, रागद्वेषका उन्मेष (प्राकट्य) रुक जानेसे परम उदासीनताका आलंबन लेते हुये, समस्त परद्रव्योंकी संगति दूर करदेनेसे मात्र स्वद्रव्यके साथ ही संगतता होनेसे वास्तवमें स्व-समय[3] होते हैं, अर्थात् स्वसमयरूप परिणमित होते हैं।

इसलिये स्वसमय ही आत्माका तत्व है।

भावार्थ:—'मैं मनुष्य हूं, शरीरादिकी समस्त क्रियाओंको मैं करता हूँ, स्त्री-पुत्र-धनादिके ग्रहण त्यागका मैं स्वामी हूँ' इत्यादि मानना सो मनुष्य व्यवहार (मनुष्यरूप प्रवृत्ति) है। 'मात्र अचलित चेतना वह ही मैं हूँ' ऐसा मानना–परिणमित होना सो आत्मव्यवहार (आत्मारूप प्रवृत्ति) है।

जो मनुष्यादिपर्यायमें लीन हैं, वे एकान्तदृष्टिवाले लोग मनुष्यव्यवहारका आश्रय करते हैं, इसलिये रागी-द्वेषी होते हैं, और इसप्रकार परद्रव्यरूप कर्मके साथ संबंध करते होनेसे वे परसमय हैं; और जो भगवान् आत्मस्वभावमें ही स्थित हैं वे अनेकान्तदृष्टिवाले लोग मनुष्यव्यवहारका आश्रय नहीं करके आत्मव्यवहारका आश्रय करते हैं, इसलिये रागी-द्वेषी नहीं होते अर्थात् परम उदासीन रहते हैं; और इसप्रकार परद्रव्यरूप कर्मके साथ संबंध न करके मात्र स्वद्रव्यके साथ ही संबन्ध करते हैं, इसलिये वे स्वसमय हैं॥ ९४ ॥

अब द्रव्यका लक्षण बतलाते हैं:—

गाथा ९५

अन्वयार्थ:—[अपरित्यक्तस्वभावेन] स्वभावको छोड़े विना [यत्] जो

१—परिग्रह=स्वीकार; अंगीकार। २—संचारित=लेजाये गये। (जैसे भिन्न-भिन्न कमरोंमें लेजाया गया रत्नदीपक एकरूपही है, वह किंचित्मात्रभी कमरेके रूपमें नहीं होता, और न कमरेकी क्रिया करता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरोंमें प्रविष्ट होने वाला आत्मा एकरूप ही है, वह किंचित्मात्र भी शरीररूप नहीं होता, और न शरीरकी क्रिया करता है,—इसप्रकार ज्ञानी जानता है।) ३—जो जीव स्वके साथ एकत्वकी मान्यतापूर्वक (स्व के साथ) युक्त होता है उसे स्व-समय कहा जाता है।

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम् ।
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥९५॥

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम् । तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः, अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविधं, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति । तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः । गुणा विस्तारविशेषाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात् । तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः । अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः । पर्याया आयतविशेषाः, ते पूर्वमेवोक्ताश्चतुर्विधाः । न च तैरुत्पादादिभिर्गुणपर्या-

[उत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है [च] तथा [गुणवत् सपर्यायं] गुणयुक्त और पर्यायसहित है, [तत्] उसे [द्रव्यम् इति] 'द्रव्य' [ब्रुवन्ति] कहते हैं ।

टीका:—यहाँ (इस विश्वमें) जो, स्वभावभेद किये विना, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्रयसे[1] और गुण-पर्यायद्वयसे[2] लक्षित[3] होता है वह द्रव्य है । इनमेंसे (स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्यायमें से) द्रव्यका स्वभाव वह अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय[4] है; अस्तित्व दो प्रकारका कहेंगे:—१–स्वरूप-अस्तित्व । २–सादृश्य-अस्तित्व । उत्पाद, प्रादुर्भाव (प्रगट होना—उत्पन्न होना) है; व्यय, प्रच्युति (भ्रष्ट-नष्ट होना) है; ध्रौव्य, अवस्थिति (ठिकाना) है; गुण, विस्तारविशेष हैं । वे सामान्य-विशेषात्मक होने से दो प्रकारके हैं । इनमें, अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व असर्वगतत्व सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्यगुण हैं । अवगाह हेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं । पर्याय आयतविशेष हैं । वे पूर्व ही (९३वीं गाथाकी टीकामें) कथित चार प्रकारकी हैं ।

द्रव्यका उन उत्पादादिके साथ अथवा गुणपर्यायोंके साथ लक्ष्यलक्षण भेद होने पर भी स्वरूप-भेद नहीं है । स्वरूपसे ही द्रव्य वैसा (उत्पादादि अथवा गुणपर्याय वाला) है; वस्त्रके समान ।

१—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्रय=उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—यह त्रिपुटी (तीनोंका समूह) । २—गुणपर्यायद्वय=गुण और पर्याय—यह युगल (दोनोंका समूह) ३—लक्षित होता है=लक्ष्य रूप होता है, पहिचाना जाता है । [(१) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तथा (२) गुणपर्याय वे लक्षण हैं और द्रव्य वह लक्ष्य है ।] ४—अस्तित्व-सामान्यरूप अन्वय=है, है, है, ऐसा एकरूप भाव द्रव्यका स्वभाव है । (अन्वय=एकरूपता, सदृशभाव ।)

यैर्वा सह द्रव्यं लक्ष्यलक्षणभेदेऽपि स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव द्रव्यस्य तथाविधत्वादुत्तरीयवत् । यथा खलूत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधित्वमवलम्बते । तथा द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसन्निधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनांतरङ्गसाधनतामुपागतेनानुग्रहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा तदेव द्रव्यमप्युत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमेककालममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्योत्तरीयत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्येककालमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्या द्रव्यत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च

जैसे मलिन अवस्थाको प्राप्त वस्त्र, धोनेपर निर्मल अवस्थासे (निर्मल अवस्थारूप, निर्मल अवस्थाकी अपेक्षासे) उत्पन्न होता हुआ उस उत्पादसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूप भेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है (अर्थात् स्वयं उत्पादरूपसे ही परिणत है); उसीप्रकार जिसने पूर्व अवस्था प्राप्त की है ऐसा द्रव्य भी-जो कि उचित बहिरंग साधनोंके सान्निध्य (निकटता; हाजरी) के सद्भावमें अनेक प्रकारकी बहुतसी अवस्थायें करता है वह—अन्तरंगसाधनभूत[1] स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरणके सामर्थ्यरूप स्वभावसे अनुगृहीत होने पर, उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ वह उत्पादसे लक्षित होता है; किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है। और जैसे वही वस्त्र निर्मल अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ और मलिन अवस्थासे व्ययको प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्ययके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है; उसी प्रकार वही द्रव्य भी उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ और पूर्व अवस्थासे व्ययको प्राप्त होता हुआ उस व्ययसे लक्षित होता है; परन्तु उसका उस व्ययके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है। और जैसे वही वस्त्र एक ही समयमें निर्मल अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ, मलिन अवस्थासे व्ययको प्राप्त होता हुआ और टिकनेवाली वस्त्रत्व-अवस्थासे ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्यसे लक्षित होता है; परन्तु उसका उस ध्रौव्यके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है; इसीप्रकार वही द्रव्यभी एकही

१—द्रव्यमें निजमें ही स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरण होनेकी सामर्थ्य है। यह सामर्थ्यस्वरूप स्वभाव ही अपने परिणमनमें (अवस्थांतर करनेमें) अन्तरंग साधन है।

तदेवोत्तरीयं विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमपि विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमायतविशेषात्मकैः पर्यायवर्तिभिस्तन्तुभिर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्यायतविशेषात्मकैः पर्यायैर्लक्ष्यते । न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते ॥ ९५ ॥

अथ क्रमेणास्तित्वं द्विविधमभिदधाति स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति तत्रेदं स्वरूपास्तित्वाभिधानम्—

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ ९६ ॥

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः स्वकपर्ययैश्चित्रैः ।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ॥९६॥

समय उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्थासे व्यय होता हुआ, और टिकनेवाली द्रव्यत्व-अवस्थासे ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्यसे लक्षित होता है । किन्तु उसका उस ध्रौव्यके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है ।

और जैसे वही वस्त्र विस्तारविशेषस्वरूप (शुक्लत्वादि) गुणोंसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उन गुणोंके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वह वैसा है; इसीप्रकार वही द्रव्य भी विस्तारविशेष-स्वरूप गुणोंसे लक्षित होता है; किन्तु उसका उन गुणोंके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है । और जैसे वही वस्त्र आयतविशेषस्वरूप पर्यायवर्ती (पर्यायस्थानीय) तंतुओंसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उन तंतुओंके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है । उसीप्रकार वही द्रव्यभी आयतविशेषस्वरूप पर्यायोंसे लक्षित होता है, परन्तु उसका उन पर्यायोंके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है ॥ ९५ ॥

अब अनुक्रमसे दो प्रकारका अस्तित्व कहते हैं । स्वरूप-अस्तित्व और सादृश्य-अस्तित्व । इनमेंसे यह स्वरूपास्तित्वका कथन है:—

गाथा ९६

अन्वयार्थः—[सर्वकालं] सर्वकालमें **[गुणैः]** गुण तथा **[चित्रैः स्वकपर्यायैः]** अनेक प्रकारकी अपनी पर्यायोंसे **[उत्पादव्ययध्रुवत्वैः]** और उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे **[द्रव्यस्य सद्भावः]** द्रव्यका जो अस्तित्व है **[हि]** वह वास्तवमें **[स्वभावः]** स्वभाव है ।

अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततयाहेतुकयैक-रूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च भावभाववद्भावान्नानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद्-द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत्। तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुण-पर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते। यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत्। यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पीततादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्ति-युक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनु-

---

टीकाः—अस्तित्व वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है; और वह (अस्तित्व) अन्य साधनसे निरपेक्ष[1] होनेके कारण अनादि-अनन्त होनेसे तथा अहेतुक[2], एकरूप वृत्तिसे[3] सदा ही प्रवर्तता होनेके कारण विभावधर्मसे विलक्षण होनेसे, भाव और भाववानताके[4] कारण अनेकत्व होने पर भी प्रदेशभेद न होनेसे द्रव्यकेसाथ एकत्वको धारण करता हुआ, द्रव्यका स्वभाव ही क्यों न हो? (अवश्य होवे।) वह अस्तित्व-जैसे भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें प्रत्येकमें समाप्त होजाता है, उसीप्रकार-द्रव्य-गुण-पर्यायमें प्रत्येकमें समाप्त नहीं होजाता, क्योंकि उनकी सिद्धि परस्पर होती है, इसलिये (अर्थात् द्रव्यगुण और पर्याय एक दूसरे से परस्पर सिद्ध होते हैं इसलिये,—यदि एक न हो तो दूसरे दो भी सिद्ध नहीं होते, इसलिये) उनका अस्तित्व एक ही है; सुवर्णकी भांति।

जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल या भावसे सुवर्णसे[5] जो पृथक दिखाई नहीं देते; कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे पीतत्वादि गुणोंके और कुण्डलादि पर्यायोंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान सुवर्णके अस्तित्वसे जिनकी उत्पत्ति होती है,—ऐसे पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायोंसे जो सुवर्णका अस्तित्व है वह (उसका) स्वभाव है; इसीप्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, या भावसे जो द्रव्यसे पृथक दिखाई नहीं देते, कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे[6] गुणोंके और पर्यायोंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान द्रव्यके अस्तित्वसे जिनकी उत्पत्ति होती है,—ऐसे गुणों और पर्यायोंसे जो द्रव्यका अस्तित्व है वह स्वभाव है।

(द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे सुवर्णसे भिन्न न दिखाई देनेवाले पीतत्वादिक और कुण्ड-लादिकका अस्तित्व वह सुवर्णका ही अस्तित्व है, क्योंकि पीतत्वादिकके और कुण्डलादिकके स्वरूपको सुवर्ण ही धारण करता है, इसलिये सुवर्णके अस्तित्वसे ही पीतत्वादिककी और कुण्डलादिककी निष्पत्ति-

---

१—अस्तित्व अन्य साधनकी अपेक्षासे रहित—स्वयंसिद्ध है, इसलिये अनादि-अनन्त है। २—अहेतुक= अकारण, जिसका कोई कारण नहीं है ऐसी। ३—वृत्ति=वर्तन; वर्तना वह; परिणति। (अकारणिक एकरूप परिणतिसे सदाकाल परिणमता होनेसे अस्तित्व विभावधर्मसे भिन्नलक्षण वाला है।) ४—अस्तित्व तो (द्रव्य का) भाव है और द्रव्य भाववान् है। ५—पीतत्वादि गुण और कुण्डलादि पर्यायें। ६—द्रव्य ही गुण—पर्यायोंका कर्ता (करनेवाला), उनका करण (साधन) और उनका अधिकरण (आधार) है; इसलिये द्रव्यही गुण-पर्यायका स्वरूप धारण करता है।

पलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा पीततादिगुणेभ्यः कुण्डलादिपर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः।

सिद्धि-होती है; सुवर्ण न हो तो पीतत्वादिक और कुण्डलादिक भी न हों। इसीप्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे द्रव्यसे भिन्न नहीं दिखाई देनेवाले गुणों और पर्यायोंका अस्तित्व वह द्रव्यका ही अस्तित्व है, क्योंकि गुणों और पर्यायोंके स्वरूपको द्रव्य ही धारण करता है, इसलिये द्रव्यके अस्तित्वसे ही गुणोंकी और पर्यायोंकी निष्पत्ति होती है; द्रव्य न हो तो गुण और पर्यायें भी न हों। ऐसा अस्तित्व वह द्रव्यका स्वभाव है।)

अथवा, जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे जो (-सुवर्ण) पीतत्वादि गुणोंसे और कुण्डलादि पर्यायोंसे पृथक् नहीं दिखाई देता; कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे सुवर्णके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायोंसे जिसकी निष्पत्ति होती है,—ऐसे सुवर्णका, मूलसाधनपनेसे उनसे[1] निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है वह स्वभाव है; इसीप्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे गुणोंसे और पर्यायोंसे जो पृथक नहीं दिखाई देता, कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे[2] द्रव्यके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान गुणों और पर्यायोंसे जिसकी निष्पत्ति होती है,—ऐसे द्रव्यका, मूलसाधनपनेसे उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है वह स्वभाव है।

(पीतत्वादिकसे और कुण्डलादिकसे भिन्न न दिखाई देनेवाले सुवर्णका अस्तित्व वह पीतत्वादिक और कुण्डलादिकका ही अस्तित्व है, क्योंकि सुवर्णके स्वरूपको पीतत्वादिक और कुण्डलादिक ही धारण करते हैं, इसलिये पीतत्वादिक और कुण्डलादिकके अस्तित्वसे ही सुवर्णकी निष्पत्ति होती है। पीतत्वादिक और कुण्डलादिक न हों तो सुवर्ण भी न हो; इसीप्रकार गुणोंसे और पर्यायोंसे भिन्न न दिखाई देनेवाले द्रव्यका अस्तित्व वह गुणों और पर्यायोंका ही अस्तित्व है; क्योंकि द्रव्यके स्वरूपको गुण और पर्यायें ही धारण करती हैं इसलिये गुण और पर्यायोंके अस्तित्वसे ही द्रव्यकी निष्पत्ति होती है। यदि गुण और पर्यायें न हों तो द्रव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व वह द्रव्यका स्वभाव है।)

१—उनसे=पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायोंसे। (सुवर्णका अस्तित्व निष्पन्न होनेमें, उपजनेमें, या सिद्ध होनेमें मूलसाधन पीतत्वादि गुण और कुण्डलादि पर्यायें हैं।) २—गुण-पर्यायें ही द्रव्यकी कर्ता, करण और अधिकरण हैं; इसलिये गुण-पर्यायें ही द्रव्यका स्वरूप धारण करती हैं।

किंच—यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाङ्गदपीततात्युत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीततात्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः। यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीततात्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीत-

---

(जिसप्रकार द्रव्यका और गुण-पर्यायका एकही अस्तित्व है ऐसा सुवर्णके दृष्टान्त पूर्वक समझाया, उसीप्रकार अब सुवर्णके दृष्टान्त पूर्वक ऐसा बताया जा रहा है कि द्रव्यका और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका भी एक ही अस्तित्व है।)

जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे जो[1] पृथक् नहीं दिखाई देते, कर्ता-करण-अधिकरणरूप[2] से कुण्डलादि उत्पादोंके, बाजूबंधादि व्ययोंके और पीतत्वादि ध्रौव्योंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान सुवर्णके अस्तित्वसे जिनकी निष्पत्ति होती है,-ऐसे कुण्डलादि उत्पाद, बाजूबंधादि व्यय और पीतत्वादि ध्रौव्योंसे जो सुवर्णका अस्तित्व है वह (सुवर्णका) स्वभाव है। इसीप्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे जो द्रव्यसे पृथक् दिखाई नहीं देते, कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योंके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान द्रव्यके अस्तित्वसे जिनकी निष्पत्ति होती है,—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योंसे जो द्रव्य का अस्तित्व है वह स्वभाव है।

(द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे द्रव्यसे भिन्न दिखाई न देनेवाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यों का अस्तित्व है वह द्रव्यका ही अस्तित्व है; क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्योंके स्वरूपको द्रव्यही धारण करता है, इसलिये द्रव्यके अस्तित्वसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्योंकी निष्पत्ति होती है। यदि द्रव्य न हो तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी न हों। ऐसा अस्तित्व वह द्रव्य का स्वभाव है।)

अथवा, जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे कुण्डलादि- उत्पादोंसे बाजूबंधादि व्ययोंसे और पीतत्वादि ध्रौव्योंसे जो पृथक नहीं दिखाई देता; कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे सुवर्णके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान कुण्डलादि उत्पादों, बाजूबंधादि व्ययों और पीतत्वादि ध्रौव्योंसे जिसकी निष्पत्ति होती है,—ऐसे सुवर्णका, मूलसाधनपनेसे उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह स्वभाव है। इसी

१—जो=कुण्डलादि उत्पाद, बाजूबंधादि व्यय और पीतादि ध्रौव्य। २—सुवर्ण ही कुण्डलादि-उत्पाद, बाजूबंधादि-व्यय और पीतत्वादि ध्रौव्यका कर्ता, करण तथा अधिकरण है; इसलिये सुवर्ण ही उनका स्वरूप धारण करता है। (सुवर्ण ही कुण्डलादि रूपसे उत्पन्न होता है, बाजूबंधादिरूपसे नष्ट होता है और पीतत्वादि रूपसे अवस्थित रहता है।)

ताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः ॥ ९६ ॥

इदं तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति—

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं ।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥९७॥

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम् ।
उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥ ९७ ॥

प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योंसे जो पृथक् दिखाई नहीं देता, कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे[1] द्रव्यके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योंसे जिसकी निष्पत्ति होती है,—ऐसे द्रव्यका मूल साधनपनेसे उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह स्वभाव है।

(उत्पादोंसे, व्ययोंसे और ध्रौव्योंसे भिन्न न दिखाई देनेवाले द्रव्यका अस्तित्व वह उत्पादों; व्ययों और ध्रौव्योंका ही अस्तित्व है; क्योंकि द्रव्यके स्वरूपको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही धारण करते हैं, इसलिये उत्पाद-व्यय और ध्रौव्योंके अस्तित्वसे ही द्रव्यकी निष्पत्ति होती है। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न हों तो द्रव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व वह द्रव्यका स्वभाव है।)

भावार्थः—अस्तित्वके और द्रव्यके प्रदेशभेद नहीं है; और वह अस्तित्व अनादि-अनन्त है; तथा अहेतुक एकरूप परिणतिसे सदा परिणमित होता है, इसलिये विभावधर्मसे भी भिन्न प्रकारका है। ऐसा होनेसे अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव ही है।

गुण-पर्यायोंका और द्रव्यका अस्तित्व भिन्न नहीं है; एक ही है; क्योंकि गुण-पर्यायें द्रव्यसे ही निष्पन्न होती हैं; और द्रव्य गुण-पर्यायोंसे ही निष्पन्न होता है। और इसीप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका और द्रव्यका अस्तित्व भी एक ही है; क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्यसे ही उत्पन्न होते हैं, और द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योंसे ही उत्पन्न होता है।

इसप्रकार स्वरूपास्तित्वका निरूपण हुआ ॥ ९६ ॥

अब यह (नीचे अनुसार) सादृश्य-अस्तित्वका कथन है :—

गाथा ९७

अन्वयार्थः—[धर्मं] धर्मका [खलु] वास्तवमें [उपदिशता] उपदेश करते हुए

१—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ही द्रव्यके कर्ता, करण, और अधिकरण हैं, इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ही द्रव्यके स्वरूपको धारण करते हैं।

इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तित्वमेकं खल्ववबोधव्यम् । एवं सदित्यभिधानं सदिति परिच्छेदनं च सर्वार्थपरामर्शि स्यात् । यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किंचित्सदिति किंचिदसदिति किंचित्सच्चासच्चेति किंचिदवाच्यमिति च स्यात् । तत्तु विप्रतिषिद्धमेव प्रसाध्यं चैतदनोकहवत् । यथा हि बहूनां बहुविधानामनोकहाना मात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षण

[जिनवरवृषभेण] जिनवरवृषभने **[इह]** इस विश्वमें **[विविधलक्षणानां]** विविध लक्षण वाले (भिन्न भिन्न स्वरूपास्तित्ववाले सर्व) द्रव्योंका **[सत् इति]** 'सत्' ऐसा **[सर्वगतं]** सर्वगत **[लक्षणं]** लक्षण (सादृश्यास्तित्व) **[एकं]** एक **[प्रज्ञप्तम्]** कहा है ।

टीका:—इस विश्वमें, विचित्रताको विस्तारित करते हुये (विविधता-अनेकत्वको दिखाते हुये), अन्य द्रव्योंसे व्यावृत्त (भिन्न) रहकर प्रवर्तमान, और प्रत्येक द्रव्यकी सीमाको बांधते हुवे ऐसे विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वसे (समस्त द्रव्य) लक्षित होते हैं फिर भी सर्व द्रव्योंका, विचित्रताके विस्तारको अस्त करता हुआ, सर्व द्रव्योंमें प्रवृत्त होकर रहनेवाला, और प्रत्येक द्रव्यकी बंधी हुई सीमाकी अवगणना करता हुआ, 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्यलक्षणभूत सादृश्यास्तित्व है वह वास्तवमें एक ही जानना चाहिये । इसप्रकार 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थोंका परामर्श[3] करनेवाला है । यदि वह ऐसा (सर्वपदार्थपरामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत्, कोई सत् तथा असत् और कोई अवाच्य होना चाहिये; किन्तु वह तो विरुद्ध ही है, और यह ('सत्' ऐसा कथन और ज्ञानके सर्वपदार्थपरामर्शी होनेकी बात) तो सिद्ध हो सकती है, वृक्षकी भांति ।

जैसे बहुतसे, अनेक प्रकारके वृक्षोंको अपने अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित होते (खड़े होते) अनेकत्वको, सामान्य लक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्वसे उत्थित होता एकत्व तिरोहित (अदृश्य) कर देता है, इसीप्रकार बहुतसे, अनेकप्रकारके द्रव्योंको अपने अपने विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित होते अनेकत्वको, सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पनेसे ('सत्' ऐसे भावसे, अस्तित्वसे, 'है' पनेसे) उत्थित होता एकत्व तिरोहित करदेता है । और जैसे उन वृक्षोंके विषयमें सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्वसे उत्थित होते एकत्वसे तिरोहित होता है, फिर भी (अपने अपने) विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित होता अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है, (बना रहता है, नष्ट नहीं होता); इसीप्रकार सर्व द्रव्योंके विषयमें भी सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्'पनेसे उत्थित होते एकत्वसे तिरोहित होने पर भी (अपने अपने)

१—जिनवरवृषभ=जिनवरोंमें श्रेष्ठ; तीर्थंकर । २—सर्वगत=सबमें व्यापनेवाला । ३—परामर्श=स्पर्श; विचार; लक्ष; स्मरण ।

भूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति । तथा बहूनां बहुविधानां द्रव्याणामात्मीयात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति । यथा च तेषामनोकहानां सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति ॥ ९७ ॥

अथ द्रव्यैर्द्रव्यान्तरस्यारम्भं द्रव्यादर्थान्तरत्वं च सत्तायाः प्रतिहन्ति—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा । तह
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥ ९८ ॥

द्रव्यं स्वभावसिद्धं सदिति जिनास्तत्त्वतः समाख्यातवन्तः ।
सिद्धं तथा आगमतो नेच्छति यः स हि परसमयः ॥ ९८ ॥

विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित होता अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है ।

[बहुतसे (संख्यापेक्षासे अनेक) और अनेकप्रकारके (अर्थात् आम्र, अशोकादि) वृक्षोंका अपना अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न भिन्न है, इसलिये स्वरूपास्तित्वकी अपेक्षासे उनमें अनेकत्व है, परन्तु वृक्षत्व जो कि सर्ववृक्षोंका सामान्यलक्षण है और जो सर्व वृक्षोंमें सादृश्य बतलाता है, उसकी अपेक्षासे सर्व वृक्षोंमें एकत्व है । जब इस एकत्वको मुख्य करते हैं तब अनेकत्व गौण हो जाता है; इसीप्रकार बहुतसे (अनन्त) और अनेक (छह) प्रकारके द्रव्योंका अपना अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न भिन्न है, इसलिये स्वरूपास्तित्वकी अपेक्षासे उनमें अनेकत्व है, परन्तु सत्पना (अस्तित्वपना, 'है' ऐसा भाव) जो कि सर्व द्रव्योंका सामान्य लक्षण है और जो सर्वद्रव्योंमें सादृश्य बतलाता है उसकी अपेक्षासे सर्वद्रव्योंमें एकत्व है । जब इस एकत्वको मुख्य करते हैं तब अनेकत्व गौण होजाता है । और इसप्रकार जब सामान्य सत्पनेको मुख्यतासे लक्षमें लेने पर सर्व द्रव्योंके एकत्वकी मुख्यता होनेसे अनेकत्व गौण होजाता है, तब भी वह (समस्त द्रव्योंका स्वरूप-अस्तित्व संबंधी) अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान ही रहता है ।]

(इसप्रकार सादृश्य अस्तित्वका निरूपण हुआ) ॥ ९७ ॥

अब, द्रव्योंसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति होनेका और द्रव्यसे सत्ताका अर्थान्तरत्व[1] होनेका खण्डन करते हैं। (अर्थात् ऐसा निश्चित करते हैं कि किसी द्रव्यसे अन्य द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं होती और द्रव्यसे अस्तित्व कोई पृथक् पदार्थ नहीं है):—

गाथा ९८

अन्वयार्थः—[द्रव्यं] द्रव्य [स्वभाव सिद्धं] स्वभावसे सिद्ध और [सत् इति]

---

१ — अर्थान्तरत्व=अन्यपदार्थपना;

न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते। गुणपर्यायात्मानमात्मनः स्वभावमेव मूलसाधनमुपादाय स्वयमेव सिद्धसिद्धिमद्भूतं वर्तते। यत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्द्रव्यान्तरं कादाचित्कत्वात् स पर्यायः। द्व्यणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च। द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात्। अथैवं यथा सिद्धं स्वभावत एव द्रव्यं तथा सदित्यपि तत्स्वभावत एव सिद्धमित्यवधार्यताम्। सत्तात्मनात्मनः स्वभावेन निष्पन्ननिष्पत्तिमद्भावयुक्तत्वात्। न च द्रव्यादर्थान्तरभूता सत्तोपपत्तिमभिप्रपद्यते, यतस्तत्समवायात्तत्सदिति स्यात्। सतः सत्तायाश्च न तावद्युतसिद्धत्वेनार्थान्तरत्वं, तयोर्दण्डदण्डिवद्युतसिद्धस्यादर्शनात्। अयुतसिद्धत्वेनापि न तदुपपद्यते।

(स्वभावसे ही) 'सत्' है, ऐसा [**जिनाः**] जिनेन्द्रदेवने [**तत्त्वतः**] यथार्थतः [**समाख्यातवन्तः**] कहा है; [**तथा**] इस प्रकार [**आगमतः**] आगमसे [**सिद्धं**] सिद्ध है; [**यः**] जो [**न इच्छति**] इसे नहीं मानता [**सः**] वह [**हि**] वास्तवमें [**परसमयः**] परसमय है।

टीका:—वास्तवमें द्रव्योंसे द्रव्यान्तरोंकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्य स्वभाव सिद्ध हैं। (उनकी) स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनतासे है; क्योंकि अनादिनिधन[1] साधनान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता। वह गुणपर्यायात्मक अपने स्वभावको ही-जो कि मूलसाधन है, उसे—धारण करके स्वयमेव सिद्ध हुआ वर्तता है।

जो द्रव्योंसे उत्पन्न होता है वह तो द्रव्यान्तर नहीं है, (किन्तु) कादाचित्कता (अनित्यता) के कारण पर्याय है; जैसे-द्विअणुक इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि। द्रव्य तो अनवधि (मर्यादा रहित) त्रिसमय-अवस्थायी (त्रिकालस्थायी) होनेसे उत्पन्न नहीं होता।

अब इस प्रकार-जैसे द्रव्य स्वभावसे ही सिद्ध है उसी प्रकार (वह) 'सत् है' ऐसा भी उसके स्वभावसे ही सिद्ध है, ऐसा निर्णय हो; क्योंकि सत्तात्मक ऐसे अपने स्वभावसे निष्पन्न हुये भाववाला है (-द्रव्यका 'सत् है' ऐसा भाव द्रव्यके सत्तास्वरूप स्वभावका ही बना हुआ है)।

द्रव्यसे अर्थान्तरभूत सत्ता उत्पन्न नहीं है (नहीं बन सकती, योग्य नहीं है) कि जिसके समवायसे वह (द्रव्य) 'सत्' हो। (इसीको स्पष्ट समझाते हैं):—

प्रथम तो सत्[2] से सत्ताकी[3] युतसिद्धता[4] से अर्थान्तरत्व नहीं है, क्योंकि दण्ड और दण्डीकी

१—अनादिनिधन=आदि और अन्तसे रहित। (जो अनादि-अनन्त होता है उसकी सिद्धिके लिये अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं है।) २—सत्=अस्तित्ववान् अर्थात् द्रव्य। ३—सत्ता=अस्तित्व (गुण)। ४—युतसिद्ध=जुड़कर सिद्ध हुआ; समवायसे—संयोगसे सिद्ध हुआ। [जैसे लाठी और मनुष्यके भिन्न होने पर भी लाठीके योगसे मनुष्य 'लाठीवाला' होता है, इसीप्रकार सत्ता और द्रव्यके अलग होने पर भी सत्ताके योगसे द्रव्य 'सत्तावाला' ('सत्') हुआ है ऐसा नहीं है। लाठी और मनुष्यकी भांति सत्ता और द्रव्य अलग दिखाई ही नहीं देते। इसप्रकार 'लाठी' और 'लाठीवाले' की भांति 'सत्ता' और 'सत्' के संबंधमें युतसिद्धता नहीं है।]

इहेदमितिप्रतीतेरुत्पद्यत इति चेत् किंनिबन्धना हीहेदमिति प्रतीतिः। भेदनिबन्धनेतिचेत् को नाम भेदः। प्रादेशिक अताद्भाविको वा। न तावत्प्रादेशिकः, पूर्वमेव युतसिद्धत्वस्यापसारणात्। अताद्भाविकश्चेत् उपपन्न एव यद्द्रव्यं तन्न गुण इति वचनात्। अयं तु न खल्वेकान्तेनेहेदमितिप्रतीतेर्निबन्धनं, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात्। तथाहि—यदैव पर्यायेणार्प्यते द्रव्यं तदैव गुणवदिदं द्रव्यमयमस्य गुणः, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति। यदा तु द्रव्येणार्प्यते द्रव्यं तदास्तमितसमस्तगुणवासनोन्मेषस्य तथाविधं द्रव्यमेव शुभ्रमुत्तरीयमित्यादिवत्प्रपश्यतः समूल एवाताद्भाविको भेदो निमज्जति। एवं हि भेदे निमज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिर्निमज्जति। तस्यां निमज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वं निमज्जति। ततः समस्तमपि द्रव्यमेवैकं भूत्वावतिष्ठते। यदा तु भेद उन्मज्जति, तस्मिन्नुन्मज्जति तत्प्रत्यया प्रती-

भांति उनके संबंधमें युतसिद्धता दिखाई नहीं देती। (दूसरे) अयुतसिद्धतासे भी वह (अर्थान्तरत्व) नहीं बनता। 'इसमें यह है (अर्थात् द्रव्यमें सत्ता है)' ऐसी प्रतीति होती है इसलिये वह बन सकता है,—ऐसा कहा जाय तो (पूछते हैं कि) 'इसमें यह है' ऐसी प्रतीति किसके आश्रय (-कारण) से होती है ? यदि ऐसा कहा जाय कि भेदके आश्रयसे (अर्थात् द्रव्य और सत्तामें भेद होनेसे) होती है तो, वह कौनसा भेद है ? प्रादेशिक या अताद्भाविक ? प्रादेशिक[1] तो है नहीं, क्योंकि युतसिद्धत्व पहले ही रद्द (नष्ट, निरर्थक) कर दिया गया है, और यदि अताद्भाविक[2] कहा जाय तो वह उपपन्न (ठीक) ही है, क्योंकि ऐसा (शास्त्रका) वचन है कि 'जो द्रव्य है वह गुण नहीं है।' परन्तु (यहाँ भी यह ध्यानमें रखना कि) यह अताद्भाविक भेद 'एकान्तसे इसमें यह है' ऐसी प्रतीतिका आश्रय (कारण) नहीं है, क्योंकि वह स्वयमेव उन्मग्न[3] और निमग्न[4] होता है। वह इसप्रकार है:—जब द्रव्यको पर्याय प्राप्त कराई जाय (अर्थात् जब द्रव्यको पर्याय प्राप्त करती है—पहुँचती है इसप्रकार पर्यायार्थिक नयसे देखा जाय) तब ही—'शुक्ल यह वस्त्र है, यह इसका शुक्लत्व गुण है' इत्यादि की भांति 'गुणवाला यह द्रव्य है, यह इसका गुण है' इसप्रकार अताद्भाविक भेद उन्मग्न होता है; परन्तु जब द्रव्यको द्रव्य प्राप्त कराया जाय (अर्थात् द्रव्यको द्रव्य प्राप्त करता है:— पहुँचता है इसप्रकार द्रव्यार्थिक नयसे देखा जाय), तब जिसके समस्त गुणवासनाके उन्मेष[5] अस्त हो गये हैं ऐसे उस जीवको—'शुक्लवस्त्र ही है' इत्यादिकी भांति— 'ऐसा द्रव्य ही है' इसप्रकार देखने पर समूल ही अताद्भाविक भेद निमग्न होता है। इसप्रकार भेदके निमग्न होने पर उसके आश्रयसे (कारणसे) होती हुई प्रतीति निमग्न होती है। उसके निमग्न होने पर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व निमग्न होता

१—द्रव्य और सत्तामें प्रदेशभेद नहीं है; क्योंकि प्रदेशभेद हो तो युतसिद्धत्व आये, जिसको पहले ही रद्द करके बताया है। २—द्रव्य वह गुण नहीं है और गुण वह द्रव्य नहीं है,—ऐसे द्रव्य-गुणके भेदको (गुण-गुणी-भेदको) अताद्भाविक (तद्रूप न होनेरूप) भेद कहते हैं। यदि द्रव्य और सत्तामें ऐसा भेद कहा जाय तो वह योग्य ही है। ३—उन्मग्न होना=ऊपर आना; तैर आना; प्रगट होना (मुख्य होना)। ४—निमग्न होना=डूब जाना (गौण होना)। ५—गुणवासनाके उन्मेष=द्रव्यमें अनेक गुण होनेके अभिप्रायकी प्रगटता; गुणभेद होनेके रूपमें मनोअभिप्रायके अंकुर।

तिरुन्मज्जति । तस्यामुन्मज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति । तदापि तत्पर्यायत्वेनोन्मज्जज्जलराशेर्जलकल्लोल इव द्रव्यान्न व्यतिरिक्तं स्यात् । एवं सति स्वयमेव सद्द्रव्यं भवति । यस्त्वेवं नेच्छति स खलु परसमय एव द्रष्टव्यः ॥ ९८ ॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेऽपि सद्द्रव्यं भवतीति विभावयति—

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥ ९९ ॥

सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यस्य यो हि परिणामः ।
अर्थेषु स स्वभावः स्थितिसंभवनाशसंबद्धः ॥ ९९ ॥

इह हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति द्रव्यम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य ध्रौव्योत्पा-

---

है, इसलिये समस्त ही एक द्रव्य ही होकर रहता है । और जब भेद उन्मग्न होता है, वह उन्मग्न होने पर उसके आश्रय (कारण) से होती हुई प्रतीति उन्मग्न होती है, उसके उन्मग्न होनेपर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व उन्मग्न होता है, तब भी (वह) द्रव्यके पर्यायरूपसे उन्मग्न होनेसे,—जैसे जलराशिसे जल तरंगें व्यतिरिक्त नहीं हैं (अर्थात् समुद्रसे तरंगें अलग नहीं हैं) उसी प्रकार द्रव्यसे व्यतिरिक्त नहीं होता।

ऐसा होनेसे (यह निश्चित हुआ कि) द्रव्य स्वयमेव सत् है । जो ऐसा नहीं मानता वह वास्तव में 'परसमय' (मिथ्यादृष्टि) ही मानना ॥ ९८ ॥

अब, यह बतलाते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होनेपर भी द्रव्य 'सत्' है:—

गाथा ९९

अन्वयार्थः—[**स्वभावे**] स्वभावमें [**अवस्थितं**] अवस्थित (होनेसे) [**द्रव्यं**] द्रव्य [**सत्**] 'सत्' है; [**द्रव्यस्य**] द्रव्यका [**यः हि**] जो [**स्थितिसंभवनाशसंबद्धः**] उत्पादव्ययध्रौव्य सहित [**परिणामः**] परिणाम है [**सः**] वह [**अर्थेषु स्वभावः**] पदार्थोंका स्वभाव है ।

टीका:—यहाँ (विश्वमें) स्वभावमें नित्य अवस्थित होनेसे द्रव्य 'सत्' है । स्वभाव द्रव्यका ध्रौव्य-उत्पाद-विनाशकी एकतास्वरूप परिणाम है । जैसे द्रव्यका वास्तु[1] समग्रतया (अखण्डतासे) एक होनेपर भी, विस्तारक्रममें प्रवर्तमान उसके जो सूक्ष्म अंश हैं वे प्रदेश हैं, इसीप्रकार द्रव्यकी वृत्ति (अस्तित्व) समग्रतया एक होनेपर भी, प्रवाहक्रममें प्रवर्तमान उसके जो सूक्ष्म अंश हैं वे परिणाम हैं । जैसे विस्तारक्रमका कारण प्रदेशोंका परस्पर व्यतिरेक है, उसी प्रकार प्रवाहक्रमका कारण परिणामोंका परस्पर व्यतिरेक[2] है ।

१—द्रव्यका वास्तु=द्रव्यका स्व-विस्तार, द्रव्यका स्व क्षेत्र, द्रव्यका स्व-आकार, द्रव्यका स्व-दल । (वास्तु=घर, निवासस्थान, आश्रय, भूमि ।) २—व्यतिरेक=भेद; (एकका दूसरेमें) अभाव, (एक परिणाम दूसरे परिणामरूप नहीं है, इसलिये द्रव्यके प्रवाहमें क्रम है) ।

दोच्छेदैक्यात्मकपरिणामः । यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशाः, तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्यापि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः । यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कम्भक्रमः, तथा परिणामानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमः । यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति, तथैव ते परिणामाः स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति । यथैव च य एव हि पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयातदुभयात्मक इति । तथैव य एव हि पूर्वपरिणामोच्छेदात्मकः प्रवाहसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयातदुभयात्मक इति एवमस्य स्वभावत एव त्रिलक्षणायां परिणामपद्धतौ दुर्ललितस्य स्वभावानतिक्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयम् मुक्ताफलदामवत् । यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि

जैसे वे प्रदेश अपने स्थानमें स्व-रूपसे उत्पन्न और पूर्व-रूपसे विनष्ट होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति[1] से रचित एकवास्तुतासे अनुत्पन्न–अविनष्ट होनेसे उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक है, उसीप्रकार वे परिणाम अपने अवसरमें स्व-रूपसे उत्पन्न और पूर्व-रूपसे विनष्ट होनेसे तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एकप्रवाहत्वसे अनुत्पन्न–अविनष्ट होनेसे उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक है। और जैसे वास्तुका जो छोटेसे छोटा अंश पूर्वप्रदेशके विनाशस्वरूप है वही (अंश) उसके बादके प्रदेशका उत्पाद स्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एक वास्तुत्वसे अनुभय स्वरूप है (अर्थात् दोमेंसे एक भी स्वरूप नहीं है), इसीप्रकार प्रवाहका जो अल्पातिअल्प अंश पूर्वपरिणामके विनाशस्वरूप है वही उसके बादके परिणामके उत्पादस्वरूप है, तथा वही परस्पर अनुस्यूतिसे रचित एकप्रवाहत्वसे अनुभयस्वरूप है।

इसप्रकार स्वभावसे ही त्रिलक्षण परिणाम पद्धतिमें (परिणामोंकी परम्परामें) प्रवर्तमान द्रव्य स्वभावका अतिक्रम[2] नहीं करता इसलिये सत्त्वको[3] त्रिलक्षण[4] ही अनुमोदित करना चाहिये। मोतियोंके हारकी भांति।

जैसे—जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुये मोतियोंके हारमें, अपने-अपने स्थानोंमें प्रकाशित होते हुये समस्त मोतियोंमें, पीछे-पीछेके स्थानोंमें पीछे-पीछेके मोती प्रगट होते हैं इसलिये, और पहले-पहलेके मोती प्रगट नहीं होते इसलिये, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिका रचयिता

१—अनुस्यूति=अन्वयपूर्वक जुड़ान। [सर्व परिणाम परस्पर अन्वयपूर्वक (सादृश्य सहित) गुंथित (जुड़े) होनेसे, वे सब परिणाम एक प्रवाहरूपसे हैं, इसलिये वे उत्पन्न या विनष्ट नहीं हैं।] २—अतिक्रम=उल्लंघन; त्याग। ३—सत्त्व=सत्पना; (अभेदनयसे) द्रव्य। ४—त्रिलक्षण=उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों लक्षणवाला; त्रिस्वरूप; त्रयात्मक।

प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तर-मुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्या-वस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानाम-नुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति ॥९९॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्पराविनाभावं दृढयति—

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥१००॥

न भवो भङ्गविहीनो भङ्गो वा नास्ति संभवविहीनः।
उत्पादोऽपि च भङ्गो न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥ १०० ॥

सूत्र अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धिको प्राप्त होता है। इसीप्रकार जिसने नित्यवृत्ति[1] ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) होते हुये द्रव्यमें, अपने अपने अवसरोंमें प्रकाशित (प्रगट) होते हुये समस्त परिणामोंमें पीछे पीछेके अवसरों पर पीछे पीछेके परिणाम प्रगट होते हैं इसलिये, और पहले-पहलेके परिणाम नहीं प्रगट होते हैं इसलिये, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूत रचनेवाला प्रवाह अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धिको प्राप्त होता है।

भावार्थः—प्रत्येक द्रव्य सदा स्वभावमें रहता है इसलिये 'सत्' है। वह स्वभाव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणाम है। जैसे द्रव्यके विस्तारका छोटेसे छोटा अंश वह प्रदेश है, इसीप्रकार द्रव्यके प्रवाहका छोटेसे छोटा अंश वह परिणाम है। प्रत्येक परिणाम स्व-कालमें अपने रूपसे उत्पन्न होता है, पूर्वरूपसे नष्ट होता है और सर्व परिणामोंमें एकप्रवाहता होनेसे प्रत्येक परिणाम उत्पाद-विनाशसे रहित एकरूप—ध्रुव रहता है। और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमें समयभेद नहीं है, तीनों ही एक ही समयमें हैं। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामोंकी परम्परामें द्रव्य स्वभावसे ही सदा रहता है, इसलिये द्रव्य स्वयं भी मोतियोंके हारकी भांति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है ॥ ९९ ॥

अब, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका परस्पर अविनाभाव[2] दृढ़ करते हैं:—

गाथा १००

अन्वयार्थः—[**भवः**] उत्पाद [**भङ्गविहीनः**] भंग (व्यय) से रहित [**न**] नहीं होता, [**वा**] और [**भङ्गः**] भंग [**संभवविहीनः**] बिना उत्पादके [**नास्ति**] नहीं होता; [**उत्पादः**] उत्पाद [**अपि च**] तथा [**भङ्गः**] भंग [**ध्रौव्येण अर्थेन विना**] ध्रौव्य पदार्थके बिना [**न**] नहीं होता।

१—नित्यवृत्ति=नित्यस्थायित्व; नित्य अस्तित्व; सदा वर्तना। २—अविनाभाव=एकके बिना दूसरेका नहीं होना वह; एक दूसरे बिना हो ही नहीं सके ऐसा भाव।

न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः, यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति। तथाहि—य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिण्डस्य संहारः, भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनावभासनात्। य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्गः, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैवमृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात्। यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्।

टीका:—वास्तवमें उत्पाद, व्ययके बिना नहीं होता और व्यय, उत्पादके बिना नहीं होता; उत्पाद और व्यय स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते, और ध्रौव्य,उत्पाद तथा व्ययके बिना नहीं होता।

जो उत्पाद है वही व्यय है, जो व्यय है वही उत्पाद है; जो उत्पाद और व्यय है वही ध्रौव्य है; जो ध्रौव्य है वही उत्पाद और व्यय है। वह इसप्रकार:—जो कुम्भका उत्पाद है वही मृत्तिकापिण्डका व्यय है; क्योंकि भावका भावान्तरके अभाव स्वभावसे अवभासन है। (अर्थात् भाव अन्यभावके अभावरूप स्वभावसे प्रकाशित है—दिखाई देता है।) और जो मृत्तिकापिण्डका व्यय है वही कुम्भका उत्पाद है, क्योंकि अभावका भावान्तरके भावस्वभावसे अवभासन है; (अर्थात् व्यय अन्यभावके उत्पादरूप स्वभावसे प्रकाशित है।)

और जो कुम्भका उत्पाद और पिण्डका व्यय है वही मृत्तिकाकी स्थिति है, क्योंकि व्यतिरेकोंके द्वारा ही अन्वय[1] प्रकाशित है। और जो मृत्तिकाकी स्थिति है वही कुम्भका उत्पाद और पिण्डका व्यय है, क्योंकि व्यतिरेक[2] अन्वयका अतिक्रम नहीं करते। और यदि ऐसा ही न माना जाय तो ऐसा सिद्ध होगा कि उत्पाद अन्य है, व्यय अन्य है, ध्रौव्य अन्य है। (अर्थात् तीनों पृथक् हैं ऐसा माननेका प्रसंग आजायगा।) ऐसा होने पर (क्या दोष आता है, सो समझाते हैं):—

केवल उत्पाद-शोधक कुम्भकी (-व्यय और ध्रौव्यसे भिन्न मात्र उत्पाद करनेको जानेवाले कुम्भकी) उत्पादन (उत्पत्तिका) कारणका अभाव होनेसे उत्पत्ति ही नहीं होगी; अथवा तो असत्‌का ही उत्पाद होगा। और वहां, (१) यदि कुम्भकी उत्पत्ति न होगी तो समस्त ही भावोंकी उत्पत्ति ही नहीं होगी। (अर्थात् जैसे कुम्भकी उत्पत्ति नहीं होगी उसीप्रकार विश्वके किसी भी द्रव्यमें किसीभी भावका उत्पाद ही नहीं होगा,—यह दोष आयगा); अथवा (२) यदि असत्‌का उत्पाद हो तो आकाश-पुष्प इत्यादिका भी उत्पाद होगा, (अर्थात् शून्यमेंसे भी पदार्थ उत्पन्न होने लगेंगे,—यह दोष आयगा।)

१—अन्वय=एकरूपता; सादृश्यता; 'यह वही है' ऐसे ज्ञानका कारणभूत एकरूपत्व। २—व्यतिरेक=भेद; एकका दूसरे रूप न होना वह; 'यह वह नहीं है' ऐसे ज्ञानका निमित्तभूत भिन्नरूपत्व।

यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायाति । तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा। तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत्। असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात्। तथा केवलं संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा। तत्र मृत्पिण्डस्यासंहरणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत्। सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात्। तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा। तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत्। क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात्। तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम् ॥ १०० ॥

और, केवल व्ययारम्भक (उत्पाद और ध्रौव्यसे रहित केवल व्यय करनेको उद्यत) मृत्पिण्डका, व्ययके कारणका अभाव होनेसे व्यय ही नहीं होगा; अथवा तो सतका ही उच्छेद होगा। वहां, (१) यदि मृत्पिण्डका व्यय न होगा तो समस्त ही भावोंका व्यय ही न होगा, (अर्थात् जैसे मृत्तिकापिण्डका व्यय नहीं होगा उसीप्रकार विश्वके किसी भी द्रव्यमें किसी भी भावका व्यय ही नहीं होगा,—यह दोष आयगा); अथवा (२) यदि सतका उच्छेद होगा तो चैतन्य इत्यादिका भी उच्छेद हो जायगा, (अर्थात् समस्त द्रव्योंका सम्पूर्ण नाश हो जायगा;—यह दोष आयगा।)

और केवल ध्रौव्य[1] प्राप्त करनेको जानेवाली मृत्तिकाकी, व्यतिरेक सहित स्थितिका—अन्वयका—(मृत्तिकाको) अभाव होनेसे, स्थिति ही नहीं होगी; अथवा तो क्षणिकको ही नित्यत्व आजायगा। वहां (१) यदि मृत्तिकाका ध्रौव्यत्व न हो तो समस्त ही भावोंका ध्रौव्य ही नहीं होगा, (अर्थात् यदि मिट्टी ध्रुव न रहे तो मिट्टीकी ही भांति विश्वका कोई भी द्रव्य ध्रुव ही नहीं रहेगा,—यह दोष आयगा।) अथवा (२) यदि क्षणिकका नित्यत्व हो तो चित्तके क्षणिक-भावोंका भी नित्यत्व होगा; (अर्थात् मनका प्रत्येक विकल्प भी त्रैकालिक ध्रुव होजाय,—यह दोष आवे।)

इसलिये द्रव्यको उत्तर उत्तर व्यतिरेकोंकी उत्पत्तिके साथ, पूर्व पूर्वके व्यतिरेकोंके संहारके साथ और अन्वयके अवस्थान (ध्रौव्य) के साथ अविनाभाववाला, जिसका निर्विघ्न (अबाधित) त्रिलक्षणतारूप चिह्न प्रकाशमान है ऐसा अवश्य सम्मत करना ॥ १०० ॥

१—केवल ध्रौव्य=उत्पाद और व्यय रहित अकेला ध्रुवपना, केवल स्थितिपना; [अन्वय व्यतिरेक अकेला अवस्थान सहितही होता है, इसलिये ध्रौव्य उत्पाद-व्यय सहितही होगा, अकेला नहीं हो सकता। जैसे उत्पाद (या व्यय) द्रव्यका अंश है—समग्र द्रव्य नहीं, इसीप्रकार ध्रौव्य भी द्रव्यका अंश है,—समग्र द्रव्य नहीं।]

अथोत्पादादीनां द्रव्यादर्थान्तरत्वं संहरति—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥१०१॥

उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः ।
द्रव्ये हि सन्ति नियतं तस्माद्द्रव्यं भवति सर्वम् ॥१०१॥

उत्पादव्ययध्रौव्याणि हि पर्यायानालम्बन्ते, ते पुनः पर्याया द्रव्यमालम्बन्ते । ततः

अब, उत्पादादिका द्रव्यसे अर्थान्तरत्वको नष्ट करते हैं; (अर्थात् यह सिद्ध करते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्यसे पृथक् पदार्थ नहीं हैं):—

गाथा १०१

अन्वयार्थः—[**उत्पादस्थितिभङ्गाः**] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय [**पर्यायेषु**] पर्यायोंमें [**विद्यन्ते**] वर्तते हैं; [**पर्यायाः**] पर्यायें [**नियतं**] नियमसे [**द्रव्ये हि सन्ति**] द्रव्यमें होती हैं, [**तस्मात्**] इसलिये [**सर्वं**] वह सब [**द्रव्यं भवति**] द्रव्य है ।

टीका—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वास्तवमें पर्यायों पर अवलम्बित हैं, और वे पर्यायें द्रव्य पर अवलम्बित हैं, इसलिये यह सब एक ही द्रव्य है, द्रव्यांतर नहीं ।

प्रथम तो द्रव्य पर्यायोंके द्वारा[1] आलम्बित है (अर्थात् पर्यायें द्रव्याश्रित हैं), क्योंकि समुदायी (समुदायवान्) समुदायस्वरूप होता है; वृक्षकी भांति । जैसे समुदायी वृक्ष स्कंध, मूल और शाखाओं का समुदायस्वरूप होनेसे स्कंध, मूल और शाखाओं से आलम्बित ही भासित (दिखाई) देता है, इसीप्रकार समुदायी द्रव्य पर्यायोंका समुदायस्वरूप होनेसे पर्यायोंके द्वारा आलम्बित ही भासित होता है । (अर्थात् जैसे स्कंध, मूल और शाखायें वृक्षाश्रितही हैं—वृक्षसे भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं, उसी प्रकार पर्यायें द्रव्याश्रित ही हैं,— द्रव्यसे भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं ।)

और पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके द्वारा आलम्बित हैं (अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायाश्रित हैं) क्योंकि उत्पाद-व्यय ध्रौव्य अंशोंके धर्म हैं (अंशीके नहीं); बीज, अंकुर और वृक्षत्वकी भांति । जैसे अंशीवृक्षके बीज अंकुर-वृक्षत्वस्वरूप तीन अंश,व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यस्वरूप निज धर्मोंसे आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं, उसीप्रकार अंशी-द्रव्यके, नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव, और अवस्थित रहनेवाला भाव;—यह तीनों अंश व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यस्वरूप निजधर्मोंके द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं । किन्तु यदि (१) व्यय, (२) उत्पाद और (३) ध्रौव्यको (अंशोंका न मानकर) द्रव्यका ही माना जाय तो सारी गड़बड़ी होजायगी । यथा—(१) पहले, यदि द्रव्यका ही व्यय माना जाय तो क्षणभंगसे लक्षित* समस्त द्रव्योंका एक क्षणमें ही व्यय होजानेसे द्रव्यशून्यता

---

[1] १—जहां २ "द्वारा" शब्द आवे वहां तीसरी विभक्ति सूचक समझना । * क्षण-विनाश जिसका लक्षण हो, ऐसे ।

समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं न पुनर्द्रव्यान्तरम्। द्रव्यं हि तावत्पर्यायैरालम्ब्यते। समुदायिनः समुदायात्मकत्वात् पादपवत्। यथा हि समुदायी पादपः स्कन्धमूलशाखासमुदायात्मकः स्कन्धमूलशाखाभिरालम्बित एव प्रतिभाति, तथा समुदायि द्रव्यं पर्यायसमुदायात्मकं पर्यायैरालम्बितमेव प्रतिभाति। पर्यायास्तूत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्ययध्रौव्याणामंशधर्मत्वात् बीजाङ्कुरपादपत्ववत्। यथा किलांशिनः पादपस्य बीजाङ्कुरपादपत्वलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति, तथांशिनो द्रव्यस्योच्छिद्यमानोत्पद्यमानावतिष्ठमानभावलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति। यदि पुनर्भङ्गोत्पादध्रौव्याणि द्रव्यस्यैवेष्यन्ते तदा समग्रमेव विप्लवते। तथाहि भंगे तावत् क्षणभङ्गकटाक्षितानामेकक्षण एव सर्वद्रव्याणां संहरणाद्द्रव्यशून्यतावतारः सदुच्छेदो वा। उत्पादे तु प्रतिसमयोत्पादमुद्रितानां प्रत्येकं द्रव्याणामानन्त्यमसदुत्पादो वा। ध्रौव्ये तु क्रमभुवां भावानामभावाद्द्रव्यस्याभावः क्षणिकत्वं वा। अत उत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्तां पर्यायाः पर्यायैश्च द्रव्यमालम्ब्यतां, येन समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं भवति॥ १०१॥

अथोत्पादादीनां क्षणभेदमुदस्य द्रव्यत्वं द्योतयति—

आजायगी, अथवा सत्का उच्छेद होजायगा। (२) यदि द्रव्यका ही उत्पाद माना जाय तो समय-समय पर होनेवाले उत्पादके द्वारा चिह्नित द्रव्योंको-प्रत्येकको अनन्तता आजायगी। (अर्थात् समय समयपर होनेवाला उत्पाद जिसका चिह्न हो ऐसा प्रत्येक द्रव्य अनन्त द्रव्यत्वको प्राप्त होजायगा) अथवा असत्का उत्पाद होजायगा; (३) यदि द्रव्यका ही ध्रौव्य माना जाय तो क्रमशः होनेवाले भावोंके अभावके कारण द्रव्यका अभाव हो जायगा, अथवा क्षणिकत्व आजायगा।

इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके द्वारा पर्यायें आलम्बित हों, और पर्यायोंके द्वारा द्रव्य आलम्बित हो, कि जिससे यह सब एक ही द्रव्य है।

भावार्थः—बीज, अंकुर और वृक्षत्व, वृक्षके अंश हैं। बीजका नाश, अंकुरका उत्पाद और वृक्षत्वका ध्रौव्य–तीनों एक ही साथ होते हैं। इसप्रकार नाश बीज पर आश्रित है, उत्पाद अंकुरपर आश्रित है, और ध्रौव्य वृक्षत्व पर आश्रित है; नाश–उत्पाद और ध्रौव्य बीज-अंकुर और वृक्षत्वसे भिन्न पदार्थरूप नहीं है। तथा बीज-अंकुर और वृक्षत्व भी वृक्षसे भिन्न पदार्थरूप नहीं हैं। इसलिये यह सब एक वृक्ष ही हैं। इसीप्रकार नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव और ध्रौव्य भाव सब द्रव्यके अंश हैं। नष्ट होते हुये भावका नाश, उत्पन्न होते हुये भावका उत्पाद और स्थायी भावका ध्रौव्य एक ही साथ है। इसप्रकार नाश नष्ट होते भावके आश्रित है, उत्पाद उत्पन्न होते हुये भावके आश्रित है और ध्रौव्य स्थायी भावके आश्रित है। नाश, उत्पाद और ध्रौव्य उन भावोंसे भिन्न पदार्थरूप नहीं है। और वे भाव भी द्रव्यसे भिन्न पदार्थरूप नहीं है। इसलिये यह सब, एक द्रव्य ही हैं॥ १०१॥

अब, उत्पादादिका क्षणभेद निराकृत (खण्डित) करके यह समझाते हैं कि वे द्रव्य हैं:—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०२॥

समवेतं खलु द्रव्यं संभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः।
एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्यं खलु तत्त्रितयम् ॥१०२॥

इह हि यो नाम वस्तुनो जन्मक्षणः स जन्मनैव व्याप्तत्वात् स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च स्थितिक्षणः स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च नाशक्षणः स तूत्पद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षणः स्थितिक्षणश्च न भवति। इत्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति। अवतरत्येवं यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवाव-

गाथा १०२

अन्वयार्थः—[**द्रव्यं**] द्रव्य [**एकस्मिन् च एव समये**] एक ही समयमें [**संभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः**] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थोंके[1] साथ [**खलु**] वास्तवमें [**समवेतं**] एकमेक है; [**तस्मात्**] इसलिये [**तत् त्रितयं**] यह त्रितय[2] [**खलु**] वास्तवमें [**द्रव्यं**] द्रव्य है।

टीका:—(प्रथम शंका उपस्थित की जाती है:—) यहाँ, (विश्वमें) वस्तुका जो जन्मक्षण है वह जन्मसे ही व्याप्त होनेसे स्थितिक्षण और नाशक्षण नहीं है, (वह पृथक् ही होता है); जो स्थितिक्षण है वह दोनोंके अन्तरालमें (उत्पादक्षण और नाशक्षणके बीच) दृढ़तया रहता है, इसलिये (वह) जन्मक्षण और नाशक्षण नहीं है; और जो नाशक्षण है वह,-वस्तु उत्पन्न होकर और स्थिर रहकर फिर नाशको प्राप्त होती है इसलिये,—जन्मक्षण और स्थितिक्षण नहीं है;—इसप्रकार तर्क पूर्वक विचार करने पर उत्पादादिका क्षणभेद हृदयभूमिमें अवतरित होता है (अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका समय भिन्न-भिन्न होता है, एक नहीं होता,—इसप्रकारकी बात हृदयमें जमती है।)

(यहां उपरोक्त शंकाका समाधान किया जाता है:—) इसप्रकार उत्पादादिका क्षणभेद हृदय-भूमिमें तभी उतर सकता है जब यह माना जाय कि 'द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही ध्रुव रहता है और स्वयं ही नाशको प्राप्त होता है!' किन्तु ऐसा तो माना नहीं गया है; (क्योंकि यह स्वीकार और सिद्ध किया गया है कि) पर्यायोंके ही उत्पादादि हैं; (तब फिर) वहां क्षणभेद कहांसे हो सकता है? यह समझाते हैं:—

जैसे कुम्हार, दण्ड, चक्र और चीवरसे आरोपित किये जानेवाले संस्कारकी उपस्थितिमें जो वर्धमान (रामपात्र) का जन्मक्षण होता है वही मृत्तिकापिण्डका नाशक्षण होता है, और वही दोनों

१—अर्थ=पदार्थ (८७ वीं गाथामें समझाया गया है, तदनुसार पर्याय भी अर्थ है।) २—त्रितय=तीनका समुदाय। (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इन तीनोंका समुदाय वास्तवमें द्रव्य ही है।)

तिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते। तत्तु नाभ्युपगतम्। पर्यायाणामेवोत्पादादयः कुतः क्षणभेदः। तथाहि—यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणः। तथा अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षणः। यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकायां सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते, तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनि द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते। यथैव च वर्धमानपिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं, तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यमेव न खल्वर्थान्तरम् ॥ १०२ ॥

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्यनेकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥ १०३ ॥

प्रादुर्भवति चान्यः पर्यायः पर्यायो व्येति अन्यः।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्यं नैव प्रणष्टं नोत्पन्नम् ॥१०३॥

कोटियों[1] में रहनेवाला मृत्तिकात्वका स्थितिक्षण होता है; इसीप्रकार अन्तरंग और बहिरंग साधनोंसे आरोपित किये जानेवाले संस्कारोंकी उपस्थितिमें, जो उत्तरपर्यायका जन्मक्षण होता है वही पूर्व पर्याय का नाशक्षण होता है, और वही दोनों कोटियोंमें रहनेवाले द्रव्यत्वका स्थितिक्षण होता है।

और जैसे रामपात्रमें, मृत्तिकापिण्डमें और मृत्तिकात्वमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य प्रत्येक रूपमें (प्रत्येक पृथक् पृथक्) वर्तते हुये भी त्रिस्वभावस्पर्शी मृत्तिकामें वे सम्पूर्णतया (सभी एकत्रित) एक समयमें ही देखे जाते हैं; इसीप्रकार उत्तर पर्यायमें, पूर्वपर्यायमें और द्रव्यत्वमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य प्रत्येकतया (एक-एक) प्रवर्तमान होनेपर भी त्रिस्वभावस्पर्शी[2] द्रव्यमें वे सम्पूर्णतया (तीनों एकत्रित) एक समयमें ही देखे जाते हैं।

और जैसे रामपात्र, मृत्तिकापिण्ड तथा मृत्तिकात्वमें प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिट्टी ही हैं, अन्य वस्तु नहीं; उसीप्रकार उत्तर पर्याय, पूर्व पर्याय और द्रव्यत्वमें प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं ॥ १०२ ॥

अब, द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको अनेक द्रव्यपर्याय[3] के द्वारा विचार करते हैं:—

गाथा १०३

अन्वयार्थः—[द्रव्यस्य] द्रव्यकी **[अन्यः पर्यायः]** अन्य पर्याय **[प्रादु-**

१—कोटि=प्रकार (मृत्तिकात्व तो पिंडरूप तथा रामपात्ररूप-दोनोंप्रकारोंमें विद्यमान है।) २—त्रिस्वभावस्पर्शी=तीनों स्वभावोंको स्पर्श करनेवाला। (द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीनों स्वभावोंको धारण करता है।) ३—अनेकद्रव्यपर्याय=एकसे अधिक द्रव्योंके संयोगसे होनेवाली पर्याय।

इह हि यथा किलैकस्त्र्यणुकः समानजातीयोऽनेकद्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यश्चतुरणुकः प्रजायते, ते तु त्रयश्चत्वारो वा पुद्गला अविनष्टानुत्पन्ना एवावतिष्ठन्ते । तथा सर्वेऽपि समानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च । समानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । यथा चैको मनुष्यत्वलक्षणोऽसमानजातीयो द्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यस्त्रिदशत्वलक्षणः प्रजायते तौ च जीवपुद्गलौ अविनष्टानुत्पन्नावेवाव तिष्ठेते, तथा सर्वेऽप्यसमानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च असमानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । एवमात्मना ध्रुवाणि द्रव्यपर्यायद्वारेणोत्पादव्ययीभूतान्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्याणि भवन्ति ॥ १०३ ॥

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥ १०४ ॥

भवति] उत्पन्न होती है [**च**] और [**अन्यः पर्यायः**] कोई अन्य पर्याय [**व्येति**] नष्ट होती है; [**तदपि**] फिर भी [**द्रव्यं**] द्रव्य [**प्रणष्टं न एव**] न तो नष्ट होता है, [**उत्पन्नं न**] न उत्पन्न होता है । (वह ध्रुव है ।)

टीका:—यहाँ (विश्वमें) जैसे एक त्रि-अणुक समानजातीय अनेक द्रव्यपर्याय विनष्ट होती है और दूसरी चतुरणुक[1] (समानजातीय अनेक द्रव्यपर्याय) उत्पन्न होती है; परन्तु वे तीन या चार पुद्गल (परमाणु) तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं (ध्रुव हैं); इसीप्रकार सभी समानजातीय द्रव्यपर्यायें विनष्ट होती हैं और उत्पन्न होती हैं, किन्तु समानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं (-ध्रुव हैं)।

और, जैसे एक मनुष्यत्वस्वरूप असमानजातीय द्रव्य-पर्याय विनष्ट होती है और दूसरी देवत्वस्वरूप (असमानजातीय द्रव्यपर्याय) उत्पन्न होती है, परन्तु वह जीव और पुद्गल तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहता है, इसीप्रकार सभी असमानजातीय द्रव्यपर्यायें विनष्ट होजाती हैं और उत्पन्न होती हैं, परन्तु असमानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं ।

इसप्रकार स्वतः (द्रव्यत्वेन[2]) ध्रुव और द्रव्यपर्यायों द्वारा उत्पाद-व्ययरूप द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं ॥ १०३ ॥

अब, द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक द्रव्य पर्यायके द्वारा विचार करते हैं:—

गाथा १०४

अन्वयार्थः—[**सदविशिष्टं**] सत्तापेक्षासे अविशिष्टरूपसे, [**द्रव्यं स्वयं**] द्रव्य स्वयं

१—चतुरणुक=चार अणुओंका (परमाणुओंका) बना हुआ स्कंध । २—द्रव्यत्व=द्रव्यत्व दो प्रकारसे प्रयुक्त होता है: (१) एक तो सामान्य-विशेषके पिण्डको अर्थात् वस्तुको द्रव्य कहा जाता है; जैसे—'द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है'; (२) दूसरे-वस्तुके सामान्य अंशको भी द्रव्य कहा जाता है; जैसे 'द्रव्यार्थिक नय' अर्थात् सामान्यांशग्राही नय । जहां जो अर्थ घटित होता हो वहां वह अर्थ समझना चाहिये ।

परिणमति स्वयं द्रव्यं गुणतश्च गुणान्तरं सदविशिष्टम् ।
तस्माद् गुणपर्याया भणिताः पुनः द्रव्यमेवेति ॥ १०४ ॥

एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः, गुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वात् । एक द्रव्यत्वं हि तेषां सहकारफलवत् । यथा किल सहकारफलं स्वयमेव हरितभावात् पाण्डुभावं परिणमत्पूर्वोत्तरप्रवृत्तहरितपाण्डुभावाभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं हरितपाण्डुभावाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव वस्तु न वस्त्वन्तरं, तथा द्रव्यं स्वयमेव पूर्वावस्थावस्थितगुणादुत्तरावस्थावस्थितगुणं परिणमत्पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां ताभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव द्रव्यं न द्रव्यान्तरम् । यथैव चोत्पद्यमानं पाण्डुभावेन, व्ययमानं हरितभावेनावतिष्ठमानं सहकारफल-

---

ही [**गुणतः च गुणान्तरं**] गुणसे गुणान्तररूप [**परिणमते**] परिणमित होता है, (अर्थात् द्रव्य स्वयं ही एक गुणपर्यायमेंसे अन्य गुणपर्यायरूप परिणमित होता है, और उसकी सत्ता गुणपर्यायोंकी सत्ताके साथ अविशिष्ट-अभिन्न-एक ही रहती है), [**तस्मात् पुनः**] और उससे [**गुणपर्यायाः**] गुणपर्यायें [**द्रव्यम् एव इति भणिताः**] द्रव्य ही कही गई हैं ।

टीकाः—गुणपर्यायें एक द्रव्य पर्यायें हैं, क्योंकि गुणपर्यायोंको एक द्रव्यत्व है, (अर्थात् गुणपर्यायें एकद्रव्यकी पर्यायें हैं, क्योंकि वे एक ही द्रव्य हैं—भिन्न भिन्न द्रव्य नहीं ।) उनका एकद्रव्यत्व आम्रफलकी भांति है । जैसे—आम्रफल स्वयं ही हरितभावमेंसे पीतभावरूप परिणमित होता हुआ, प्रथम और पश्चात् प्रवर्तमान हरितभाव और पीतभावके द्वारा अपनी सत्ताका अनुभव करता है, इसलिये हरितभाव और पीतभावके साथ अविशिष्ट सत्तावाला[1] होनेसे एक ही वस्तु है, अन्य वस्तु नहीं; इसीप्रकार द्रव्य स्वयं ही पूर्व अवस्थामें अवस्थित गुणमेंसे उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणरूप परिणमित होता हुआ, पूर्व और उत्तर अवस्थामें अवस्थित उन गुणोंके द्वारा अपनी सत्ताका अनुभव करता है, इसलिये पूर्व और उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणोंके साथ अविशिष्ट सत्तावाला होनेसे एक ही द्रव्य है, द्रव्यान्तर नहीं ।

(आमके उदाहरणकी भांति, द्रव्य स्वयं ही गुणकी पूर्व पर्यायमेंसे उत्तरपर्यायरूप परिणमित होता हुआ, पूर्व और उत्तर गुणपर्यायोंके द्वारा अपने अस्तित्वका अनुभव करता है, इसलिये पूर्व और उत्तर गुणपर्यायोंके साथ अभिन्न अस्तित्व होनेसे एक ही द्रव्य है, द्रव्यान्तर नहीं; अर्थात् वे वे गुणपर्यायें और द्रव्य एक ही द्रव्यरूप हैं, भिन्न भिन्न द्रव्यरूप नहीं ।)

और, जैसे पीतभावसे उत्पन्न होता है, हरितभावसे नष्ट होता है, और आम्रफलरूपसे स्थिर रहता है, इसलिये आम्रफल एक वस्तुकी पर्यायके द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है, उसीप्रकार उत्तर अवस्थामें अवस्थित गुणसे उत्पन्न, पूर्व अवस्थामें अवस्थित गुणसे नष्ट और द्रव्यत्व गुणसे स्थिर होनेसे द्रव्य एक द्रव्यपर्यायके द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है ।

१—अविशिष्ट सत्तावाला=अभिन्न सत्तावाला; एक सत्तावाला; (आमकी सत्ता हरे और पीले भावकी सत्तासे अभिन्न है, इसलिये आम और हरितभाव तथा पीतभाव एक ही वस्तु हैं, भिन्न नहीं ।)

त्वेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकवस्तुपर्यायद्वारेण सहकारफलं तथैवोत्पद्यमानमुत्तरावस्थावस्थितगुणेन, व्ययमानं पूर्वावस्थावस्थितगुणेनावतिष्ठमानं द्रव्यत्वगुणेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण द्रव्यं भवति ॥ १०४ ॥

अथ सत्ताद्रव्ययोरनर्थान्तरत्वे युक्तिमुपन्यस्यति—

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं ।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ १०५ ॥

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम् ।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥ १०५ ॥

यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा

भावार्थः—इससे पूर्वकी गाथामें द्रव्यपर्यायके द्वारा (अनेक द्रव्यपर्यायोंके द्वारा) द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये गये थे। इस गाथामें गुणपर्यायके द्वारा (एकद्रव्यपर्यायके द्वारा) द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य बताये गये हैं ॥ १०४ ॥

अब, सत्ता और द्रव्य अर्थान्तर (भिन्न पदार्थ, अन्य पदार्थ) नहीं हैं, इस संबंधमें युक्ति उपस्थित करते हैं:—

गाथा १०५

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**द्रव्यं**] द्रव्य [**सत् न भवति**] (स्वरूपसे ही) सत् न हो तो—(१) [**ध्रुवं असत् भवति**] निश्चयसे वह असत् होगा; [**तत् कथं द्रव्यं**] (जो असत् होगा) वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? [**पुनः वा**] अथवा (यदि असत् न हो) तो (२) [**अन्यत् भवति**] वह सत्तासे अन्य (पृथक्) हो ! (सो भी कैसे हो सकता है ?) [**तस्मात्**] इसलिये [**द्रव्यं स्वयं**] द्रव्य स्वयं ही [**सत्ता**] सत्ता है।

टीकाः—यदि द्रव्य स्वरूपसे ही सत् न हो तो दूसरी गति यह हो कि वह (१) असत् होगा, अथवा (२) सत्तासे पृथक् होगा। वहां, (१) यदि वह असत् होगा तो, ध्रौव्यके असंभव होनेसे स्वयं स्थिर न होता हुआ द्रव्यका ही लोप होजायगा; और (२) यदि सत्तासे पृथक् हो तो सत्ताके बिना भी स्वयं रहता हुआ, इतने ही मात्र प्रयोजन वाली[1] सत्ताको लोप कर देगा।

किन्तु यदि द्रव्य स्वरूपसे ही सत् हो तो—(१) ध्रौव्यके सद्भावके कारण स्वयं स्थिर होता हुआ, द्रव्य उदित होता है, (अर्थात् सिद्ध होता है); और (२) यदि सत्तासे अपृथक् रहकर स्वयं स्थिर (विद्यमान) रहता हुआ, इतने ही मात्र प्रयोजनवाली सत्ताको उदित (सिद्ध) करता है।

१—सत्ताका कार्य इतना ही है कि वह द्रव्यको विद्यमान रखे। यदि द्रव्य सत्तासे भिन्न रहकर भी स्थिर रहे तो फिर सत्ताका प्रयोजन ही नहीं रहता, अर्थात् सत्ताके अभावका प्रसंग आजायगा।

भवति। तत्रासद्भवद्ध्रौव्यस्यासंभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमेवास्तं गच्छेत्। सत्तातः पृथग्भवत् सत्तामन्तरेणात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामेवास्तं गमयेत्। स्वरूपतस्तु सद्भवद्ध्रौव्यस्य संभवादात्मानं धारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत्। सत्तातोऽपृथग्भूत्वा चात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत्। ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथक्त्वेनान्यत्वात्।१०५।

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति—

पविभत्तपदेसत्तं पुधुत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य।
अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम्॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम्। तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न संभाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत्। तथाहि—यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया गुणस्य प्रदेशास्त एव

इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्त्व (सत्ता) है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि भाव और भाववान्[1]का अपृथक्त्व द्वारा अनन्यत्व है॥ १०५॥

अब, पृथक्त्वका और अन्यत्वका लक्षण स्पष्ट करते हैं:—

गाथा १०६

अन्वयार्थः—[**प्रविभक्तप्रदेशत्वं**] विभक्तप्रदेशत्व [**पृथक्त्वं**] पृथक्त्व है, [**इति हि**] ऐसा [**वीरस्य शासनं**] वीरका उपदेश है। [**अतद्भावः**] अतद्भाव (उसरूप न होना) [**अन्यत्व**] अन्यत्व है। [**न तत् भवत्**] जो उसरूप न हो वह [**कथं एकम्**] एक कैसे हो सकता है? (कथंचित् सत्ता द्रव्यरूप नहीं है और द्रव्य सत्तारूप नहीं है, इसलिये वे एक नहीं हैं।)

टीका:—विभक्त (भिन्न) प्रदेशत्व पृथक्त्वका लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्यमें संभव नहीं है, क्योंकि गुण और गुणीमें विभक्तप्रदेशत्वका अभाव होता है,—शुक्लत्व और वस्त्रकी भांति। वह इसप्रकार है कि जैसे—जो शुक्लत्वके गुणके प्रदेश हैं वे ही वस्त्रके-गुणीके हैं, इसलिये उनमें प्रदेशभेद नहीं है; इसीप्रकार जो सत्ताके-गुणके प्रदेश हैं वे ही द्रव्यके-गुणीके हैं, इसलिये उनमें प्रदेशभेद नहीं है।

१—भाववान्=भाववाला। [द्रव्य भाववान् हैं और सत्ता उसका भाव है। वे अपृथक हैं, इस अपेक्षासे अनन्य हैं। पृथक्त्व और अन्यत्वका भेद जिस अपेक्षासे है उस अपेक्षाको लेकर उनके विशेषार्थ आगामी गाथामें कहेंगे, उन्हें यहां नहीं लगाना चाहिये, किन्तु यहां अनन्यत्वको अपृथक्त्वके अर्थमें ही समझना चाहिये।]

द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः। एवमपि तयोरन्यत्वमस्तितल्लक्षणसद्भावात्। अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव। तथाहि—यथा यः किलैकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, न खलु स एकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः। तथा या किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगु-

ऐसा होनेपर भी उनमें (सत्ता और द्रव्यमें) अन्यत्व है, क्योंकि (उनमें) अन्यत्वके लक्षणका सद्भाव है। अतद्भाव[1] अन्यत्वका लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्यके है ही, क्योंकि गुण और गुणीके तद्भावका[2] अभाव होता है;—शुक्लत्व और वस्त्रकी भांति। वह इसप्रकार है कि:—जैसे एक चक्षुइन्द्रियके विषयमें आनेवाला और अन्य सब इन्द्रियोंके समूहको गोचर न होनेवाला शुक्लत्व गुण है वह समस्त इन्द्रियसमूहको गोचर होनेवाला वस्त्र नहीं है; और जो समस्त इन्द्रियसमूहको गोचर होनेवाला वस्त्र है वह एक चक्षुइन्द्रियके विषयमें आनेवाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियोंके समूहको गोचर न होनेवाला शुक्लत्व गुण नहीं है, इसलिये उनके तद्भावका अभाव है; इसीप्रकार, किसीके[3] आश्रय रहनेवाली, निर्गुण[4], एक गुणकी बनी हुई, विशेषण[5] विधायक[6] और वृत्तिस्वरूप[7] जो सत्ता है वह किसीके आश्रयके बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणोंसे निर्मित, विशेष्य[8], विधीयमान[9] और वृत्तिमान[10]

१—अतद्भाव=(कथंचित्) उसका न होना; (कथंचित्) उस रूप न होना (कथंचित्) अतद्रूपता। द्रव्य कथंचित् सत्तारूपसे नहीं है और सत्ता कथंचित् द्रव्यरूपसे नहीं है, इसलिये उनके अतद्भाव है। २—तद्भाव= उसका होना, उसरूप होना, तद्रूपता। ३—सत्ता द्रव्यके आश्रयसे रहती है, द्रव्यको किसीका आश्रय नहीं है। [जैसे घड़ेमें घी रहता है, उसीप्रकार द्रव्यमें सत्ता नहीं रहती; क्योंकि घड़ेमें और घी में तो प्रदेशभेद है, किन्तु जैसे आममें वर्ण गंधादि हैं उसीप्रकार द्रव्यमें सत्ता है।] ४—निर्गुण=गुणरहित [सत्ता निर्गुण है, द्रव्य गुणवाला है। जैसे आम वर्ण, गंध, स्पर्शादिगुणयुक्त है, किन्तु वर्णगुण कहीं गंध, स्पर्श या अन्य किसी गुणवाला नहीं है, क्योंकि न तो वर्ण सूंघा जाता है और न स्पर्श किया जाता है। और जैसे आत्मा ज्ञानगुणवाला, वीर्यगुणवाला इत्यादि है, परन्तु ज्ञानगुण कहीं वीर्यगुणवाला या अन्य किसी गुणवाला नहीं है; इसीप्रकार द्रव्य अनन्त गुणोंवाला है, परन्तु सत्ता गुणवाली नहीं है। (यहां, जैसे दण्डी दण्डवाला है उसीप्रकार द्रव्यको गुणवाला नहीं समझना चाहिये; क्योंकि दण्डी और दण्डमें प्रदेशभेद है, किन्तु द्रव्य और गुण अभिन्नप्रदेशी हैं।)] ५—विशेषण= विशेषता; लक्षण; भेदकधर्म। ६=विधायक=विधान करनेवाला; रचयिता। ७—वृत्ति=होना, अस्तित्व, उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्त। ८—विशेष्य=विशेषताको धारण करनेवाला पदार्थ; लक्ष्य; भेद्यपदार्थ—धर्मी। [जैसे मिठास, सफेदी, सचिक्कणता आदि मिश्रीके विशेषगुण हैं, और मिश्री इन विशेषगुणोंसे विशेषित होती हुई अर्थात् उन विशेषताओं से ज्ञात होती हुई, उन भेदोंसे भेदित होती हुई एक पदार्थ है; और जैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य इत्यादि आत्माके विशेषण हैं और आत्मा उन विशेषणोंसे विशेषित होता हुआ (लक्षित, भेदित, पहचाना जाता हुआ) पदार्थ है उसीप्रकार सत्ता विशेषण है और द्रव्य विशेष्य है। (यहां यह नहीं भूलना चाहिये कि विशेष्य और विशेषणोंके प्रदेशभेद नहीं हैं।)] ९—विधीयमान=रचित होनेवाला। (सत्ता इत्यादि गुण द्रव्यके रचयिता हैं और द्रव्य उनके द्वारा रचा जानेवाला पदार्थ है।) १०—वृत्तिमान=वृत्तिवाला, अस्तित्ववाला, स्थित रहनेवाला। (सत्ता वृत्तिस्वरूप अर्थात् अस्तित्वस्वरूप है और द्रव्य अस्ति रहनेस्वरूप है।)

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१०७॥

सद्द्रव्यं सच्च गुणः सच्चैव च पर्याय इति विस्तारः।
यः खलु तस्याभावः स तदभावोऽतद्भावः ॥ १०७ ॥

यथा खल्वेकं मुक्ताफलस्रग्दाम, हार इति सूत्रमिति मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकं द्रव्यं द्रव्यमिति गुण इति पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्य मुक्ताफलस्रग्दाम्नः शुक्लो गुणः शुक्लो हारः शुक्लं सूत्रं शुक्लं मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकस्य द्रव्यस्य सत्तागुणः सद्द्रव्यं सद्गुणः सत्पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि यः शुक्लो

गाथा १०७

अन्वयार्थः—[**सतद्रव्यं**] 'सत्द्रव्य' [**सत् च गुणः**] 'सत्गुण' [**च**] और [**सत् च एव पर्यायः**] 'सत् पर्याय' [**इति**] इस प्रकार [**विस्तारः**] (सत्तागुणका) विस्तार है। [**यः खलु**] (उनमें परस्पर) और जो [**तस्य अभावः**] 'उसका अभाव' अर्थात् उसरूप होनेका अभाव' है सो [**सः**] वह [**तदभावः**] उसका अभाव [**अतद्भावः**] अतद्भाव है।

टीका:—जैसे एक मोतियोंकी माला हारके रूपमें सूत्र (धागा) के रूपमें और मोतीके रूपमें—तीन प्रकारसे विस्तारित की जाती है, उसीप्रकार एक द्रव्य, द्रव्यके रूपमें, गुणके रूपमें और पर्यायके रूपमें—तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है।

और जैसे एक मोतियोंकी मालाका शुक्लत्व गुण शुक्ल हार, शुक्ल धागा, और शुक्ल मोती,-यों तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है, उसीप्रकार एक द्रव्यका सत्तागुण सत् द्रव्य, सत्गुण, और सत्पर्याय,-यों तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है।

और जैसे एक मोतियोंकी मालामें जो शुक्लत्वगुण है वह हार नहीं है, धागा नहीं है या मोती नहीं है, और जो हार, धागा या मोती है वह शुक्लत्व गुण नहीं है:—इस प्रकार एक दूसरेमें जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है सो वह 'तद्-अभाव'[1] लक्षण 'अतद्भाव' है, जो कि अन्यत्व का कारण है। इसी प्रकार एक द्रव्यमें जो सत्तागुण है वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है, या पर्याय नहीं है; और जो द्रव्य अन्य गुण या पर्याय है वह सत्तागुण नहीं है,—इस प्रकार एक दूसरेमें जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है वह 'तद्-अभाव' लक्षण 'अतद्भाव' है जो कि अन्यत्वका कारण है।

भावार्थ:—एक आत्माका विस्तारकथनमें 'आत्मद्रव्य' के रूपमें 'ज्ञानादिगुण' के रूपमें और 'सिद्धत्वादि पर्याय'के रूपमें—तीन प्रकारसे वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार सर्व द्रव्योंके संबंधमें समझना चाहिये।

और एक आत्माके अस्तित्व गुणको 'सत् आत्मद्रव्य', 'सत् ज्ञानादिगुण' और 'सत् सिद्धत्वादि पर्याय'—यों तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है; इसी प्रकार सभी द्रव्योंके संबंधमें समझना चाहिये।

१—तद्-अभाव=उसका अभाव; (तद्-अभावः=तस्य अभावः) [तदभाव अतद्भावका लक्षण (स्वरूप) है; अतद्भाव अन्यत्वका कारण है।]

गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा स न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः। तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुण-स्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरे-तरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः ॥१०७॥

अथ सर्वथाऽभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति—

जं दव्वं तण्ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥ १०८ ॥

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणः स न तत्त्वमर्थात्।
एष ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्टः ॥ १०८ ॥

एकस्मिन्द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद्द्रव्यस्य गुण-रूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः। एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेर्न पुनर्द्रव्य-

---

और एक आत्माका जो अस्तित्व गुण है वह आत्मद्रव्य नहीं है, ज्ञानादिगुण नहीं है, या सिद्धत्वादि पर्याय नहीं है; और जो आत्म द्रव्य है, ज्ञानादिगुण है या सिद्धत्वादि पर्याय है वह अस्तित्व गुण नहीं है,—इस प्रकार उनमें परस्पर अतद्भाव है, जिसके कारण उनमें अन्यत्व है। इसी प्रकार सभी द्रव्योंके संबंधमें समझना चाहिये।

इस प्रकार इस गाथामें सत्ताको उदाहरण देकर अतद्भावको स्पष्टतया समझाया है।

(यहां इतना विशेष है कि जो सत्ता गुणके संबंधमें कहा है, वह अन्य गुणोंके विषयमें भी भली भांति समझ लेना चाहिये। यथा:—सत्ता गुणकी भांति एक आत्माके वीर्यगुणको 'वीर्यवान् आत्मद्रव्य' 'वीर्यवान् ज्ञानादिगुण' और 'वीर्यवान् सिद्धत्वादि पर्याय'—इस प्रकार विस्तरित कर सकते हैं। अभिन्नप्रदेश होनेसे इस प्रकार विस्तार किया जाता है, फिर भी संज्ञा- लक्षण-प्रयोजनादि भेद होनेसे वीर्यगुणके तथा आत्मद्रव्य, ज्ञानादि अन्य गुण और सिद्धत्वादि पर्यायके अतद्भाव है, जो कि उनमें अन्यत्वका कारण है ॥ १०७ ॥

अब, सर्वथा अभाव अतद्भावका लक्षण है, इसका निषेध करते हैं:—

गाथा १०८

अन्वयार्थः—[**अर्थात्**] स्वरूपापेक्षासे [**यत् द्रव्यं**] जो द्रव्य है [**तत् न गुणः**] वह गुण नहीं है, [**यः अपि गुणः**] और जो गुण है [**सः न तत्त्वं**] वह द्रव्य नहीं है। [**एषः हि अतद्भावः**] यह अतद्भाव है; [**न एव अभावः**] सर्वथा अभाव अतद्भाव नहीं है; [**इति निर्दिष्टः**] ऐसा (जिनेन्द्रदेव द्वारा) निर्देश किया गया है।

टीका:—एक द्रव्यमें जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है;—इस प्रकार द्रव्यका गुणरूपसे न होना है अथवा गुणका द्रव्यरूपसे न होना, अतद्भाव है; क्योंकि इतनेसे ही अन्यत्व व्यवहार (अन्यत्वरूप व्यवहार) सिद्ध होता है। परन्तुद्रव्यका अभाव गुण है, गुणका अभाव

स्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येवंलक्षणोऽभावोऽतद्भाव, एवं सत्येकद्रव्यस्यानेकत्वमुभय-शून्यत्वमपोहरूपत्वं वा स्यात्। तथाहि—यथा खलु चेतनद्रव्यस्याभावोऽचेतनद्रव्यमचेतनद्रव्य-स्याभावश्चेतनद्रव्यमिति तयोरनेकत्वं, तथा द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येकस्यापि-द्रव्यस्यानेकत्वं स्यात्। यथा सुवर्णस्याभावे सुवर्णत्वस्याभावः सुवर्णत्वस्याभावे सुवर्णस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं, तथा द्रव्यस्याभावे गुणस्याभावो गुणस्याभावे द्रव्यस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं स्यात्। यथा पटाभावमात्र एव घटो घटाभावमात्र एव पट इत्युभयोरपोहरूपत्वं तथा द्रव्याभाव-मात्र एव गुणो गुणाभावमात्र एव द्रव्यमित्यत्राप्यपोहरूपत्वं स्यात्। ततो द्रव्यगुणयोरेकत्वम-शून्यत्वमनपोहत्वं चेच्छता यथोदित एवातद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः ॥ १०८ ॥

द्रव्य है;—ऐसे लक्षणवाला अभाव अतद्भाव नहीं है। यदि ऐसा हो तो (१) एक द्रव्यको अनेकत्व आ जायगा, (२) उभयशून्यता (दोनोंका अभाव) हो जायगा, अथवा (३) अपोहरूपता आजायगी। इसीको समझाते हैं:—

(द्रव्यका अभाव गुण है और गुणका अभाव द्रव्य; ऐसा मानने पर प्रथम दोष इस प्रकार आयगा:-)

(१) जैसे चेतनद्रव्यका अभाव अचेतन द्रव्य है (और) अचेतनद्रव्यका अभाव चेतन द्रव्य है,—इस प्रकार उनके अनेकत्व (द्वित्व) है, उसीप्रकार द्रव्यका अभाव गुण, (और) गुणका अभाव द्रव्य है;—इस प्रकार एक द्रव्यके भी अनेकत्व आजायगा। (अर्थात् द्रव्यके एक होनेपर भी उसके अनेकत्वका प्रसंग आजायगा।

(अथवा उभयशून्यत्वरूप दूसरा दोष इस प्रकार आता है:—)

(२) जैसे सुवर्णका अभाव होने पर सुवर्णत्वका अभाव होजाता है, और सुवर्णत्वका अभाव होनेपर सुवर्णका अभाव होजाता है,—इस प्रकार उभयशून्यत्व होजाता है; उसीप्रकार द्रव्यका अभाव होनेपर गुणका अभाव और गुणका अभाव होनेपर द्रव्यका अभाव होजायगा;—इस प्रकार उभयशून्यता होजायगी। (अर्थात् द्रव्य तथा गुण दोनोंके अभावका प्रसंग आजायगा।)

(अथवा अपोहरूपता नामक तीसरा दोष इस प्रकार आता है:—)

(३) जैसे पटाभावमात्र ही घट है, घटाभावमात्र ही पट है, (अर्थात् वस्त्रके केवल अभाव जितना ही घट है, और घटका केवल अभाव जितना ही वस्त्र है)—इसप्रकार दोनोंके अपोहरूपता है, उसीप्रकार द्रव्याभावमात्र ही गुण और गुणाभावमात्रही द्रव्य होगा;—इसप्रकार इसमें भी (द्रव्य-गुणमें भी) अपोहरूपता[1] आजायगी, (अर्थात् केवल नकाररूपताका प्रसङ्ग आजायगा।)

इसलिये द्रव्य और गुणका एकत्व, अशून्यत्व और अनपोहत्व[2] चाहनेवालेको यथोक्त ही अतद्भाव मानना चाहिये ॥ १०८ ॥

१—अपोहरूपता=सर्वथा नकारात्मकता; सर्वथा भिन्नता। (द्रव्य और गुणमें एक दूसरेका केवल नकार ही हो तो 'द्रव्य गुण वाला है' यह गुण इस द्रव्यका है'—इत्यादि कथनसे सूचित किसी प्रकारका संबन्ध ही द्रव्य और गुणके नहीं बनेगा।) २—अनपोहत्व=अपोहरूपताका न होना; केवल नकारात्मकताका न होना।

अथ सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावं साधयति—

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं ॥ १०९ ॥

य: खलु द्रव्यस्वभाव: परिणाम: स गुण: सदविशिष्ट: ।
सदवस्थितं स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ॥ १०९ ॥

द्रव्यं हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति प्राक् प्रतिपादितम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य परिणामोऽभिहित: । य एव द्रव्यस्य स्वभावभूत: परिणाम:, स एव सदविशिष्टो गुण इतीह साध्यते । यदेव हि द्रव्यस्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्सदिति संशब्द्यते तदविशिष्टगुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूत: परिणाम: द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्या: प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणाम: । स त्वस्तित्वभूतद्रव्यवृत्त्यात्मकत्वात्सदविशिष्टो द्रव्यविधायको गुण एवेति सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभाव: सिद्ध्यति ॥ १०९ ॥

अब, सत्ता और द्रव्यका गुण-गुणित्व सिद्ध करते हैं:—

गाथा १०९

अन्वयार्थ:—[**य: खलु**] जो [**द्रव्यस्वभाव: परिणाम:**] द्रव्यका स्वभावभूत (उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक) परिणाम है [**स:**] वह [**सदविशिष्ट: गुण:**] 'सत्'से अविशिष्ट (सत्तासे अभिन्न) गुण है । [**स्वभावे अवस्थितं**] 'स्वभावमें अवस्थित (होनेसे) [**द्रव्यं**] द्रव्य [**सत्**] सत् है'—[**इति जिनोपदेश:**] ऐसा जो (९९ वीं गाथामें कथित) जिनोपदेश है [**अयम्**] वही यह है । (अर्थात् ९९ वीं गाथाके कथनमेंसे इस गाथामें कथित भाव सहज ही निकलता है ।)

टीका:—द्रव्य स्वभावमें नित्य अवस्थित होनेसे सत् है,—ऐसा पहले (९९ वीं गाथामें) प्रतिपादित किया गया है; और (वहां) द्रव्यका स्वभाव परिणाम कहा गया है । यहाँ यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है वही 'सत्'से अविशिष्ट (अस्तित्वसे अभिन्न,) गुण है ।

जो द्रव्यके स्वरूपका वृत्तिभूत अस्तित्व द्रव्यप्रधान कथनके द्वारा 'सत्' शब्दसे कहा जाता है उससे अविशिष्ट (उस अस्तित्वसे अनन्य) गुणभूत ही द्रव्य स्वभावभूत परिणाम है; क्योंकि द्रव्यकी वृत्ति (अस्तित्व) तीन प्रकारके समयको (भूत, भविष्यत, वर्तमान कालको) स्पर्शित करती है, इसलिये (वह वृत्ति—अस्तित्व) प्रतिक्षण उस उस स्वभावरूप परिणमित होती है, (इसलिये) प्रथम तो द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है; और वह (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम) अस्तित्वभूत द्रव्यकी वृत्तिस्वरूप होनेसे, 'सत्' से अविशिष्ट, द्रव्यविधायक (द्रव्यका रचयिता) गुण ही है । इसप्रकार सत्ता और द्रव्यका गुण-गुणी भाव सिद्ध होता है ॥ १०९ ॥

अथ गुणगुणिनोर्नानात्वमुपहन्ति—

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ ११० ॥

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह वा विना द्रव्यम्।
द्रव्यत्वं पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥ ११० ॥

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात्। यथा सुवर्णात्पृथग्भूतं तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलत्वादिकमिति वा। अथ तस्य तु द्रव्यस्य स्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वाख्यं यद्द्रव्यत्वं स खलु तद्भावाख्यो गुण एव भवन् किं हि द्रव्यात्पृथग्भूतत्वेन वर्तते। न वर्तत एव। तर्हि द्रव्यं सत्ताऽस्तु, स्वयमेव ॥ ११० ॥

अथ द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोरविरोधं साधयति—

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लभदि ॥ १११ ॥

एवंविधं स्वभावे द्रव्यं द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम्।
सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं सदा लभते ॥ १११ ॥

अब, गुण और गुणीके अनेकत्वका खण्डन करते हैं:—

गाथा ११०

अन्वयार्थः—[**इह**] इस विश्वमें [**गुणः इति वा कश्चित्**] गुण ऐसा कुछ [**पर्यायः इति वा**] या पर्याय ऐसा कुछ [**द्रव्यं विना नास्ति**] द्रव्यके विना (द्रव्यसे पृथक्) नहीं होता; [**द्रव्यत्वं पुनः भावः**] और द्रव्यत्व भाव है (अर्थात् अस्तित्व गुण है); [**तस्मात्**] इसलिये [**द्रव्यं स्वयं सत्ता**] द्रव्य स्वयं सत्ता (अस्तित्व) है।

टीका:—वास्तवमें द्रव्यसे पृथग्भूत ऐसा कोई गुण या ऐसी कोई पर्याय कुछ नहीं होता; जैसे—सुवर्णसे पृथग्भूत उसका पीलापन आदि या उसका कुण्डलत्वादि नहीं होता। अब, उस द्रव्यका स्वरूपकी वृत्तिभूत जो अस्तित्व नामसे कहा जानेवाला द्रव्यत्व है उसका 'भाव' नामसे कहा जानेवाला गुण ही होनेसे, क्या उस द्रव्यसे पृथक्‌रूपसे रहता है? नहीं ही रहता। तब फिर द्रव्य स्वयमेव सत्ता हो ॥ ११० ॥

अब, द्रव्यके सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद होनेमें अविरोध सिद्ध करते हैं:—

गाथा १११

अन्वयार्थः—[**एवं विधं द्रव्यं**] ऐसा (पूर्वोक्त) द्रव्य [**स्वभावे**] स्वभावमें [**द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां**] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके द्वारा [**सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भावं**] सद्भावसंबद्ध और असद्भावसंबद्ध उत्पादको [**सदा लभते**] सदा प्राप्त करता है।

एवमेतद्यथोदितप्रकारसाकल्याकलङ्कलाञ्छनमनादिनिधनं सत्स्वभावे प्रादुर्भावमास्कन्दति द्रव्यम्। स तु प्रादुर्भावो द्रव्यस्य द्रव्याभिधेयतायां सद्भावनिबद्ध एव स्यात्। पर्यायाभिधेयतायां त्वसद्भावनिबद्ध एव। तथाहि—यदा द्रव्यमेवाभिधीयते न पर्यायास्तदा प्रभवावसानवर्जिताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्द्रव्यनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः प्रभवावसानलाञ्छनाः क्रमप्रवृत्ताः पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवत्। तथाहि—यदा हेमैवाभिधीयते नाङ्गदादयः पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिरङ्गदादिपर्यायसमानजीविताः क्रमप्रवृत्ता अङ्गदादिपर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ताः संक्रामतो हेम्नः सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः। यदा तु पर्याया एवाभिधीयन्ते न द्रव्यं तदा प्रभवावसानलाञ्छनाभिः क्रमप्रवृत्ताभिः पर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिः प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका

टीका:—इसप्रकार यथोदित (पूर्वकथित) सर्वप्रकारसे निर्दोष लक्षणवाला अनादिनिधन यह द्रव्य सत्‌स्वभावमें उत्पादको प्राप्त होता है। द्रव्यका वह उत्पाद द्रव्यकी कथनीके समय सद्‌भावसंबद्ध है और पर्यायोंकी कथनीके समय असद्‌भावसंबद्ध है। इसे स्पष्ट समझाते हैं:—

जब द्रव्य ही कहा जाता है,—पर्यायें नहीं, तब उत्पत्ति-विनाशसेरहित, युगपत् प्रवर्तमान, द्रव्यको उत्पन्न करनेवाली अन्वयशक्तियोंके[1] द्वारा, उत्पत्तिविनाशलक्षणवाली, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायोंकी उत्पादक उन-उन व्यतिरेकव्यक्तियोंको[2] प्राप्त होनेवाले द्रव्यको सद्‌भावसंबद्ध[3] ही उत्पाद है; सुवर्णकी भांति। जैसे:—जब सुवर्ण ही कहा जाता है,-बाजूबंध आदि पर्यायें नहीं, तब सुवर्ण जितनी स्थायी, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियोंके द्वारा, बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितने स्थायी, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंकी उत्पादक उन उन व्यतिरेक व्यक्तियोंको प्राप्त होनेवाले सुवर्णका सद्‌भावसंबद्ध ही उत्पाद है।

और जब पर्यायें ही कही जाती हैं, द्रव्य नहीं, तब उत्पत्ति-विनाश जिनका लक्षण है ऐसी, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली उन उन व्यतिरेकव्यक्तियोंके द्वारा, उत्पत्ति-विनाश रहित, युगपत्

१—अन्वयशक्ति=अन्वयरूपशक्ति। (अन्वयशक्तियां उत्पत्ति और नाशसे रहित हैं, एक ही साथ प्रवृत्त होती हैं और द्रव्यको उत्पन्न करती हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, इत्यादि आत्मद्रव्यकी अन्वयशक्तियां हैं।)

२—व्यतिरेकव्यक्ति=भेदरूप प्रगटता। [व्यतिरेकव्यक्तियां उत्पत्ति विनाशको प्राप्त होती हैं, क्रमशः प्रवृत्त होती हैं और पर्यायोंको उत्पन्न करती हैं। श्रुतज्ञान, केवलज्ञान इत्यादि तथा स्वरूपाचरण चारित्र, यथाख्यातचारित्र इत्यादि आत्मद्रव्यकी व्यतिरेकव्यक्तियां हैं। व्यतिरेक और अन्वयके अर्थोंके लिये वें पृष्ठका फुटनोट (टिप्पण) देखें।]

३—सद्‌भावसंबद्ध=सद्‌भाव—सत्‌के साथ संबन्ध रखनेवाला,—संकलित। [द्रव्यकी विवक्षाके समय अन्वय शक्तियोंको मुख्य और व्यतिरेकव्यक्तियोंको गौण कर दिया जाता है, इसलिये द्रव्यके सद्‌भावसंबद्ध उत्पाद (सत्-उत्पाद, विद्यमानका उत्पाद) है।]

अन्वयशक्तीः संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः हेमवदेव । तथाहि—यदाङ्गदादिपर्याया एवाभिधीयन्ते न हेम तदाङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभिः क्रमप्रवृत्ताभिरङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिर्हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेमनिष्पादिका अन्वयशक्तीः संक्रामतो हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भावः । अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्पत्तौ पर्यायनिष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रवीकुर्युः, तथाङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाभिरङ्गदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन् । द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तयः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युः ।

प्रवर्तमान द्रव्यकी उत्पादक अन्वयशक्तियोंको प्राप्त होनेवाले द्रव्यको असद्भावसंबद्ध[1] ही उत्पाद है; सुवर्णकी ही भांति । यथा—जब बाजूबंधादि पर्यायें ही कही जाती हैं—सुवर्ण नहीं, तब बाजूबंध इत्यादि पर्याय जितनी टिकनेवाली, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंकी उत्पादक उन उन व्यतिरेकव्यक्तियोंके द्वारा, सुवर्ण जितनी टिकनेवाली, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियोंको प्राप्त सुवर्णके असद्भावयुक्त ही उत्पाद है ।

अब, पर्यायोंकी अभिधेयता (कथनी) के समय भी, असत्-उत्पादमें पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली वे वे व्यतिरेकव्यक्तियाँ युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वय शक्तित्वको प्राप्त होती हुई पर्यायोंको, द्रव्य करता है (पर्यायोंकी विवक्षाके समय भी व्यतिरेकव्यक्तियाँ अन्वयशक्तिरूप बनती हुई पर्यायोंको, द्रव्यरूप करती हैं); जैसे बाजूबंध आदि पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली वे-वे व्यतिरेकव्यक्तियाँ युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वयशक्तित्वको प्राप्त करती हुई बाजूबंध इत्यादि पर्यायोंको, सुवर्ण करता है । द्रव्यकी अभिधेयताके समय भी, सत्-उत्पादमें द्रव्यकी उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्तिको प्राप्त करके उस उस व्यतिरेकव्यक्तित्वको प्राप्त होती हुई, द्रव्यको पर्यायरूप करती हैं; जैसे सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके उस उस व्यतिरेकव्यक्तित्वको प्राप्त होती हुई, सुवर्णको बाजूबंधादि पर्यायमात्ररूप करती हैं ।

इसलिये द्रव्यार्थिक कथनसे सत्-उत्पाद है, पर्यायार्थिक कथनसे असत्-उत्पाद है,—यह बात अनवद्य (निर्दोष, अबाध्य) है ।

भावार्थ:—जो पहले विद्यमान हो उसीकी उत्पत्तिको सत्-उत्पाद कहते हैं, और जो पहले विद्यमान न हो उसकी उत्पत्तिको असत्-उत्पाद कहते हैं । जब पर्यायोंको गौण करके द्रव्यका मुख्यतया कथन किया जाता है, तब तो जो विद्यमान था वही उत्पन्न होता है, (क्योंकि द्रव्य तो तीनों कालमें

१—असद्भावसंबद्ध=असत्‌के साथ संबंधवाला—संकलित । [पर्यायोंकी विवक्षाके समय व्यतिरेकव्यक्तियोंको मुख्य और अन्वयशक्तियोंको गौण किया जाता है, इसलिये द्रव्यके असद्भावसंबद्ध उत्पाद (असत् उत्पाद, अविद्यमानका उत्पाद) है ।]

तथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकमापन्नाभिर्हेमाङ्गदादिपर्यायमात्री क्रियेत । ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पादः, पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनवद्यम् ॥ १११ ॥

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति—

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ॥ ११२ ॥

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुनः ।
किं द्रव्यत्वं प्रजहाति न जहदन्यः कथं भवति ॥ ११२ ॥

द्रव्यं हि तावद्द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिं नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव । यस्तु द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात्

विद्यमान है); इसलिये द्रव्यार्थिक नयसे तो द्रव्यको सत्-उत्पाद है; और जब द्रव्यको गौण करके पर्यायोंका मुख्यतया कथन किया जाता है तब जो विद्यमान नहीं था वह उत्पन्न होता है (क्योंकि वर्तमानपर्याय भूतकालमें विद्यमान नहीं थी), इसलिये पर्यायार्थिक नयसे द्रव्यके असत्-उत्पाद है ।

यहां यह लक्ष्यमें रखना चाहिये कि द्रव्य और पर्यायें भिन्न भिन्न वस्तुयें नहीं हैं; इसलिये पर्यायोंकी विवक्षाके समय भी, असत्‌उत्पादमें, जो पर्यायें हैं वे द्रव्य ही हैं, और द्रव्यकी विवक्षाके समय भी, सत्‌उत्पादमें, जो द्रव्य है वे पर्यायें ही हैं ॥ १११ ॥

अब (सर्व पर्यायोंमें द्रव्य अनन्य है अर्थात् वह का वही है,इसलिये उसके सत्-उत्पाद है,—इसप्रकार) सत्-उत्पादको अनन्यत्वके द्वारा निश्चित करते हैं :—

गाथा ११२

अन्वयार्थः—[**जीवः**] जीव [**भवन्**] परिणमित होता हुआ [**नरः**] मनुष्य, [**अमरः**] देव [**वा**] अथवा [**परः**] अन्य (तिर्यंच, नारकी या सिद्ध) [**भविष्यति**] होगा, [**पुनः**] परन्तु [**भूत्वा**] मनुष्य देवादि होकर [**किं**] क्या वह [**द्रव्यत्वं प्रजहाति**] द्रव्यत्वको छोड़ देता है ? [**न जहत्**] नहीं छोड़ता हुआ वह [**अन्यः कथं भवति**] अन्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् वह अन्य नहीं, वहका वही है ।)

टीकाः—प्रथम तो द्रव्य द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिको कभी भी न छोड़ता हुआ सत् ही है । और द्रव्यके जो पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्तिका उत्पाद होता है उसमें भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिका अच्युतत्व होनेसे द्रव्य अनन्य ही है, (अर्थात् उस उत्पादमें भी अन्वयशक्ति अपतित-अविनष्ट-निश्चल होनेसे द्रव्य वहका वही है, अन्य नहीं ।) इसलिये अनन्यत्वके द्वारा द्रव्यका सत्-उत्पाद निश्चित होता है, (अर्थात् उपरोक्त कथनानुसार द्रव्यका द्रव्यापेक्षासे अनन्यत्व होनेसे, उसके सत्-उत्पाद है,—ऐसा अनन्यत्वके द्वारा सिद्ध होता है ।)

इसी बातको उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करते हैं :—

द्रव्यमनन्यदेव । ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः । तथाहि—जीवो द्रव्यं भवन्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वानामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भविष्यति । स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति । यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितत्रिकोटिसत्ताकः स एव न स्यात् ॥ ११२ ॥

अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति—

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥ ११३ ॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा ।
एवमभवन्ननन्यभावं कथं लभते ॥ ११३ ॥

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव । यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मि-

---

जीव द्रव्य होनेसे और द्रव्य पर्यायोंमें वर्तनेसे जीव नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वमेंसे किसी एक पर्यायमें अवश्य (परिणमित) होगा । परन्तु वह जीव उस पर्यायरूप होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिको छोड़ता है ? नहीं छोड़ता यदि नहीं छोड़ता तो वह अन्य कैसे हो सकता है कि जिससे त्रिकोटि सत्ता (तीनप्रकारकी सत्ता, त्रैकालिक अस्तित्व) जिसके प्रगट है ऐसा वह (जीव), वही न हो ? (अर्थात् तीनों कालमें विद्यमान वह जीव अन्य नहीं, वहका वही है ।)

भावार्थः—जीव मनुष्य-देवादिक पर्यायरूप परिणमित होता हुआ भी अन्य नहीं हो जाता, अनन्य रहता है, वहका वही रहता है; क्योंकि 'वही यह देवका जीव है, जो पूर्वभवमें मनुष्य था और अमुक भवमें तिर्यंच था' ऐसा ज्ञान हो सकता है । इसप्रकार जीवकी भांति प्रत्येक द्रव्य अपनी सर्व पर्यायोंमें वहका वही रहता है, अन्य नहीं हो जाता,—अनन्य रहता है । इसप्रकार द्रव्यका अनन्यत्व होनेसे द्रव्यका सत्-उत्पाद निश्चित होता है ॥ ११२ ॥

अब, असत्-उत्पादको अन्यत्वके द्वारा निश्चित करते हैं:—

गाथा ११३

अन्वयार्थः—[मनुजः] मनुष्य **[देवः न भवति]** देव नहीं है, **[वा]** अथवा **[देवः]** देव **[मानुषः वा सिद्धः वा]** मनुष्य या सिद्ध नहीं है; **[एवं अभवन्]** ऐसा न होता हुआ **[अनन्यभावं कथं लभते]** अनन्यभावको कैसे प्राप्त हो सकता है ?

टीकाः—पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिके कालमें ही सत् (विद्यमान) होनेसे, उनसे अन्य कालोंमें असत् (अविद्यमान) ही हैं । और पर्यायोंका द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिके साथ गुंथा हुआ (एकरूपतासे युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्वकालमें उत्पाद होना है उसमें पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्तिका पहले असत्त्व होनेसे, पर्यायें अन्य हैं । इसलिये पर्यायोंकी अन्यताके द्वारा द्रव्यका—जो

न्पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव। ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्योऽपृथग्भूतस्य द्रव्यस्यासदुत्पादः। तथाहि—न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात् न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात्। एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात् येनान्य एव न स्यात्। येन च निष्पद्यमानमनुजादिपर्यायं जायमानवलयादिविकारं काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रतिपदमन्यन्न स्यात् ॥ ११३ ॥

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिपेधमुद्धुनोति—

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥ ११४ ॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः ।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥ ११४ ॥

कि पर्यायोंके स्वरूपका कर्ता, करण और अधिकरण होनेसे पर्यायोंसे अपृथक् है,—असत्-उत्पाद निश्चित होता है।

इस बातको (उदाहरण देकर) स्पष्ट करते हैं :—

मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है, और देव, मनुष्य या सिद्ध नहीं है; ऐसा न होता हुआ अनन्य (वहका वही) कैसे हो सकता है, कि जिससे अन्य ही न हो और जिससे जिसके मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं ऐसा जीव द्रव्य भी,-जिसकी कंकणादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं ऐसे सुवर्णकी भांति—पद-पद पर (प्रति पर्याय पर) अन्य न हो ? [जैसे कंकण, कुण्डल इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, (भिन्न भिन्न हैं, वे की वे ही नहीं हैं) इसलिये उन पर्यायोंका कर्त्ता सुवर्ण भी अन्य है, इसीप्रकार मनुष्य,देव इत्यादि पर्यायें अन्य हैं, इसलिये उन पर्यायोंका कर्त्ता जीव द्रव्य भी पर्यायापेक्षासे अन्य है।]

भावार्थः—जीवके अनादि अनन्त होने पर भी, मनुष्य पर्यायकालमें देवपर्यायकी या स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धपर्यायकी अप्राप्ति है, अर्थात् मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है, इसलिये वे पर्यायें अन्य अन्य हैं। ऐसा होनेसे, उन पर्यायोंका कर्त्ता, साधन और आधार जीव भी पर्यायापेक्षासे अन्यत्वको प्राप्त होता है। इसप्रकार जीवकी भांति प्रत्येक द्रव्यके पर्यायापेक्षासे अन्यत्व है। ऐसा होनेसे द्रव्यके असत्-उत्पाद है,—यह निश्चित हुआ ॥ ११३ ॥

अब, एक ही द्रव्यके अन्यत्व और अनन्यत्व होनेमें जो विरोध है, उसे दूर करते हैं। (अर्थात् उसमें विरोध नहीं आता, यह बतलाते हैं) :—

गाथा ११४

अन्वयार्थः—[**द्रव्यार्थिकेन**] द्रव्यार्थिक नयसे [**सर्वं**] सब [**द्रव्यं**] द्रव्य है; [**पुनः च**] और [**पर्यायार्थिकेन**] पर्यायार्थिक नयसे [**तत्**] वह (द्रव्य) [**अन्यत्**] अन्य-अन्य है, [**तत्काले तन्मयत्वात्**] क्योंकि उस समय तन्मय होनेसे [**अनन्यत्**] (द्रव्य पर्यायोंसे) अनन्य है।

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति । तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वंजीवद्रव्यमिति प्रतिभाति । यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति । द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत् । यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थितं

टीका:—वास्तवमें सभी वस्तु सामान्यविशेषात्मक होनेसे वस्तुका स्वरूप देखनेवालोंके क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेषको जाननेवाली दो आँखें हैं:—(१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक ।

इनमेंसे पर्यायार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व–पर्यायस्वरूप विशेषोंमें रहनेवाले एक जीवसामान्यको देखनेवाले और विशेषोंको न देखनेवाले जीवोंको 'वह सब जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है। और जब द्रव्यार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब जीवद्रव्यमें रहने वाले नारकत्व, तिर्यंचत्व मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप अनेक विशेषोंको देखनेवाले और सामान्यको न देखने वाले जीवोंको (वह जीव द्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है, क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषोंके समय तन्मय होनेसे उन-उन विशेषोंसे अनन्य है,—कण्डे, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्निकी भांति। (जैसे घास, लकड़ी इत्यादिकी अग्नि उस-उससमय घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होनेसे घास लकड़ी इत्यादिसे अनन्य है, उसीप्रकार द्रव्य उन-उन पर्यायरूप विशेषोंके समय तन्मय होनेसे उनसे अनन्य है,—पृथक् नहीं है।) और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक-दोनों आंखोंको एक ही साथ खोलकर उनके द्वारा और इनके (द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक चक्षुओंके) द्वारा देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यंचत्व मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्यायोंमें रहने वाला जीवसामान्य तथा जीवसामान्यमें रहनेवाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व-पर्याय स्वरूप विशेष तुल्यकालमें ही (एक ही साथ) दिखाई देते हैं।

वहाँ एक आँखसे देखा जाना एकदेश अवलोकन है और दोनों आंखोंसे देखना सर्वावलोकन (सम्पूर्ण अवलोकन) है। इसलिये सर्वावलोकनमें द्रव्यके अन्यत्व और अनन्यत्व विरोधको प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ:—प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है, इसलिये प्रत्येक द्रव्य वहका वही भी रहता है और बदलता भी है। द्रव्यका स्वरूप ही ऐसा उभयात्मक है, इसलिये द्रव्यके अनन्यत्वमें और अन्यत्वमें

जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते । तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते ॥ ११४ ॥

अथ सर्वविप्रतिषेधनिषेधिकां सप्तभङ्गीमवतारयति—

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ ११५ ॥

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम् ।
पर्यायेण तु केनचित् तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ॥ ११५ ॥

स्यादस्त्येव १ स्यान्नास्त्येव २ स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादस्तिनास्त्येव ४ स्यादस्त्यवक्तव्यमेव ५ स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव ६ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव ७, स्वरूपेण १ पररूपेण २ स्वपर-

---

विरोध नहीं है। जैसे—मरीचि और भगवान महावीरका जीवसामान्यकी अपेक्षासे अनन्यत्व और जीवके विशेषोंकी अपेक्षासे अन्यत्व होनेमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

द्रव्यार्थिकनयरूपी एक चक्षुसे देखनेपर द्रव्य सामान्य ही ज्ञात होता है, इसलिये द्रव्य अनन्य अर्थात् वहका वही भासित होता है, और पर्यायार्थिकनयरूपी दूसरी एक चक्षुसे देखने पर द्रव्यके पर्यायरूप विशेष ज्ञात होते हैं, इसलिये द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है। तथा दोनों नयरूपी दोनों चक्षुओंसे देखने पर द्रव्य सामान्य और द्रव्यके विशेष-दोनों ज्ञात होते हैं, इसलिये द्रव्य अनन्य तथा अन्य-अन्य दोनों भासित होता है ॥ ११४ ॥

अब, समस्त विरोधोंको दूर करनेवाली सप्तभंगी प्रगट करते हैं :—

गाथा ११५

अन्वयार्थः—[**द्रव्यं**] द्रव्य [**अस्ति इति च**] किसी पर्यायसे 'अस्ति' [**नास्ति इति च**] किसी पर्यायसे 'नास्ति' [**पुनः**] और [**अवक्तव्यम् इति भवति**] किसी पर्यायसे 'अवक्तव्य' है, [**केनचित् पर्यायेण तु तदुभयं**] और किसी पर्यायसे 'अस्ति-नास्ति, (दोनों) [**वा**] अथवा [**अन्यत् आदिष्टम्**] किसी पर्यायसे अन्य तीन भंगरूप कहा गया है।

टीका:—द्रव्य (१) स्वरूपापेक्षासे 'स्यात्[1] अस्ति'; (२) पररूपकी अपेक्षासे 'स्यात् नास्ति';

१—'स्यात्'=कथंचित; किसीप्रकार; किसी अपेक्षासे। (प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे—स्व द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व काल और स्व भावकी अपेक्षासे—'अस्ति' है। शुद्ध जीवका स्वचतुष्टय इसप्रकार है:—शुद्ध गुणपर्यायोंका आधारभूत शुद्धात्म द्रव्य द्रव्य है; लोकाकाशप्रमाण शुद्ध असंख्यप्रदेश क्षेत्र है, शुद्ध पर्यायरूपसे परिणत वर्तमान समय काल है, और शुद्ध चैतन्य भाव है।)

रूपयौगपद्येन ३ स्वपररूपक्रमेण ४ स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ५ पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ६ स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैरादिश्यमानस्य स्वरूपेण सतः, पररूपेणासतः, स्वपररूपाभ्यां युगपद्वक्तुमशक्यस्य, स्वपररूपाभ्यां क्रमेण सतोऽसतश्च, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां सतो वक्तुमशक्यस्य च, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यामसतो वक्तुमशक्यस्य च, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैः सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभङ्गिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति ॥ ११५ ॥

अथ निर्धार्यमाणत्वेनोदाहरणीकृतस्य जीवस्य मनुष्यादिपर्यायाणां क्रियाफलत्वेनान्यत्वं द्योतयति—

(३) स्वरूप-पररूपकी युगपत् अपेक्षासे 'स्यात् अवक्तव्य'[१]; (४) स्वरूप-पररूपके क्रमकी अपेक्षासे 'स्यात् अस्ति-नास्ति'; (५) स्वरूपकी और स्वरूप-पररूपकी युगपत् अपेक्षासे 'स्यात् अस्ति-अवक्तव्य'; (६) पररूपकी और स्वरूप-पररूपकी युगपत् अपेक्षासे 'स्यात् नास्ति अवक्तव्य'; और (७) स्वरूपकी, पररूपकी तथा स्वरूप-पररूपकी युगपत् अपेक्षासे 'स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य' है।

द्रव्यका कथन करनेमें, (१) जो स्वरूपसे 'सत्' है; (२) जो पररूपसे 'असत्' है; (३) जिसका स्वरूप और पररूपसे युगपत् कथन अशक्य है; (४) जो स्वरूपसे और पररूपसे क्रमशः 'सत् और असत्' है; (५) जो स्वरूपसे और स्वरूप-पररूपसे युगपत् 'सत् और अवक्तव्य' है; (६) जो पररूपसे, और स्वरूप-पररूपसे युगपत् 'असत् और अवक्तव्य' है; तथा (७) जो स्वरूपसे, पर-रूप और स्वरूपपररूपसे युगपत् 'सत्, असत् और अवक्तव्य' है;—ऐसे अनन्त धर्मोंवाले द्रव्यके एक एक धर्मका आश्रय लेकर[२] विवक्षित-अविवक्षितताके विधि-निषेधके द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभंगी सतत सम्यक्तया उच्चारित करनेपर स्यात्कार रूपी[३] अमोघ मंत्र पदके द्वारा 'एव' कार[४]में रहनेवाले समस्त विरोध-विषके मोहको दूर करती है ॥ ११५ ॥

अब, जिसका निर्धार करना है, इस लिये जिसे उदाहरण रूप बनाया गया है ऐसे जीवकी

२—अवक्तव्य=जो कहा न जा सके। (एक ही साथ स्वरूप तथा पररूपकी अपेक्षासे द्रव्य कथनमें नहीं आसकता, इसलिये 'अवक्तव्य' है।) २—विवक्षित (कथनीय) धर्मको मुख्य करके उसका प्रतिपादन करनेसे और अविवक्षित (न कहने योग्य) धर्मको गौण करके उसका निषेध करनेसे सप्तभंगी प्रगट होती है। ३—स्याद्वादमें अनेकान्तका सूचक 'स्यात्' शब्द सम्यक्तया प्रयुक्त होता है। वह 'स्यात्' पद एकान्तवादमें रहने वाले समस्त विरोधरूपी विषके भ्रमको नष्ट करनेके लिये रामबाण मंत्र है। ४—अनेकान्तात्मक वस्तुस्वभावकी अपेक्षासे रहित एकान्तवादमें मिथ्या एकान्तको सूचित करता हुआ जो 'एव' या 'ही' शब्द प्रयुक्त होता है वह वस्तुस्वभावसे विपरीत निरूपण करता है, इसलिये उसका यहां निषेध किया है। (अनेकान्तात्मक वस्तुस्वभावका ध्यान चूके बिना, जिस अपेक्षासे वस्तुका कथन चल रहा हो उस अपेक्षासे उसका निर्णीतत्व,—नियमबद्धत्व,—निरपवादत्व बतलानेके लिये 'एव' या 'ही' शब्द प्रयुक्त होता है, उसका यहां निषेध नहीं समझना चाहिये।)

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥ ११६ ॥

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता ।
क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निःफलः परमः ॥ ११६ ॥

इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसन्निधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति । ततस्तस्य मनुष्यादिपर्यायेषु न कश्चनाप्येष एवेति टङ्कोत्कीर्णोऽस्ति, तेषां पूर्वपूर्वोपमर्दप्रवृत्तक्रियाफलत्वेनोत्तरोत्तरोपमर्द्यमानत्वात् फलमभिलष्येत वा मोहसंवलनाविलयनात् क्रियायाः । क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैतन्यपरिणामात्मिका । सा पुनरणोरण्वन्तरसंगतस्य परिणतिरिवात्मनो मोहसंवलितस्य द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिका-

मनुष्यादि पर्यायें क्रियाकी फल हैं इसलिये उनका अन्यत्व (अर्थात् वे पर्यायें बदलती रहती हैं, इसप्रकार) प्रकाशित करते हैं:-

गाथा ११६

अन्वयार्थः—**[एषः इति कश्चित् नास्ति]** (मनुष्यादि पर्यायों में) 'यही' ऐसी कोई (शाश्वत पर्याय) नहीं हैं; **[स्वभाव निर्वृत्ता क्रिया नास्ति न]** (क्यों कि संसारी जीवके) स्वभावनिष्पन्न क्रिया नहीं हो सो बात नहीं है; (अर्थात् विभावस्वभावसे उत्पन्न होनेवाली रागद्वेषमय क्रिया अवश्य है ।) **[यदि]** और यदि **[परमः धर्मः निःफलः]** परमधर्म अफल है तो **[क्रिया हि अफला नास्ति]** क्रिया अवश्य अफल नहीं है; (अर्थात् एक वीतरागभावही मनुष्यादिपर्यायरूप फल उत्पन्न नहीं करता; रागद्वेषमय क्रिया तो अवश्य वह फल उत्पन्न करती है ।)

टीका:—यहाँ (इस विश्वमें), अनादिकर्मपुद्गलकी उपाधिके सद्भावके आश्रय (कारण) से जिसके प्रतिक्षण विपरिणमन होता रहता है ऐसे संसारी जीवको क्रिया वास्तव में स्वभाव निष्पन्न ही है; इसलिये उसके मनुष्यादि पर्यायों में से कोई भी पर्याय 'यही' है ऐसी टंकोत्कीर्ण नहीं है; क्यों कि वे पर्यायें पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश में प्रवर्तमान क्रिया फलरूप होने से उत्तर-उत्तर[1] पर्यायों के द्वारा नष्ट होती हैं । और क्रिया का फल तो, मोहके साथ मिलन (मिश्रितता) का नाश न हुआ होने से मानना चाहिये; क्यों कि-प्रथम तो, क्रिया चेतनकी पूर्वोत्तर दशासे विशिष्ट[2] चैतन्य परिणाम स्वरूप है; और वह (क्रिया) जैसे-दूसरे अणु के साथ युक्त (किसी) अणुकी परिणति द्विअणुक कार्यकी निष्पादक[3] है, उसी प्रकार मोहके साथ मिलित आत्मा के संबंधमें, मनुष्यादि कार्यकी निष्पादक होने से सफल ही है;

१—उत्तर उत्तर=बादकी । (मनुष्यादिपर्यायें रागद्वेषमय क्रियाकी फलरूप हैं, इसलिये कोई भी पर्याय पूर्व पर्यायको नष्ट करती है और बादकी पर्यायसे स्वयं नष्ट होती है ।) २—विशिष्ट=भेदयुक्त । (पूर्वकी और पश्चात्की अवस्थाके भेदसे भेदयुक्त चैतन्य परिणाम आत्माकी क्रिया है ।) ३—द्विअणुककार्यकी निष्पादक=दो अणुओंसे बने हुये स्कंधरूप कार्यकी उत्पादक ।

र्यस्य निष्पादकत्वात्सफलैव । सैव मोहसंवलनविलयने पुनरणोरुच्छिन्नाणवन्तरसंगमस्य परिणतिरिव द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्यानिष्पादकत्वात् परमद्रव्यस्वभावभूततया परमधर्माख्या भवत्यफलैव ॥ ११६ ॥

अथ मनुष्यादिपर्यायाणां जीवस्य क्रियाफलत्वं व्यनक्ति—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥ ११७ ॥

कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन ।
अभिभूय नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं करोति ॥ ११७ ॥

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूतायाः प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः। क्रियाऽभावे पुद्गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूतानां तेषामभावात् । अथ कथं ते कर्मणः कार्यभावमायान्ति,

और जैसे दूसरे अणुके साथका संबंध जिसका नष्ट होगया है ऐसे अणुकी परिणति द्वि-अणुक कार्यकी निष्पादक नहीं है, उसीप्रकार मोहके साथ मिलनका नाश होने पर वही क्रिया-द्रव्यकी परमस्वभावभूत होनेसे 'परमधर्म' नामसे कही जाने वाली-मनुष्यादि कार्यकी निष्पादक न होनेसे अफल ही है ।

भावार्थः—चैतन्यपरिणति आत्माकी क्रिया है। मोहरहितक्रिया मनुष्यादि पर्यायरूपफल उत्पन्न नहीं करती, और मोह सहित क्रिया[1] अवश्य मनुष्यादि पर्यायरूपफल उत्पन्न करती है। मोह सहित भाव एकप्रकारके नहीं होते, इसलिये उसके फलरूप मनुष्यादि पर्यायें भी टंकोत्कीर्ण-शाश्वत एकरूप नहीं होतीं ॥ ११६ ॥

अब, यह व्यक्त करते हैं कि मनुष्यादि पर्यायें जीवको क्रियाके फल हैं:—

गाथा ११७

अन्वयार्थः—[अथ] वहाँ **[नामसमाख्यं कर्म]** 'नाम' संज्ञावाला कर्म **[स्वभावेन]** अपने स्वभावसे **[आत्मनः स्वभावं अभिभूय]** जीवके स्वभावका पराभव करके, **[नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं]** मनुष्य, तिर्यंच, नारक अथवा देव (इन पर्यायों) को **[करोति]** करता है ।

टीका:—क्रिया वास्तवमें आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे कर्म है. (अर्थात् आत्मा क्रियाको प्राप्त करता है इसलिये वास्तवमें क्रिया ही आत्माका कर्म है ।) उसके निमित्तसे परिणमन (द्रव्यकर्मरूप) को प्राप्त होता हुआ पुद्गल भी कर्म है । उस (पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायें मूलकारणभूत

[1]—मूल गाथामें प्रयुक्त 'क्रिया' शब्दसे मोहसहित क्रिया समझनी चाहिये । मोहरहित क्रियाको तो 'परम धर्म' नाम दिया गया है ।

कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणत्वात् प्रदीपवत्। तथाहि—यथा खलु ज्योतिःस्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणःप्रदीपो ज्योतिःकार्यं तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम्॥ ११७॥

अथ कुतो मनुष्यादिपर्यायेषु जीवस्य स्वभावाभिभवो भवतीति निर्धारयति—

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि॥ ११८॥

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवाः खलु नामकर्मनिर्वृत्ताः।
न हि ते लब्धस्वभावाः परिणममानाः स्वकर्माणि॥११८॥

अमी मनुष्यादयः पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ताः सन्ति तावत्। न पुनरेतावतापि तत्र जीवस्य

जीवकी क्रियासे प्रवर्तमान होनेसे क्रियाफल ही हैं; क्योंकि क्रियाके अभावमें पुद्गलोंको कर्मत्वका अभाव होनेसे उस (पुद्गल कर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायोंका अभाव होता है।

वहाँ, वे मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य कैसे हैं? (सो कहते हैं कि-) वे कर्मस्वभावके द्वारा जीवके स्वभावका पराभव करके की जाती हैं, इसलिये; दीपककी भांति। यथाः—ज्योति (लौ) के स्वभावके द्वारा तेलके स्वभावका पराभव करके किया जानेवाला दीपक ज्योतिका कार्य है, उसीप्रकार कर्मस्वभावके द्वारा जीवके स्वभावका पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य हैं।

भावार्थः—मनुष्यादि पर्यायें ११६ वीं गाथामें कही गई रागद्वेषमय क्रियाके फल हैं; क्योंकि उस क्रियासे कर्मबन्ध होता है, और कर्म जीवके स्वभावका पराभव करके मनुष्यादि पर्यायोंको उत्पन्न करते हैं॥ ११७॥

अब यह निर्णय करते हैं कि मनुष्यादि पर्यायोंमें जीवके स्वभावका पराभव किस कारणसे होता है? :—

गाथा ११८

अन्वयार्थः—[**नरनारकतिर्यक्सुराः जीवाः**] मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप जीव [**खलु**] वास्तवमें [**नामकर्म निर्वृत्ताः**] नामकर्मसे निष्पन्न हैं। [**हि**] वास्तवमें [**स्वकर्माणि**] वे अपने कर्मरूपसे [**परिणममानाः**] परिणमित होते हैं इसलिये [**ते न लब्धस्वभावाः**] उन्हें स्वभावकी उपलब्धि नहीं है।

टीकाः—प्रथम तो यह मनुष्यादि पर्यायें नामकर्मसे निष्पन्न हैं, किन्तु इतनेसे भी वहाँ जीवके स्वभावका पराभव नहीं है; जैसे—सुवर्णमें जड़े हुये माणिकवाले कंकणोंमें माणिकके स्वभावका पराभव नहीं होता। जो वहाँ जीव स्वभावको उपलब्ध नहीं करता—अनुभव नहीं करता सो स्वकर्मरूप परिणमित होनेसे है, पानीके पूर (बाढ़) की भांति। जैसे—पानीका पूर प्रदेशसे और स्वादसे निम्ब-चन्दनादि-

स्वभावाभिभवोऽस्ति। यथा कनकबद्धमाणिक्यकङ्कणेषु माणिक्यस्य। यत्तत्र नैव जीवः स्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात् पयःपूरवत्। यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुमन्द-चन्दनादिवनराजीं परिणमन्न द्रव्यत्वस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते ॥ ११८ ॥

अथ जीवस्य द्रव्यत्वेनावस्थितत्वेऽपि पर्यायैरनवस्थितत्वं द्योतयति—

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ॥ ११९ ॥

जायते नैव न नश्यति क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कश्चित्।
यो हि भवः स विलयः संभवविलयाविति तौ नाना ॥११९॥

वनराजिरूप (नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षोंकी लम्बी पंक्तिरूप) परिणमित होता हुआ (अपने) द्रवत्व[1] और स्वादुत्वरूप[2] स्वभावको उपलब्ध नहीं करता, उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेशसे और भावसे स्वकर्मरूप परिणमित होनेसे (अपने) अमूर्तत्व और निरुपराग-विशुद्धिमत्वरूप[3] स्वभावको उपलब्ध नहीं करता।

भावार्थः—मनुष्यादि पर्यायोंमें कर्म कहीं जीवके स्वभावको न तो हनता है और न आच्छादित करता है; परन्तु वहां जीव स्वयं ही अपने दोषसे कर्मानुसार परिणमन करता है, इसलिये उसे अपने स्वभावकी उपलब्धि नहीं है। जैसे पानीका पूर प्रदेशकी अपेक्षासे वृक्षोंके रूपसे परिणमित होता हुआ अपने प्रवाहीपनेरूप स्वभावको उपलब्ध करता हुआ अनुभव नहीं करता, और स्वादकी अपेक्षासे वृक्षरूप परिणमित होता हुआ अपने स्वादिष्टपनेरूप स्वभावको उपलब्ध नहीं करता, उसीप्रकार आत्मा भी प्रदेशकी अपेक्षासे स्वकर्मानुसार परिणमित होता हुआ अपने अमूर्तत्वरूप स्वभावको उपलब्ध नहीं करता और भावकी अपेक्षासे स्वकर्मरूप परिणमित होता हुआ उपरागसे रहित विशुद्धिवालापनारूप अपने स्वभावको उपलब्ध नहीं करता। इससे यह निश्चित होता है कि मनुष्यादि पर्यायोंमें जीवोंको अपने ही दोषसे अपने स्वभावकी अनुपलब्धि है, कर्मादिक अन्य किसी कारणसे नहीं। 'कर्म जीवके स्वभावका पराभव करता है' यह कहना तो उपचार कथन है; परमार्थसे ऐसा नहीं है ॥ ११८ ॥

अब, जीवकी द्रव्यरूपसे अवस्थितता (स्थिरता) होने पर भी पर्यायोंसे अनवस्थितता (अस्थिरता) प्रकाशते हैं:—

गाथा ११९

अन्वयार्थः—[**क्षणभङ्गसमुद्भवे जने**] प्रतिक्षण उत्पाद और विनाशवाले जीवलोकमें [**कश्चित्**] कोई [**न एव जायते**] उत्पन्न नहीं होता, और [**न नश्यति**] न नष्ट

१—द्रवत्व=प्रवाहीपना। २—स्वादुत्व=स्वादिष्टपना। ३—निरुपराग विशुद्धिमत्व=उपराग (मलिनता, विकार) रहित विशुद्धिवालापना [अरूपीपना और निर्विकार-विशुद्धिवालापना आत्माका स्वभाव है।]

इह तावन्न कश्चिज्जायते न म्रियते च। अथ च मनुष्यदेवतिर्यङ्नारकात्मको जीवलोकः प्रतिक्षणपरिणामित्वादुत्संगितक्षणभङ्गोत्पादः। न च विप्रतिषिद्धमेतत्, संभवविलययोरेकत्व-नानात्वाभ्याम्। यदा खलु भङ्गोत्पादयोरेकत्वं तदा पूर्वपक्षः, यदा तु नानात्वं तदोत्तरः। तथाहि—यथा य एव घटस्तदेव कुण्डमित्युक्ते घटकुण्डस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूता मृत्तिका संभवति, तथा य एव संभवः स एव विलय इत्युक्ते संभवविलयस्वरूपयोरेकत्वासंभवा-त्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं संभवति। ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने च य एव संभवः स एव विलय इति कृत्वा तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यवज्जीवद्रव्यं संभाव्यत एव। ततः सर्वदा द्रव्यत्वेन जीवष्टङ्कोत्कीर्णोऽवतिष्ठते। अपि च यथाऽन्यो घटोऽन्यत्कुण्डमित्युक्ते तदुभयाधारभूताया मृत्तिकाया अन्यत्वासंभवात् घटकुण्डस्वरूपे संभवतः, तथान्यः संभवोऽन्यो विलय इत्युक्ते तदुभयाधारभूतस्य ध्रौव्यस्यान्यत्वासंभवात्संभवविलयस्वरूपे संभवतः। ततो

होता है; [**हि**] क्योंकि [**यः भवः सः विलयः**] जो उत्पाद है वही विनाश है; [**संभव-विलयौ इति तौ नाना**] और उत्पाद तथा विनाश, इसप्रकार वे अनेक (भिन्न) भी हैं।

टीका:—प्रथम तो यहाँ न कोई जन्म लेता है और न मरता है, (अर्थात् इस लोकमें कोई न तो उत्पन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता है; और (ऐसा होने पर भी) मनुष्य-देव-तिर्यंच-नारकात्मक जीवलोक प्रतिक्षण परिणामी होनेसे क्षण-क्षणमें होनेवाले विनाश और उत्पादके साथ (भी) जुड़ा हुआ है। और यह विरोधको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उद्भव और विलयका एकत्व और अनेकत्व है। जब उद्भव और विलयका एकत्व है तब पूर्वपक्ष है, और जब अनेकत्व है तब उत्तरपक्ष है। (अर्थात्–जब उत्पाद और विनाशके एकत्वकी अपेक्षा ली जाय तब यह पक्ष फलित होता है कि–'न तो कोई उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है'; और जब उत्पाद तथा विनाशके अनेकत्वकी अपेक्षा ली जाय तब प्रतिक्षण होनेवाले विनाश और उत्पादका पक्ष फलित होता है।) वह इसप्रकार है:—

जैसे:—'जो घड़ा है वही कूंडा है' ऐसा कहा जानेपर, घड़े और कूंडेके स्वरूपका एकत्व असम्भव होनेसे, उन दोनोंकी आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है, उसीप्रकार 'जो उत्पाद है वही विनाश है' ऐसा कहा जानेपर उत्पाद और विनाशके स्वरूपका एकत्व असम्भव होनेसे उन दोनोंका आधारभूत ध्रौव्य प्रगट होता है; इसलिये देवादिपर्यायके उत्पन्न होने और मनुष्यादि पर्यायके नष्ट होने पर, 'जो उत्पाद है वही विलय है' ऐसा माननेसे (इस अपेक्षासे) उन दोनोंका आधारभूत ध्रौव्यवान् जीवद्रव्य प्रगट होता है (लक्षमें आता है); इसलिये सर्वदा द्रव्यत्वसे जीव टंकोत्कीर्ण रहता है।

और फिर, जैसे—'अन्य घड़ा है और अन्य कूंडा है' ऐसा कहा जानेपर उन दोनोंकी आधारभूत मिट्टीका अन्यत्व (भिन्न-भिन्नत्व) असंभवित होनेसे घड़ेका और कूंडेका (दोनोंका भिन्न भिन्न) स्वरूप प्रगट होता है, उसीप्रकार अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है' ऐसा कहा जानेपर, उन दोनोंके आधारभूत

देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने चान्यः संभवोऽन्यो विलय इति कृत्वा संभवविलयवन्तौ देवादिमनुष्यादिपर्यायौ संभाव्येते । ततः प्रतिक्षणं पर्यायैर्जीवोऽनवस्थितः ॥ ११९ ॥

अथ जीवस्यानवस्थितत्वहेतुमुद्योतयति—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे ।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥ १२० ॥

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति संसारे ।
संसारः पुनः क्रिया संसरतो द्रव्यस्य ॥ १२० ॥

यतः खलु जीवो द्रव्यत्वेनावस्थितोऽपि पर्यायैरनवस्थितः, ततः प्रतीयते न कश्चिदपि संसारे स्वभावेनावस्थित इति । यच्चात्रानवस्थितत्वं तत्र संसार एव हेतुः । तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वात् स्वरूपेणैव तथाविधत्वात् । अथ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरित्यागोपादानात्मकः क्रियाख्यः परिणामस्तत्संसारस्य स्वरूपम् ॥ १२० ॥

ध्रौव्यका अन्यत्व असंभवित होनेसे उत्पाद और व्ययका स्वरूप प्रगट होता है; इसलिये देवादि पर्यायके उत्पन्न होने पर और मनुष्यादि पर्यायके नष्ट होने पर, 'अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षासे) उत्पाद और व्ययवाली देवादिपर्याय और मनुष्यादिपर्याय प्रगट होती है (लक्षमें आती है); इसलिये जीव प्रतिक्षण पर्यायोंसे अनवस्थित है ॥ ११९ ॥

अब, जीवकी अनवस्थितताका हेतु प्रगट करते हैं:—

गाथा १२०

अन्वयार्थः—[**तस्मात् तु**] इसलिये [**संसारे**] संसारमें [**स्वभावसमवस्थितः इति**] स्वभावसे अवस्थित ऐसा [**कश्चित् नास्ति**] कोई नहीं है; (अर्थात् संसारमें किसीका स्वभाव केवल एकरूप रहनेवाला नहीं है); [**संसारः पुनः**] और संसार तो [**संसरतः**] संसरण करते हुये (गोल फिरते हुये, परिवर्तित होते हुये) [**द्रव्यस्य**] द्रव्यकी [**क्रिया**] क्रिया है ।

टीकाः—वास्तवमें जीव द्रव्यत्वसे अवस्थित होनेपर भी पर्यायोंसे अनवस्थित है; इससे यह प्रतीत होता है कि संसारमें कोई भी स्वभावसे अवस्थित नहीं है (अर्थात् किसीका स्वभाव केवल अविचल-एकरूप रहनेवाला नहीं है); और यहां जो अनवस्थितता है उसमें संसार ही हेतु है; क्योंकि वह (संसार) मनुष्यादि पर्यायात्मक है, कारण कि वह स्वरूपसे ही वैसा है, (अर्थात् संसारका स्वरूप ही ऐसा है ।) उसमें परिणमन करते हुये द्रव्यका पूर्वोत्तर दशाका त्यागग्रहणात्मक क्रिया नामक परिणाम है सो वह संसारका स्वरूप है ॥ १२० ॥

अथ परिणामात्मके संसारे कुतः पुद्गलश्लेषो येन तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वमित्यत्र समाधानमुपवर्णयति—

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥ १२१ ॥

आत्मा कर्ममलीमसः परिणामं लभते कर्मसंयुक्तम् ।
ततः श्लिष्यति कर्म तस्मात् कर्म तु परिणामः ॥ १२१ ॥

यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतुः । अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतुः, द्रव्यकर्म हेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनैवोपलम्भात् । एवं सतीतरेतराश्रयदोषः न हि । अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसंबद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादा-

अब परिणामात्मक संसारमें किस कारणसे पुद्गलका संबंध होता है—कि जिससे वह (संसार) मनुष्यादि पर्यायात्मक होता है ?—इसका यहां समाधान करते हैं:—

गाथा १२१

अन्वयार्थः—[**कर्ममलीमसः आत्मा**] कर्मसे मलिन आत्मा [**कर्मसंयुक्तं परिणामं**] कर्मसंयुक्त परिणामको (द्रव्यकर्मके संयोगसे होनेवाले अशुद्ध परिणामको) [**लभते**] प्राप्त करता है, [**ततः**] उससे [**कर्म श्लिष्यति**] कर्म चिपक जाता है (द्रव्यकर्मका बंध होता है); [**तस्मात् तु**] इसलिये [**परिणामः कर्म**] परिणाम कर्म है ।

टीका:—'संसार' नामक जो यह आत्माका तथाविध (उसप्रकारका) परिणाम है वही द्रव्यकर्मके चिपकनेका हेतु है । अब, उसप्रकारके परिणामका हेतु कौन है ? (इसके उत्तरमें कहते हैं कि :) द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्यकर्मकी[1] संयुक्ततासे ही वह देखा जाता है ।

(शंका:—)ऐसा होनेसे इतरेतराश्रयदोष[2] आयगा ! (समाधान) नहीं आयगा; क्योंकि अनादि-सिद्ध द्रव्यकर्मके साथ संबद्ध आत्माका जो पूर्वका द्रव्यकर्म[3] है उसका वहां हेतुरूपसे ग्रहण (स्वीकार) किया गया है ।

१—द्रव्यकर्मके संयोगसे ही अशुद्ध परिणाम होते हैं, द्रव्यकर्मके बिना वे कभी नहीं होते । इसलिये द्रव्यकर्म अशुद्ध परिणामका कारण है । २—एक असिद्ध बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरी असिद्ध बातका आश्रय लिया जाय, और फिर उस दूसरी बातको सिद्ध करनेके लिये पहलीका आश्रय लिया जाय,—सो इस तर्क-दोषको इतरेतराश्रयदोष कहा जाता है ।

द्रव्यकर्मका कारण अशुद्ध परिणाम कहा है; फिर उस अशुद्ध परिणामके कारणके संबंधमें पूछे जानेपर, उसका कारण पुनः द्रव्यकर्म कहा है, इसलिये शंकाकारको शंका होती है कि इस बातमें इतरेतराश्रय दोष आता है । ३—नवीन द्रव्यकर्मका कारण अशुद्ध आत्मपरिणाम है, और उस अशुद्ध आत्म-परिणामका कारण वहका वही (नवीन) द्रव्यकर्म नहीं किन्तु पहलेका (पुराना) द्रव्यकर्म है; इसलिये इसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं आता ।

नात्। एवं कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविधपरिणामो द्रव्यकर्मैव। तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात् ॥ १२१ ॥

अथ परमार्थादात्मनो द्रव्यकर्माकर्तृत्वमुद्योतयति—

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥ १२२ ॥

परिणामः स्वयमात्मा सा पुनः क्रियेति भवति जीवमयी ।
क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता ॥ १२२ ॥

आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्। या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मणः। अथ द्रव्यकर्मणः कः कर्तेति चेत्। पुद्गलपरिणामो हि तावत्स्वयं पुद्गल एव,

इसप्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्माका तथाविधपरिणाम होनेसे, वह उपचारसे द्रव्यकर्म ही है, और आत्मा भी अपने परिणामका कर्त्ता होनेसे द्रव्यकर्मका कर्त्ता भी उपचारसे है ॥ १२१ ॥

अब, परमार्थसे आत्माके द्रव्यकर्मका अकर्तृत्व प्रकाशित करते हैं :—

गाथा १२२

अन्वयार्थः—[**परिणामः**] परिणाम [**स्वयम्**] स्वयं [**आत्मा**] आत्मा है, [**सा पुनः**] और वह [**जीवमयी क्रिया इति भवति**] जीवमय क्रिया है; [**क्रिया**] क्रियाको [**कर्म इति मता**] कर्म माना गया है; [**तस्मात्**] इसलिये आत्मा [**कर्मणः कर्ता तु न**] द्रव्य कर्मका कर्त्ता तो नहीं है ।

टीकाः—प्रथम तो आत्माका परिणाम वास्तवमें स्वयं आत्मा ही है, क्योंकि परिणामी परिणामके स्वरूपका कर्त्ता होनेसे परिणामसे अनन्य है; और जो उस (आत्मा) का तथाविध परिणाम है वह जीवमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्योंकी परिणामलक्षणक्रिया आत्ममयता (निजमयता) से स्वीकार की गई है; और फिर, जो (जीवमयी) क्रिया है वह आत्माके द्वारा स्वतंत्रतया प्राप्य[1] होनेसे कर्म है । इसलिये परमार्थतः आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्मका ही कर्ता है; किन्तु पुद्गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्मका नहीं ।

१—प्राप्य=प्राप्त होने योग्य, (जो स्वतंत्रतया करे सो कर्ता है; और कर्ता जिसे प्राप्त करे सो कर्म है ।)

परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा पुद्गलमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्। या च क्रिया सा पुनः पुद्गलेन स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः। तत आत्मात्मस्वरूपेण परिणमति न पुद्गलस्वरूपेण परिणमति ॥ १२२ ॥

अथ किं तत्स्वरूपं येनात्मा परिणमतीति तदावेदयति—

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा ।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥ १२३ ॥

परिणमति चेतनया आत्मा पुनः चेतना त्रिधाभिमता।
सा पुनः ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ॥ १२३ ॥

यतो हि नाम चैतन्यमात्मनः स्वधर्मव्यापकत्वं, ततश्चेतनैवात्मनः स्वरूपं तया खल्वात्मा परिणमति। यः कश्चनाप्यात्मनः परिणामः स सर्वोऽपि चेतनां नातिवर्तत इति तात्पर्यम्।

अब यहां यह प्रश्न होता है कि '(जीव भावकर्मका ही कर्त्ता है तब फिर) द्रव्यकर्मका कर्त्ता कौन है ?' (इसका उत्तर इसप्रकार है:—) प्रथम तो पुद्गलका परिणाम वास्तवमें स्वयं पुद्गल ही है, क्योंकि परिणामी परिणामके स्वरूपका कर्त्ता होनेसे परिणामसे अनन्य है; और जो उस (पुद्गल) का तथाविध परिणाम है वह पुद्गलमयी ही क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्योंकी परिणामस्वरूप क्रिया निजमय होती है, यह स्वीकार किया गया है; और फिर, जो (पुद्गलमयी) क्रिया है वह पुद्गलके द्वारा स्वतंत्रतया प्राप्य होनेसे कर्म है। इसलिये परमार्थतः पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्मका ही कर्त्ता है, किन्तु आत्माके परिणामस्वरूप भावकर्मका नहीं।

इससे (यह समझना चाहिये कि) आत्मा आत्मस्वरूप परिणमित होता है, पुद्गलस्वरूप परिणमित नहीं होता ॥ १२२ ॥

अब, यह कहते हैं कि वह कौनसा स्वरूप है जिसरूप आत्मा परिणमित होता है ? :—

गाथा १२३

अन्वयार्थः—[**आत्मा**] आत्मा [**चेतनया**] चेतनारूपसे [**परिणमति**] परिणमित होता है। [**पुनः**] और [**चेतना**] चेतना [**त्रिधा अभिमता**] तीनप्रकारसे मानीगई है; [**पुनः**] और [**सा**] वह [**ज्ञाने**] ज्ञानसंबंधी, [**कर्मणि**] कर्मसंबंधी [**वा**] अथवा [**कर्मणः फले**] कर्मफल संबंधी [**भणिता**] कही गई है।

टीका:—[जिससे चैतन्य आत्माका स्वधर्मव्यापकत्व[1] है, उससे चेतना ही आत्माका स्वरूप है;

१—स्वधर्मव्यापकत्व=निजधर्मोंमें व्यापकपना।

चेतना पुनर्ज्ञानकर्मकर्मफलत्वेन त्रेधा। तत्र ज्ञानपरिणतिर्ज्ञानचेतना, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणतिः कर्मफलचेतना ॥ १२३ ॥

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपमुपवर्णयति—

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं त्ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥ १२४ ॥

ज्ञानमर्थविकल्पः कर्म जीवेन यत्समारब्धम्।
तदनेकविधं भणितं फलमिति सौख्यं वा दुःखं वा ॥ १२४ ॥

अर्थविकल्पस्तावत् ज्ञानम्। तत्र कः खल्वर्थः, स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं, विकल्पस्तदाकारावभासनम्। यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारोऽर्थविकल्पस्तद् ज्ञानम्। क्रियमाणमात्मना कर्म, क्रियमाणः खल्वात्मना प्रतिक्षणं तेन तेन भावेन भवता यः

उसरूप (चेतनारूप) वास्तवमें आत्मा परिणमित होता है। आत्माका जो कुछ भी परिणाम हो वह सब ही चेतनाका उल्लंघन नहीं करता, (अर्थात् आत्माका कोई भी परिणाम चेतनाको किंचित्मात्र भी नहीं छोड़ता—बिना चेतनाके बिलकुल नहीं होता।)—यह तात्पर्य है। और चेतना ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूपसे तीनप्रकारकी है। उसमें ज्ञानपरिणति ज्ञानचेतना, कर्मपरिणति कर्मचेतना और कर्मफलपरिणति कर्मफलचेतना है ॥ १२३ ॥

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफलका स्वरूप वर्णन करते हैं:—

गाथा १२४

अन्वयार्थः—[**अर्थविकल्पः**] अर्थ विकल्प (अर्थात् स्व-पर पदार्थोंका भिन्नतापूर्वक युगपत् अवभासन) [**ज्ञानं**] ज्ञान है; [**जीवेन**] जीवके द्वारा [**यत् समारब्धं**] जो किया जा रहा हो वह [**कर्म**] कर्म है, [**तत् अनेकविधं**] वह अनेक प्रकारका है; [**सौख्यं वा दुःखं वा**] सुख अथवा दुःख [**फलं इति भणितम्**] कर्मफल कहा गया है।

टीका:—प्रथम तो, अर्थविकल्प ज्ञान है। वहाँ, अर्थ क्या है? स्व-परके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व[1] अर्थ है। उसके आकारोंका अवभासन (प्रकाशित) विकल्प है। और दर्पणके निजविस्तारकी भाँति (अर्थात् जैसे दर्पणके निज विस्तारमें स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं उसीप्रकार) जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थविकल्प ज्ञान है।

जो आत्माके द्वारा किया जाता है वह कर्म है। प्रतिक्षण उस उस भावसे होता हुआ आत्माके

१—विश्व=समस्त पदार्थ—द्रव्य गुण पर्याय। (पदार्थोंमें स्व और पर—ऐसे दो विभाग हैं। जो जाननेवाले आत्माका अपना हो वह स्व है, और दूसरा सब पर है।)

तद्भावः स एव कर्मात्मना प्राप्यत्वात्। तत्त्वेकविधमपि द्रव्यकर्मोपाधिसन्निधिसद्भावासद्भावाभ्यामनेकविधम्। तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्यं सुखदुःखं तत्कर्मफलम्। तत्र द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्यासद्भावात्कर्म तस्य फलमनाकुलत्वलक्षणं प्रकृतिभूतं सौख्यं, यत्तु द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्यसद्भावात्कर्म तस्य फलं सौख्यलक्षणाभावाद्विकृतिभूतं दुःखम्। एवं ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपनिश्चयः॥ १२४॥

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यात्मत्वेन निश्चिनोति—

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो॥ १२५॥

आत्मा परिणामात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी।
तस्मात् ज्ञानं कर्म फलं चात्मा ज्ञातव्यः॥ १२५॥

द्वारा वास्तवमें किया जानेवाला जो उसका भाव है वही, आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे कर्म है। और वह (कर्म) एकप्रकारका होनेपर भी, द्रव्यकर्मरूप उपाधिकी निकटताके सद्भाव और असद्भावके कारण अनेकप्रकारका है।

उस कर्मसे उत्पन्न किया जानेवाला सुख-दुःख कर्मफल है। वहाँ, द्रव्यकर्मरूप उपाधिकी निकटताके असद्भावके कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्वलक्षण प्रकृति (स्वभाव) भूत सुख है; और द्रव्यकर्मरूप उपाधिकी निकटताके सद्भावके कारण जो कर्म होता है, उसका फल विकृति-(विकार) भूत दुःख है, क्योंकि वहाँ सुखके लक्षणका अभाव है।

इसप्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफलका स्वरूप निश्चित हुआ।

भावार्थः—जिसमें स्व, स्व-रूपसे और पर, पर-रूपसे (परस्पर एकमेक हुये बिना, स्पष्टभिन्नतापूर्वक) एकही साथ प्रतिभासित हो सो ज्ञान है। जीवके द्वारा किया जानेवाला भाव (जीवका) कर्म है। उसके मुख्य दो भेद हैं (१) निरुपाधिक (स्वाभाविक) शुद्धभावरूप कर्म, और (२) औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म।

(उस कर्मके द्वारा उत्पन्न होनेवाला सुख अथवा दुःख कर्मफल है। वहाँ, द्रव्यकर्मरूप उपाधिमें युक्त न होनेसे जो निरुपाधिक शुद्ध भावरूप कर्म होता है, उसका फल अनाकुलतालक्षणरूप स्वभावभूत सुख है; और द्रव्यकर्मरूप उपाधिमें युक्त होनेसे जो औपाधिक शुभाशुभभावरूप कर्म होता है, उसका फल विकारभूत दुःख है, क्योंकि उसमें अनाकुलता नहीं, किन्तु आकुलता है।

इसप्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफलका स्वरूप कहा गया॥ १२४॥

अब ज्ञान, कर्म और कर्मफलको आत्मारूपसे निश्चित करते हैं:—

गाथा १२५

अन्वयार्थः—[**आत्मा परिणामात्मा**] आत्मा परिणामात्मक है; [**परिणामः**]

१—आत्मा अपने भावको प्राप्त करता है, इसलिये वह भाव ही आत्माका कर्म है।

आत्मा हि तावत्परिणामात्मैव, परिणामः स्वयमात्मेति स्वयमुक्तत्वात् । परिणामस्तु चेतनात्मकत्वेन ज्ञानं कर्म कर्मफलं वा भवितुं शीलः, तन्मयत्वाच्चेतनायाः । ततो ज्ञानं कर्म कर्मफलं चात्मैव । एवं हि शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसंपर्कासंभवात्पर्यायाणां द्रव्यान्तः-प्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्ठते ॥ १२५ ॥

अथैवमात्मनो ज्ञेयतामापन्नस्यशुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वसिद्धौ शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसंहरति—

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥ १२६ ॥

कर्ता करणं कर्म कर्मफलं चात्मेति निश्चितः श्रमणः ।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धम् ॥ १२६ ॥

परिणाम [ज्ञानकर्मफलभावी] ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होता है; [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं, कर्म, फलं च] ज्ञान, कर्म और कर्मफल [आत्मा ज्ञातव्यः] आत्मा है ऐसा समझना ।

टीका:—प्रथम तो आत्मा वास्तवमें परिणामस्वरूप ही है, क्योंकि 'परिणाम स्वयं आत्मा है' ऐसा (११२ वीं गाथामें भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य देवने) स्वयं कहा है; और परिणाम चेतनास्वरूप होनेसे ज्ञान,-कर्म और कर्मफलरूप होनेके स्वभाववाला है, क्योंकि चेतना तन्मय (ज्ञानमय, कर्ममय अथवा कर्मफलमय) होती है । इसलिये ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है ।

इसप्रकार वास्तवमें शुद्ध द्रव्यके निरूपणमें परद्रव्यके सम्पर्क (संबंध) का असंभव होनेसे और पर्यायें द्रव्यके भीतर प्रलीन (लुप्त) हो जानेसे आत्मा शुद्धद्रव्य ही रहता है ॥ १२५ ॥

अब, इसप्रकार ज्ञेयत्वको प्राप्त[1] आत्माकी शुद्धताके निश्चयसे ज्ञानतत्वकी सिद्धि होनेपर शुद्ध आत्मतत्वकी उपलब्धि (प्राप्ति) होती है; इसप्रकार उसका अभिनन्दन करते हुये (अर्थात् आत्माकी शुद्धताके निर्णयकी प्रशंसा करते हुये) द्रव्यसामान्यके वर्णनका उपसंहार करते हैं :—

गाथा १२६

अन्वयार्थ:—[यदि] यदि [श्रमणः] श्रमण [कर्ता, करणं, कर्म, कर्मफलं च आत्मा] 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है' [इति निश्चितः] ऐसा निश्चयवाला होता हुआ [अन्यत्] अन्यरूप [न एव परिणमति] परिणमित नहीं ही हो तो वह [शुद्धं आत्मानं] शुद्ध आत्माको [लभते] उपलब्ध करता है ।

१—ज्ञेयत्वको प्राप्त=ज्ञेयभूत । (आत्मा ज्ञानरूप भी और ज्ञेयरूप भी है, इस ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार में यहाँ द्रव्य सामान्यका निरूपण किया जा रहा है; उसमें आत्मा ज्ञेयभूतरूपसे समाविष्ट हुआ है ।)

यो हि नामैवं कर्तारं करणं कर्म कर्मफलं चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्यं परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसंपर्कं द्रव्यान्तःप्रलीनपर्यायं च शुद्धमात्मानमुपलभते, न पुनरन्यः। तथाहि—यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्ति-र्जपापुष्पसंनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव परारोपितविकारोऽहमासं संसारी तदापि न नाम मम कोऽप्यासीत्, तदाप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः करणमासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्परिणमनस्व-

टीका:—जो पुरुष इसप्रकार 'कर्ता' करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है' यह निश्चय करके[1] वास्तवमें परद्रव्यरूप परिणमित नहीं होता वही पुरुष, जिसका परद्रव्यके साथ संपर्क रुक गया है, और जिसकी पर्यायें द्रव्यके भीतर प्रलीन होगई हैं ऐसे शुद्धात्माको उपलब्ध करता है; परन्तु अन्य कोई नहीं।

इसीको स्पष्टतया समझाते हैं :—

"जब अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्मकी बंधनरूप उपाधिकी निकटतासे उत्पन्न हुये उपराग[2] के द्वारा जिसकी स्वपरिणति रंजित (विकृत) थी ऐसा मैं जपाकुसुमकी निकटतासे उत्पन्न हुये उपराग (लालिमा से जिसकी स्वपरिणति रंजित (रंगी हुई) हो ऐसे स्फटिक मणिकी भांति-परके द्वारा आरोपित[3] विकार वाला होनेसे संसारी था, तब भी (अज्ञानदशामें भी) वास्तवमें मेरा कोई भी (संबंधी) नहीं था। तब भी मैं अकेला ही कर्ता[4] था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त (विकृत) चैतन्यरूप स्वभावसे स्वतंत्र था (अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता था); मैं अकेला ही करण था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभावके द्वारा साधकतम (उत्कृष्टसाधन) था; मैं अकेला ही कर्म था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप परिणमित होनेके स्वभावके कारण आत्मासे प्राप्य था; और मैं अकेला ही सुखसे विपरीत लक्षणवाला, 'दुःख' नामक कर्मफल था,—जो कि उपरक्त चैतन्यरूपपरिणमित होनेके स्वभावसे उत्पन्न किया जाता था।

और अब, अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्मकी बंधनरूप उपाधिकी निकटताके नाशसे जिसकी सुविशुद्ध सहज (स्वाभाविक) स्वपरिणति प्रगट हुई है ऐसा मैं-जपाकुसुमकी निकटताके नाशसे जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई हो ऐसे स्फटिकमणिकी भाँति-जिसका परके द्वारा आरोपित विकार रुक गया है, ऐसा होनेसे एकान्ततः मुमुक्षु (केवल मोक्षार्थी) हूँ; अभी भी (मुमुक्षु दशामें-ज्ञानदशामें भी) वास्तवमें मेरा कोई भी नहीं है। अभी भी मैं अकेला ही कर्ता हूं, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्य-

१—'कर्ता करण इत्यादि आत्मा ही है' ऐसा निश्चय होने पर दो बातें निश्चित होजाती हैं;—एक तो यह कि 'कर्ता, करण इत्यादि आत्मा ही है, पुद्गलादि नहीं, अर्थात् आत्माका परद्रव्यके साथ संबंध नहीं है;' दूसरी—'अभेद दृष्टिमें कर्ता, करण इत्यादि भेद नहीं हैं, यह सब एक आत्मा ही है, अर्थात् पर्यायें द्रव्यके भीतर लीन होगई हैं।' २—उपराग=किसी पदार्थमें, अन्य उपाधिकी समीपताके निमित्तसे होनेवाला उपाधिके अनुरूप विकारी भाव; औपाधिक भाव; विकार; मलिनता। ३—आरोपित=(नवीन अर्थात् औपाधिकरूपसें) किये गये। [विकार स्वभावभूत नहीं थे, किन्तु उपाधिके निमित्तसे औपाधिकरूपसे (नवीन) हुये थे।] ४—कर्ता, करण और कर्मके अर्थोंके लिये १६वीं गाथाका भावार्थ देखना चाहिये।

भावेनात्मना प्राप्यः कर्मासम्, अहमेक एव चोपरक्तचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यं सौख्यं विपर्यस्तलक्षणं दुःखाख्यं कर्मफलमासम् । इदानीं पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसन्निधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षुः, इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति, इदानीमप्यहमेक एव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणमस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुलत्वलक्षणं सौख्याख्यं कर्मफलमस्मि। एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते । परमाणुरिवभावितैकत्वश्च परेण नो संपृच्यते । ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति । कर्तृकरणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न संकीर्यते, ततः पर्यायासंकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति ॥ १२६ ॥

रूप स्वभावसे स्वतन्त्र हूँ, (अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता हूँ); मैं अकेला ही करण हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्धचैतन्यरूप स्वभावसे साधकतम हूँ; मैं अकेला ही कर्म हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होनेके स्वभावके कारण आत्मासे प्राप्य हूँ; और मैं अकेला ही अनाकुलतालक्षणवाला, 'सुख' नामक कर्मफल हूँ;—जो कि सुविशुद्धचैतन्यरूपपरिणमित[1] होनेके स्वभावसे उत्पन्न किया जाता है।"

इसप्रकार बंधमार्गमें तथा मोक्षमार्गमें आत्मा अकेला ही है, इसप्रकार भानेवाला[2] यह पुरुष, परमाणुकी भांति एकत्व भावनामें उन्मुख होनेसे, (अर्थात् एकत्वके भानेमें तत्पर होनेसे), उसे परद्रव्यरूप परिणति-किंचित् नहीं होती; और परमाणुकी भांति (जैसे एकत्वभावसे परिणमित परमाणु परके साथ संगको प्राप्त नहीं होता उसीप्रकार—), एकत्वको भानेवाला पुरुष परके साथ संबद्ध नहीं होता; इसलिये परद्रव्यके साथ असंबद्धताके कारण वह सुविशुद्ध होता है। और, कर्ता, करण, कर्म, तथा कर्मफलको आत्मारूपसे[3] भाता हुआ वह पुरुष पर्यायोंसे संकीर्ण (खंडित) नहीं होता; और इसलिये-पर्यायोंके द्वारा संकीर्ण न होनेसे सुविशुद्ध होता है ॥ १२६ ॥

१—सुविशुद्ध चैतन्यपरिणमनस्वभाव आत्माका कर्म है, और वह कर्म अनाकुलता स्वरूप सुखको उत्पन्न करता है, इसलिये सुख कर्मफल है। सुख आत्माकी ही अवस्था होनेसे आत्मा ही कर्मफल है। २—भाना= अनुभव करना; समझना; चिन्तवन करना ['किसी जीवका—अज्ञानी या ज्ञानीका परके साथ संबन्ध नहीं है। बंधमार्गमें आत्मा स्वयं निजको निजसे बांधता था और निजको अर्थात् अपने दुःखपर्यायरूप फलको, भोगता था। अब मोक्षमार्गमें आत्मा स्वयं निजको निजसे मुक्त करता है। और निजको-अर्थात् अपने सुखपर्यायरूप फलको—भोगता है'—ऐसे एकत्वको सम्यग्दृष्टि जीव भाता है,—अनुभव करता है,—समझता है,—चिन्तवन करता है। मिथ्यादृष्टि इससे विपरीतभावनावाला होता है।] ३—सम्यग्दृष्टि जीव भेदोंको न भाकर अभेद आत्माको ही भाता—अनुभव करता है।

† द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा
सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः ।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी-
लुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः ॥ ७ ॥

*इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद-
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः ।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ॥ ८ ॥

† द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्नं कृत्वेति मानसम् ।
तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भारः क्रियतेऽधुना ॥ ९ ॥

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापने सामान्य-द्रव्यप्रज्ञापनं समाप्तम् ॥

[अब, इस श्लोक द्वारा इसी आशयको व्यक्त करके शुद्धनयकी महिमा की जाती है :—]

अर्थः—जिसने अन्य द्रव्यसे भिन्नताके द्वारा आत्माको एक ओर हटा लिया है (अर्थात् पर-द्रव्योंसे अलग दिखाया है) तथा जिसने समस्त विशेषोंके समूहको सामान्यमें लीन किया है (अर्थात् समस्त पर्यायोंको द्रव्यके भीतर डुबोया हुआ दिखाया है) ऐसा जो यह, उद्धत मोहकी लक्ष्मी (ऋद्धि-शोभा) को लूट लेनेवाला शुद्धनय है, उसने उत्कट विवेकके द्वारा तत्वको (आत्मस्वरूपको) विविक्त[1] किया है।

[अब शुद्धनयके द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करनेवाले आत्माकी महिमा श्लोक द्वारा कह कर, द्रव्यसामान्यके वर्णनकी पूर्णाहुति की जाती है :—]

अर्थः—इसप्रकार परपरिणतिके उच्छेद (परद्रव्यरूप परिणमनके नाश) से, तथा कर्ता, कर्म इत्यादि भेदोंकी भ्रांतिके भी नाशसे अन्तमें जिसने शुद्ध आत्मतत्वको उपलब्ध किया है,—ऐसा यह आत्मा, चैतन्यमात्ररूप विशद (निर्मल) तेजमें लीन होता हुआ, अपनी सहज (स्वाभाविक) महिमा की प्रकाशमत्तासे सर्वदा मुक्त ही रहेगा।

[अब, श्लोक द्वारा नवीन विषयको-द्रव्यविशेषके वर्णनको सूचित किया जाता है :—]

अर्थः—इसप्रकार द्रव्यसामान्यके ज्ञानसे मनको गंभीर करके, अब द्रव्यविशेषके परिज्ञानका[2] प्रारंभ किया जाता है।

इसप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार शास्त्रकी श्रीमदमृतचन्द्र सूरि विरचित तत्वदीपिका नामकी टीकामें ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापनमें द्रव्यसामान्यप्रज्ञापन समाप्त हुआ।

† वसंततिलका छन्द। * मंदाक्रांता छंद। † अनुष्टुप छंद। १—विविक्त=शुद्ध, अकेला, अलग।
२—परिज्ञान=विस्तारपूर्वक ज्ञान।

अथ द्रव्यविशेषप्रज्ञापनं तत्र द्रव्यस्य जीवाजीवत्वविशेषं निश्चिनोति—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अज्जीवं ॥ १२७॥

द्रव्यं जीवोऽजीवो जीवः पुनश्चेतनोपयोगमयः ।
पुद्गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनो भवति चाजीवः ॥ १२७ ॥

इह हि द्रव्यमेकत्वनिबन्धनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढविशेषलक्षणसद्भावादन्योन्यव्यवच्छेदेन जीवाजीवत्वविशेषमुपढौकते । तत्र जीवस्यात्मद्रव्यमेवैका व्यक्तिः । अजीवस्य पुनः पुद्गलद्रव्यं धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः । विशेषलक्षणं जीवस्य चेतनोपयोगमयत्वं, अजीवस्य पुनरचेतनत्वम् । तत्र यत्र स्वधर्मव्यापकत्वात्स्वरूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया तत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणो-

अब, द्रव्यविशेषका प्रज्ञापन करते हैं, (अर्थात् द्रव्यविशेषोंको-द्रव्यके भेदोंको बतलाते हैं); उसमें (प्रथम) द्रव्यके जीवाजीवत्वरूप विशेषका निश्चय करते हैं, (अर्थात् द्रव्यके जीव और अजीव-दो भेद बतलाते हैं) :—

गाथा १२७

अन्वयार्थः—[**द्रव्यं**] द्रव्य [**जीवः अजीवः**] जीव और अजीव है । [**पुनः**] उसमें [**चेतनोपयोगमयः**] चेतनामय तथा उपयोगमय [**जीवः**] जीव है, [**च**] और [**पुद्गलद्रव्यप्रमुखः अचेतनः**] पुद्गल द्रव्यादिक अचेतन द्रव्य [**अजीवः भवति**] अजीव हैं ।

टीका—यहाँ (इस विश्वमें) द्रव्य, एकत्वके कारणभूत द्रव्यत्वसामान्यको छोड़े बिना ही, उसमें रहनेवाले विशेषलक्षणोंके सद्भावके कारण एक-दूसरेसे पृथक् किये जानेपर जीवत्वरूप और अजीवत्वरूप विशेषको प्राप्त होता है । उसमें, जीवका आत्मद्रव्य ही एक भेद है; और अजीवके पुद्गल द्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, तथा आकाशद्रव्य-यह पांच भेद हैं । जीवका विशेषलक्षण चेतनोपयोगमयत्व (चेतनामयता और उपयोगमयता) है; और अजीवका अचेतनत्व है । उसमें जहाँ स्वधर्मोंमें व्याप्त होनेसे (जीवके) स्वरूपत्वसे प्रकाशित होती हुई, अविनाशिनी, भगवती, संवेदनरूप चेतनाके द्वारा, तथा चेतनापरिणामलक्षण, द्रव्यपरिणतिरूप[1] उपयोगके द्वारा जिसमें निष्पन्नत्व (रचनारूपत्व) अवतरित प्रतिभासित होता है वह जीव है । और जिसमें उपयोगके साथ रहनेवाली, यथोक्त (ऊपर कहे अनुसार) लक्षणवाली चेतनाका अभाव होनेसे बाहर तथा भीतर अचेतनत्व अवतरित प्रतिभासित होता है, वह अजीव है ।

१—चेतनाका परिणामस्वरूप उपयोग जीवद्रव्यकी परिणति है ।

प्रयोगेन च निर्वृत्तत्वमवतीर्णं प्रतिभाति स जीवः। यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः ॥ १२७ ॥

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति—

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥ १२८ ॥

पुद्गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः ।
वर्तते आकाशे यो लोकः स सर्वकाले तु ॥ १२८ ॥

अस्ति हि द्रव्यस्य लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टत्वं स्वलक्षणसद्भावात् । स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुनः केवलाकाशात्मकत्वम् । तत्र सर्वद्रव्यव्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गतिस्थिती आस्कन्दतस्तद्गतिस्थितिनिबन्धनभूतौ च धर्माऽधर्मावभिव्याप्यावस्थितौ, सर्वद्रव्यवर्तनानिमित्तभूतश्च कालो नित्यदुर्ललितस्तत्तावदाकाशं शेषाण्यशेषाणि द्रव्याणि चेत्यमीषां समवाय आत्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य स लोकः। यत्र यावति पुनराकाशे जीवपुद्गलयोर्गतिस्थिती न संभवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ

भावार्थ—द्रव्यत्वरूप सामान्यकी अपेक्षासे द्रव्योंमें एकत्व है, तथापि विशेषलक्षणोंकी अपेक्षासे उनके जीव और अजीव दो भेद हैं। जो द्रव्य भगवती चेतनाके द्वारा और चेतनाके परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा सूचित है वह जीव है, और जो चेतनारहित होनेसे अचेतन है वह अजीव है। जीवका एक ही भेद है; अजीवके पांच भेद हैं। इन सबका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा ॥ १२७ ॥

अब (द्रव्यके) लोकालोकत्वरूप भेदका निश्चय करते हैं :—

गाथा १२८

अन्वयार्थः—[**आकाशे**] आकाशमें, [**यः**] जो भाग [**पुद्गलजीवनिबद्धः**] पुद्गल और जीवसे संयुक्त है, तथा [**धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः वर्तते**] धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, और कालसे समृद्ध है, [**सः**] वह [**सर्वकाले तु**] सर्वकालमें [**लोकः**] लोक है। (शेष केवल आकाश अलोक है।)

टीका—वास्तवमें द्रव्य लोकत्व और अलोकत्वके भेदसे विशेषवान् है, क्योंकि अपने अपने लक्षणोंका सद्भाव है। लोकका स्वलक्षण षड्द्रव्य समवायात्मकत्व (छह द्रव्योंकी समुदायस्वरूपता) है, और अलोकका केवल आकाशात्मकत्व (मात्र आकाशस्वरूपत्व) है। वहाँ, सर्वद्रव्योंमें व्याप्त होने वाले परममहान आकाशमें, जहाँ जितनेमें गति-स्थिति धर्मवाले जीव तथा पुद्गल गतिस्थितिको प्राप्त होते हैं, (जहाँ जितनेमें) उन्हें, गतिस्थितिमें निमित्तभूत धर्म तथा अधर्म व्याप्त होकर रहते हैं और (जहाँ जितनेमें) सर्व द्रव्योंके वर्तनामें निमित्तभूत काल सदा वर्तता है, वह उतना आकाश तथा शेष

न कालो दुर्ललितस्तावत्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य सोऽलोकः ॥ १२८ ॥

अथ क्रियाभावतद्भावविशेषं निश्चिनोति—

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामादो जायंते संघादादो व भेदादो ॥ १२९ ॥

उत्पादस्थितिभङ्गाः पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य ।
परिणामाज्जायन्ते संघाताद्वा भेदात् ॥ १२९ ॥

क्रियाभाववत्त्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेषः । तत्र भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात् । शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चयः । तत्र परिणाममात्र-

---

समस्त द्रव्य उनका समुदाय जिसका स्व-रूपतासे[1] स्वलक्षण है, वह लोक है; और जहाँ जितने आकाशमें जीव तथा पुद्गलकी गति—स्थिति नहीं होती, धर्म तथा अधर्म नहीं रहते, और काल नहीं पाया जाता, उतना केवल आकाश जिसका स्व-रूपतासे स्वलक्षण है, वह अलोक है ॥ १२८ ॥

अब, 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप जो द्रव्यके भाव हैं उनकी अपेक्षासे द्रव्यका भेद निश्चित करते हैं :—

गाथा १२९

अन्वयार्थः—[**पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य**] पुद्गल-जीवात्मक लोकके [**परिणामात्**] परिणमनसे, और [**संघातात् वा भेदात्**] संघात (मिलने) और भेद (पृथक् होने) से [**उत्पादस्थितिभंगाः**] उत्पाद, ध्रौव्य, और व्यय [**जायन्ते**] होते हैं ।

टीका:—कोई द्रव्य 'भाव' तथा 'क्रियावाले' होनेसे, और कोई द्रव्य केवल 'भाव' वाले होनेसे,—इस अपेक्षासे द्रव्यके भेद होते हैं । उसमें पुद्गल तथा जीव (१) भाववाले तथा (२) क्रियावाले हैं, क्योंकि (१) परिणाम द्वारा, तथा (२) संघात और भेदके द्वारा वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं । शेष द्रव्य तो भाववाले ही हैं, क्योंकि वे परिणामके द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं;—ऐसा निश्चय है ।

उसमें, 'भाव'का लक्षण परिणाममात्र है; (और) 'क्रिया' का लक्षण परिस्पंद (कम्पन) है । इसमें समस्त ही द्रव्य भाववाले हैं, क्योंकि परिणाम स्वभाववाले होनेसे परिणामके द्वारा अन्वय और व्यतिरेकों[2]को प्राप्त होते हुये वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं । पुद्गल तो (भाववाले होनेके अतिरिक्त) क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पंद स्वभाववाले होनेसे परिस्पंदके द्वारा पृथक् पुद्गल[3]

१—स्वरूपतासे=निजरूपसे (षट्द्रव्यसमुदाय ही लोक है, अर्थात् वही लोकका स्वरूप है—स्वत्व है । इसलिये लोकके स्व-रूपतासे षट्द्रव्योंका समुदाय लोकका स्व-लक्षण है ।) २—अन्वय, ध्रौव्यको और व्यतिरेक, उत्पाद तथा व्ययत्वको बतलाते हैं । ३—पृथक् पुद्गल संघातके द्वारा एकत्रित होते हैं । तब वे पृथक्‌रूपसे नष्ट होते पुद्गलरूपसे टिकते और एकत्रितरूपसे उत्पन्न होते हैं ।

लक्षणो भावः, परिस्पन्दनलक्षणा क्रिया। तत्र सर्वाण्यपि द्रव्याणि परिणामस्वभावत्वात् परिणामेनोपात्तान्वयव्यतिरेकाण्यवतिष्ठमानोत्पद्यमानभज्यमानानि भाववन्ति भवन्ति। पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति।१२९।

अथ द्रव्यविशेषो गुणविशेषादिति प्रज्ञापयति—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया॥ १३०॥

लिंगैर्यैर्द्रव्यं जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम्।
तेऽतद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेयाः॥ १३०॥

द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः।

एकत्रित होजाते हैं इसलिये, और एकत्रित-मिले हुये पुद्गल पुनः पृथक् होजाते हैं, इसलिये (इस अपेक्षासे) वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। तथा जीव भी (भाववाले होनेके अतिरिक्त) क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्द स्वभाववाले होनेसे परिस्पंदके द्वारा नवीन कर्म—नोकर्मरूप पुद्गलोंसे भिन्न जीव उनके साथ एकत्रित होनेसे और कर्म-नोकर्मरूप[1] पुद्गलोंके साथ एकत्रित हुये जीव बादमें पृथक् होनेसे, (इस अपेक्षासे) वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं॥ १२९॥

अब यह बतलाते हैं कि-गुण-विशेष (गुणोंके भेद) से द्रव्य-विशेष (द्रव्योंका भेद) होता है:—

गाथा १३०

अन्वयार्थः—[यैः लिंगैः] जिन लिंगोंसे **[द्रव्यं]** द्रव्य **[जीवः अजीवः च]** जीव और अजीवके रूपमें **[विज्ञातं भवति]** ज्ञात होता है, **[ते]** वे **[अतद्भावविशिष्टाः]** अतद्भाव विशिष्ट (अतद्भावके द्वारा द्रव्यसे भिन्न) **[मूर्तामूर्ताः]** मूर्त-अमूर्त **[गुणाः]** गुण **[ज्ञेयाः]** जानने चाहिये।

टीकाः—द्रव्यका आश्रय लेकर और परके आश्रयके बिना प्रवर्तमान होनेसे जिनके द्वारा द्रव्य 'लिंगित' (प्राप्त) होता है—पहचाना जासकता है, ऐसे लिंग गुण हैं। वे (गुण), 'जो द्रव्य हैं वे गुण नहीं हैं और जो गुण हैं वे द्रव्य नहीं हैं' इस अपेक्षासे द्रव्यसे अतद्भाव[2] के द्वारा विशिष्ट (भिन्न) रहते हुये, लिंग और लिंगी[3] के रूपमें प्रसिद्धि (परिचय) के समय द्रव्यके लिंगत्वको प्राप्त होते हैं। अब,

---

१—ज्ञानावरणादि कर्मरूप और शरीरादि नोकर्मरूप पुद्गलोंके साथ मिला हुआ जीव कंपनसे पुनः पृथक् होजाता है। तब वह (उन पुद्गलोंके साथ) एकत्रिततया नष्ट, जीवत्वेन स्थिर और (उनसे) पृथक्त्वेन उत्पन्न होता है। २—अतद्भाव=(कथंचित्) उसरूप नहीं होना वह; ३—लिंगी=लिंगवाला, (विशेषगुण लिंग-चिन्ह है और लिंगी द्रव्य है)।

ते च यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति, ये गुणा भवन्ति ते न द्रव्यं भवतीति द्रव्यादतद्भावेन विशिष्टाः सन्तो लिङ्गलिङ्गिप्रसिद्धौ तल्लिङ्गत्वमुपढौकन्ते। अथ ते द्रव्यस्य जीवोऽयमजीवोऽयमित्यादिविशेषमुत्पादयन्ति, स्वयमपि तद्भावविशिष्टत्वेनोपात्तविशेषत्वात्। यतो हि यस्य यस्य द्रव्यस्य यो यः स्वभावस्तस्य तस्य तेन तेन विशिष्टत्वात्तेषामस्ति विशेषः। अत एव च मूर्तानाममूर्तानां च द्रव्याणां मूर्तत्वेनामूर्तत्वेन च तद्भावेन विशिष्टत्वादिमे मूर्ता गुणा इमे अमूर्ता इति तेषां विशेषो निश्चेयः॥ १३०॥

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धमाख्याति—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा॥ १३१॥

मूर्ता इन्द्रियग्राह्याः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधाः।
द्रव्याणाममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्याः॥ १३१॥

मूर्तानां गुणानामिन्द्रियग्राह्यत्वं लक्षणम्। अमूर्तानां तदेव विपर्यस्तम्। ते च मूर्ताः पुद्गलद्रव्यस्य, तस्यैवैकस्य मूर्तत्वात्। अमूर्ताः शेषद्रव्याणां, पुद्गलादन्येषां सर्वेषामप्यमूर्तत्वात्॥ १३१॥

वे द्रव्यमें 'यह जीव है, यह अजीव है' ऐसा भेद उत्पन्न करते हैं, क्योंकि स्वयं भी तद्भावके द्वारा विशिष्ट (भिन्न) होनेसे विशेषको प्राप्त हैं। जिस जिस द्रव्यका जो जो स्वभाव हो उस उसका उस उसके द्वारा विशिष्टत्व होनेसे उनमें विशेष (भेद) हैं; और इसीलिये मूर्त तथा अमूर्त द्रव्योंका मूर्तत्व-अमूर्तत्वरूप तद्भावके द्वारा विशिष्टत्व होनेसे उनमें इसप्रकारके भेद निश्चित करना चाहिये कि 'यह मूर्त गुण हैं और यह अमूर्तगुण हैं॥ १३०॥

अब मूर्त और अमूर्त गुणोंके लक्षण तथा संबंध (अर्थात् उनका किन द्रव्योंके साथ संबंध है यह) कहते हैं:—

गाथा १३१

अन्वयार्थः—[इन्द्रियग्राह्याः मूर्ताः] इन्द्रियग्राह्य मूर्तगुण **[पुद्गलद्रव्यात्मकाः]** पुद्गल द्रव्यात्मक **[अनेक विधाः]** अनेक प्रकारके हैं; **[अमूर्तानां द्रव्याणां]** अमूर्त द्रव्योंके **[गुणाः]** गुण **[अमूर्ताः ज्ञातव्याः]** अमूर्त जानना चाहिये।

टीकाः—मूर्त गुणोंका लक्षण इन्द्रियग्राह्यत्व है; और अमूर्तगुणोंका उससे विपरीत है; (अर्थात् अमूर्त गुण इन्द्रियोंसे ज्ञात नहीं होते।) और मूर्तगुण पुद्गलद्रव्यके हैं, क्योंकि वही (पुद्गल ही) एक मूर्त है; और अमूर्तगुण शेष द्रव्योंके हैं, क्योंकि पुद्गलके अतिरिक्त शेष सभी द्रव्य अमूर्त हैं॥ १३१॥

अथ मूर्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य गुणान् गृणाति—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो॥ १३२॥

वर्णरसगंधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मात्।
पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्दः स पुद्गलश्चित्रः॥ १३२॥

इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगन्धवर्णास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात्

अथ मूर्त पुद्गल द्रव्यके गुण कहते हैं :—

गाथा १३२

अन्वयार्थः—[**वर्णरसगंधस्पर्शाः**] वर्ण, रस, गंध और स्पर्श (गुण) [**सूक्ष्मात्**] सूक्ष्मसे लेकर [**पृथिवीपर्यंतस्य च**] पृथ्वी पर्यन्तके [**पुद्गलस्य**] (सर्व) पुद्गलके [**विद्यन्ते**] होते हैं; [**चित्रः शब्दः**] जो विविध प्रकारका शब्द है [**सः**] वह [**पुद्गलः**] पुद्गल अर्थात् पौद्गलिक पर्याय है।

टीकाः—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं क्योंकि वे इन्द्रियोंके विषय हैं। वे इन्द्रियग्राह्यताकी व्यक्ति और शक्तिके वशसे भले ही इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हों या न किये जाते हों तथापि वे एक द्रव्यात्मक सूक्ष्म पर्यायरूप परमाणुसे लेकर अनेक द्रव्यात्मक स्थूल पर्यायरूप पृथ्वीस्कंध तकके समस्त पुद्गलके, अविशेषतया विशेषगुणोंके रूपमें होते हैं; और उनके मूर्त होनेके कारण ही, (पुद्गलके अतिरिक्त) शेष द्रव्योंके न होनेसे वे पुद्गलको बतलाते हैं।

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि शब्द भी इन्द्रियग्राह्य होनेसे गुण होगा; क्योंकि वह (शब्द) विचित्रताके[2] द्वारा विश्वरूपत्व (अनेकानेकप्रकारत्व) दिखलाता है, फिर भी उसे अनेक द्रव्यात्मक पुद्गलपर्यायके रूपमें स्वीकार किया जाता है।

यदि शब्दको (पर्याय न मानकर) गुण माना जाय, तो वह क्यों योग्य नहीं है उसका समाधान :—

प्रथम तो, शब्द अमूर्त द्रव्यका गुण नहीं है, क्योंकि गुण-गुणीमें अभिन्न प्रदेशत्व होनेसे, वे (गुण-गुणी) एकवेदनसे वेद्य[3] होनेसे अमूर्त द्रव्यके भी श्रवणेन्द्रियकी विषयभूतता आजायगी।

१—परमाणु, कार्मणवर्गणा इत्यादिमें इन्द्रियग्राह्यता व्यक्त नहीं है, तथापि शक्तिरूपसे अवश्य होती है; इसीलिये बहुतसे परमाणु स्कंधरूप होकर स्थूलता धारण करके इन्द्रियोंसे ज्ञात होते हैं। २—विचित्रता= विविधता (शब्द भाषात्मक, अभाषात्मक, प्रायोगिक, वैश्रसिक आदि अनेक प्रकारके हैं।) ३—एक वेदनसे वेद्य=एक ज्ञानसे ज्ञात होने योग्य (नैयायिक शब्दको आकाशका गुण मानते हैं, किन्तु यह मान्यता अप्रमाण है। गुण-गुणीके प्रदेश अभिन्न होते हैं, इसलिये जिस इन्द्रियसे गुण ज्ञात होता है। उसीसे गुणी भी ज्ञात होना चाहिये। शब्द कर्णेन्द्रियसे जाना जाता है, इसलिये आकाश भी कर्णेन्द्रियसे ज्ञात होना चाहिये। किन्तु वह तो किसी भी इन्द्रियसे ज्ञात होता नहीं है। इसलिये शब्द आकाशादि अमूर्तिक द्रव्योंका गुण नहीं है।)

गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणोः आ अनेकद्रव्यात्मकस्थूल-पर्यायात्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते। ते च मूर्तत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन्तः पुद्गलमधिगमयन्ति। शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्वं न खल्वाशङ्कनीयं, तस्य वैचित्र्यप्रपञ्चितवैश्वरूपस्याप्यनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात्। गुणत्वे वा न तावदमूर्तद्रव्यगुणः शब्दः गुणगुणिनोरविभक्तप्रदेशत्वेनैकवेदनवेद्यत्वादमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्तेः। पर्यायलक्षणेनोत्खातगुणलक्षणत्वान्मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति। पर्यायलक्षणं हि कादाचित्कत्वं गुणलक्षणं तु नित्यत्वम्। ततः कादाचित्कत्वोत्खात-नित्यत्वस्य न शब्दस्यास्ति गुणत्वम्। यत्तु तत्र नित्यत्वं तत्तदारम्भकपुद्गलानां तद्गुणानां च स्पर्शादीनामेव न शब्दपर्यायस्येति दृढतरं ग्राह्यम्। न च पुद्गलपर्यायत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रियविषयत्वम्। अपां घ्राणेन्द्रियाविषयत्वात्, ज्योतिषो घ्राणरसनेन्द्रियाविषय-

(दूसरे, शब्दमें) पर्यायके लक्षणसे गुणका लक्षण उत्थापित होनेसे शब्द मूर्त द्रव्यका गुण भी नहीं है। पर्यायका लक्षण कादाचित्कत्व (अनित्यत्व) है, और गुणका लक्षण नित्यत्व है; इसलिये (शब्दमें) अनित्यत्वसे नित्यत्वके उत्थापित होनेसे (अर्थात् शब्द कभी कभी ही होता है, और नित्य नहीं है, इसलिये) शब्द गुण नहीं है। जो वहाँ नित्यत्व है वह उसे (शब्दको) उत्पन्न करनेवाले पुद्गलोंका और उनके स्पर्शादिक गुणोंका ही है, शब्द पर्यायका नहीं,—इसप्रकार अतिदृढता पूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

और, "यदि शब्द पुद्गलकी पर्याय हो तो वह पृथ्वीस्कंधकी भांति स्पर्शनादिक इन्द्रियोंका विषय होना चाहिये, अर्थात् जैसे पृथ्वीस्कंधरूप पुद्गलपर्याय सर्व इन्द्रियोंसे ज्ञात होती है उसीप्रकार शब्दरूपपुद्गल पर्याय भी सभी इन्द्रियोंसे ज्ञात होनी चाहिये" (ऐसा तर्क किया जाय तो) ऐसा भी नहीं है; क्योंकि पानी (पुद्गलकी पर्याय है, फिर भी) घ्राणेन्द्रियका विषय नहीं है; अग्नि घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रियका विषय नहीं है, और वायु घ्राण, रसना, तथा चक्षुइन्द्रियका विषय नहीं है। और ऐसा भी नहीं है कि—पानी गंध रहित है (इसलिये नाकसे अग्राह्य है), अग्नि गंध तथा रस रहित है (इसलिये नाक तथा जीभसे अग्राह्य है); और वायु गंध, रस तथा वर्ण रहित है (इसलिये नाक, जीभ तथा आंखोंसे अग्राह्य है); क्योंकि सभी पुद्गल स्पर्शादि चतुष्क¹युक्त स्वीकार किये गये हैं। क्योंकि जिनके

१—चतुष्क=चतुष्टय, चारका समूह। [समस्त पुद्गलोंमें—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन सभीमें स्पर्शादि चारों गुण होते हैं। मात्र अन्तर इतना ही है कि पृथ्वीमें चारों गुण व्यक्त हैं, पानीमें गंध अव्यक्त है, अग्निमें गंध तथा रस अव्यक्त है, और वायुमें गंध, रस तथा वर्ण अव्यक्त हैं। इस बातकी सिद्धिके लिये युक्ति इसप्रकार है:— चन्द्रकान्त मणिरूप पृथ्वीमेंसे पानी झरता है; अरणिकी-लकड़ीमेंसे अग्नि प्रगट होती है और जौ खानेसे पेटमें वायु उत्पन्न होती है। इसलिये—(१) चन्द्रकांतमणिमें, (२) अरणि-लकड़ीमें, और (३) जौमें रहनेवाले चारों गुण (१) पानीमें, (२) अग्निमें, और (३) वायुमें होने चाहिये। मात्र अन्तर इतना ही है कि उन गुणोंमेंसे कुछ अप्रगटरूपसे परिणमित हुये हैं। और फिर, पानीमेंसे मोतीरूप पृथ्वीकाय और अग्निमेंसे काजलरूप पृथ्वीकायके उत्पन्न होने पर चारों गुण प्रगट होते हुये देखे जाते हैं।]

त्वात्, मरुतो घ्राणरसनचक्षुरिन्द्रियाविषयत्वाच्च। न चागन्धागन्धरसागन्धरसवर्णाः, एवमप्ज्योतिर्मरुतः, सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युपगमात्। व्यक्तस्पर्शादिचतुष्कानां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धोऽव्यक्तगन्धरसाऽव्यक्तगन्धरसवर्णानामपज्योतिरुदरमरुतामारम्भदर्शनात्। न च क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वं कादाचित्कपरिणामवैचित्र्यप्रत्ययं नित्यद्रव्यस्वभावप्रतिघाताय। ततोऽस्तु शब्दः पुद्गलपर्याय एवेति ॥ १३२ ॥

अथामूर्तानां शेषद्रव्याणां गुणान् गृणाति—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥ १३३ ॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥ १३४ ॥ जुगलं।

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम्।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुणः पुनः स्थानकारणता ॥ १३३ ॥
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणितः।
ज्ञेयाः संक्षेपाद्गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥ १३४ ॥ युगलम्।

स्पर्शादिचतुष्क व्यक्त हैं ऐसे (१) चन्द्रकान्तमणिको, (२) अरणिको, और (३) जौको जो पुद्गल उत्पन्न करते हैं उन्हींके द्वारा (१) जिसकी गंध अव्यक्त है ऐसे पानीकी, (२) जिसकी गंध तथा रस अव्यक्त है ऐसी अग्निकी, और (३) जिसकी गंध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है ऐसी उदरवायुको उत्पत्ति होती देखी जाती है।

और कहीं (किसी पर्यायमें) किसी गुणकी कादाचित्क परिणामकी विचित्रताके कारण होनेवाली व्यक्तता या अव्यक्तता नित्य द्रव्यस्वभावका प्रतिघात नहीं करती। (अर्थात् अनित्यपरिणामके कारण होनेवाली गुणकी प्रगटता और अप्रगटता नित्य द्रव्यस्वभावके साथ कहीं विरोधको प्राप्त नहीं होती।)

इसलिये शब्द पुद्गलकी पर्याय ही है ॥ १३२ ॥

अब, शेष अमूर्त द्रव्योंके गुण कहते हैं :—

गाथा १३३-३४

अन्वयार्थः—[**आकाशस्यावगाहः**] आकाशका अवगाह, [**धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं**] धर्मद्रव्यका गमनहेतुत्व [**तु पुनः**] और [**धर्मेतरद्रव्यस्य गुणः**] अधर्म द्रव्यका गुण [**स्थानकारणता**] स्थानकारणता है। [**कालस्य**] कालका गुण [**वर्तना स्यात्**] वर्तना है, [**आत्मनः गुणः**] आत्माका गुण [**उपयोगः इति भणितः**] उपयोग

विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य, सकृत्सर्वेषां गमनपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गमनहेतुत्वं धर्मस्य, सकृत्सर्वेषां स्थानपरिणामिनां जीवपुद्गलानां स्थानहेतुत्वमधर्मस्य, अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कालस्य, चैतन्यपरिणामो जीवस्य। एवममूर्तानां विशेषगुणसंक्षेपाधिगमे लिङ्गम्। तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसंपादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवदाकाशमधिगमयति। तथैकवारमेव गतिपरिणत-

---

कहा है। [मूर्तिप्रहीणानां गुणाः हि] इसप्रकार अमूर्त द्रव्योंके गुण [संक्षेपात्] संक्षेपसे [ज्ञेयाः] जानना चाहिये।

टीका:--युगपत् सर्वद्रव्योंके साधारण अवगाहका हेतुत्व आकाशका विशेष गुण है। एक ही साथ सर्व गतिरूप परिणमित जीव-पुद्गलोंके गमनका हेतुत्व धर्मका विशेष गुण है। एकही साथ सर्व स्थितिरूप परिणमित जीव-पुद्गलोंके स्थिर होनेका हेतुत्व अधर्मका विशेषगुण है। (कालके अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्योंकी प्रति-पर्यायमें समयवृत्तिका हेतुत्व (समय-समयकी परिणतिका निमित्तत्व) कालका विशेष गुण है। चैतन्यपरिणाम जीवका विशेष गुण है। इसप्रकार अमूर्त द्रव्योंके विशेष गुणोंका संक्षिप्त ज्ञान होने पर अमूर्त द्रव्योंको जाननेके लिंग (चिह्न, लक्षण, साधन) प्राप्त होते हैं; अर्थात् उन उन विशेष गुणोंके द्वारा उन उन अमूर्त द्रव्योंका अस्तित्व ज्ञात होता है–सिद्ध होता है। (इसीको स्पष्टता पूर्वक समझाते हैं :—)

वहां एक ही कालमें समस्त द्रव्योंको साधारण अवगाहका[1] संपादन (अवगाह हेतुत्वरूप लिंग) आकाशको बतलाता है; क्योंकि शेष द्रव्योंके सर्वगत न होनेसे उनके वह संभव नहीं है।

इसीप्रकार एक ही कालमें गति परिणत समस्त जीव-पुद्गलोंको लोक तक गमनका हेतुत्व धर्मको बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं इसलिये उनके वह संभव नहीं है; जीव समुद्घातको छोड़कर अन्यत्र लोकके असंख्यातवें भागमात्र है, इसलिये उसके वह संभव नहीं है, लोक अलोककी सीमा अचलित होनेसे आकाशके वह संभव नहीं है, और विरुद्ध कार्यका हेतु होनेसे अधर्मके वह संभव नहीं है।

(काल और पुद्गल एकप्रदेशी हैं, इसलिये वे लोक तक गमनमें निमित्त नहीं हो सकते; जीव समुद्घातको छोड़कर अन्यकालमें लोकके असंख्यातवें भागमें ही रहता है, इसलिये वह भी लोक तक गमनमें निमित्त नहीं हो सकता; यदि आकाश गतिमें निमित्त हो तो जीव और पुद्गलोंकी गति अलोकमें भी होने लगे, जिससे लोकालोककी मर्यादा ही न रहेगी; इसलिये गतिहेतुत्व आकाशका भी गुण नहीं है; अधर्म द्रव्य तो गतिसे विरुद्ध–स्थितिकार्यमें निमित्तभूत है, इसलिये वह भी गतिमें निमित्त नहीं हो सकता। इसप्रकार गतिहेतुत्वगुण धर्मनामक द्रव्यका अस्तित्व बतलाता है।)

इसीप्रकार एकही कालमें स्थिति परिणत समस्त जीव-पुद्गलोंको लोक तक स्थितिका हेतुत्व अधर्म-

१—अवगाह=लीन होना; मज्जित होना, अवकाश प्राप्त करना। (एक ही कालमें सर्व द्रव्योंको साधारण अवकाशकी प्राप्तिमें आकाशद्रव्य निमित्तभूत है।)

समस्तजीवपुद्गलानामालोकाद्गमनहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्यासंभवद्धर्ममधिगमयति। तथैकवारमेव स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः, समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य, लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वाद्धर्मस्य चासंभवदधर्ममधिगमयति। तथा अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायसमयवृत्तिहेतुत्वं कारणान्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्तेः स्वतस्तेषामसंभवत्कालमधिगमयति। तथा चैतन्यपरिणामश्चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन् जीवमधिगमयति। एवं गुणविशेषा-

को बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं, इसलिये उनके वह संभव नहीं है; जीव समुद्घातको छोड़कर अन्यत्र लोकके असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिये उसके वह संभव नहीं है; लोक और अलोककी सीमा अचलित होनेसे आकाशके वह संभव नहीं है, और विरुद्ध कार्यका हेतु होनेसे धर्मके वह संभव नहीं है।

इसीप्रकार (कालके अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्योंके, प्रत्येक पर्यायमें समयवृत्तिका हेतुत्व कालको बतलाता है, क्योंकि उनके, समयविशिष्टवृत्ति[1] कारणान्तरसे साध्य होनेसे (अर्थात् उनके समयसे विशिष्ट-परिणति अन्य कारणसे होती है, इसलिये) स्वतः उनके वह (समयवृत्ति हेतुत्व) संभवित नहीं है।

इसीप्रकार चैतन्य परिणाम जीवको बतलाता है, क्योंकि वह चेतन है, इसलिये शेष द्रव्योंके वह संभव नहीं है।

इसप्रकार गुण विशेषसे द्रव्यविशेष जानना चाहिये।

भावार्थः—जैसा कि पहले बताया गया है,—स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे पुद्गल द्रव्योंका अस्तित्व ज्ञात होता है। यहाँ अमूर्त द्रव्योंका अस्तित्व उनके विशेष लक्षणोंसे प्रगट किया गया है।

चैतन्य परिणामरूप लक्षण अनुभवमें आता है इसलिये अनन्तजीव द्रव्योंका अस्तित्व ज्ञात होता है। जीवादि समस्त द्रव्य जिसके निमित्तसे अवगाह (अवकाश) को प्राप्त करते हैं, ऐसा कोई द्रव्य होना चाहिये; वह द्रव्य लोकालोकव्यापी आकाश है। जीव और पुद्गल गति करते हुये मालुम होते हैं, इसलिये जैसे मछलीको गति करनेमें निमित्तभूत जल है उसीप्रकार जीव और पुद्गलोंको गति करनेमें निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिये; वह द्रव्य लोकव्यापी धर्मद्रव्य है। जैसे मनुष्यको स्थितिमें निमित्तभूत पृथ्वी है उसीप्रकार जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिये। वह द्रव्य लोकव्यापी अधर्मद्रव्य है। जैसे कुम्हारके चक्रके चलनेमें कील निमित्तभूत है उसीप्रकार (कालके अतिरिक्त) सर्व द्रव्योंके परिणमनमें निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिये; वह द्रव्य असंख्यात कालाणु हैं, जिनकी पर्यायें समय, घड़ी, दिन, वर्ष इत्यादिरूपसे व्यक्त होती हैं।

१—कालसे अतिरिक्त द्रव्योंकी परिणति 'एक समयमें यह परिणति हुई है' इसप्रकार समयसे विशिष्ट है, अर्थात् व्यवहारसे उसमें समयकी अपेक्षा आती है, इसलिये उसमें कोई द्रव्य-कालद्रव्य-निमित्त होना चाहिये।

द्द्रव्यविशेषोऽधिगन्तव्यः ॥ १३३ । १३४ ॥

अथ द्रव्याणां प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वविशेषं प्रज्ञापयति—

जीवा पोग्गलकाया धम्माऽधम्मा पुणो य आगासं ।
सपदेसेहिं असंखादा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥ १३५ ॥

जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् ।
स्वप्रदेशैरसंख्याता न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य ॥ १३५ ॥

प्रदेशवन्ति हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि अनेकप्रदेशवत्त्वात् । अप्रदेशः कालाणुः प्रदेशमात्रत्वात् । अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वात् धर्मस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादधर्मस्य, सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादाकाशस्य च प्रदेशवत्त्वम् । कालाणोस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासंभवादप्रदेशत्वमेवास्ति । ततः कालद्रव्यमप्रदेशं शेषद्रव्याणि प्रदेशवन्ति ॥ १३५ ॥

इसप्रकार गुणभेदसे द्रव्यभेद निश्चित हुआ ॥ १३३-१३४ ॥

अब, द्रव्यका प्रदेशवत्व और अप्रदेशवत्वरूप विशेष (भेद) बतलाते हैं :—

गाथा १३५

अन्वयार्थः—[**जीवाः**] जीव [**पुद्गलकायाः**] पुद्गलकाय, [**धर्माधर्मौ**] धर्म, अधर्म [**पुनः च**] और [**आकाशं**] आकाश [**स्वप्रदेशैः**] स्वप्रदेशोंकी अपेक्षासे [**असंख्याताः**] असंख्यात अर्थात् अनेक हैं; [**कालस्य**] कालके [**प्रदेशाः इति**] प्रदेश [**न सन्ति**] नहीं हैं ।

टीकाः—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश अनेक प्रदेशवाले होनेसे प्रदेशवान हैं । कालाणु प्रदेशमात्र (एक प्रदेशी) होनेसे अप्रदेशी है ।

(उपरोक्त बातको स्पष्ट करते हैं:—) संकोच-विस्तारके होने पर भी जीव लोकाकाशतुल्य असंख्य प्रदेशोंको नहीं छोड़ता, इसलिये वह प्रदेशवान है; पुद्गल, यद्यपि द्रव्य अपेक्षासे प्रदेशमात्र (एकप्रदेशी) होनेसे अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशोंसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशोंवाली पर्यायोंकी अपेक्षासे अनिश्चित प्रदेशवाला होनेसे प्रदेशवान है; सकल लोकव्यापी असंख्य प्रदेशोंके विस्ताररूप होनेसे धर्म प्रदेशवान है; सकललोकव्यापी असंख्यप्रदेशोंके विस्ताररूप होनेसे अधर्म प्रदेशवान है; और सर्वव्यापी अनन्तप्रदेशोंके विस्ताररूप होनेसे आकाश प्रदेशवान है । कालाणु तो द्रव्यतः प्रदेशमात्र होनेसे और पर्यायतः परस्पर संपर्क न होनेसे अप्रदेशी ही है ।

इसलिये कालद्रव्य अप्रदेशी है और शेष द्रव्य प्रदेशवान है ॥ १३५ ॥

अथ क्वामी प्रदेशिनोऽप्रदेशाश्चावस्थिता इति प्रज्ञापयति—

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो ।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥ १३६ ॥

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामाततो लोकः ।
शेषौ प्रतीत्य कालो जीवाः पुनः पुद्गलाः शेषौ ॥ १३६ ॥

आकाशं हि तावत् लोकालोकयोरपि षड्द्रव्यसमवायासमवाययोरविभागेन वृत्तत्वात् । धर्माधर्मौ सर्वत्र लोके तन्निमित्तगमनस्थानानां जीवपुद्गलानां लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च गमनस्थानासंभवात् । कालोऽपि लोके जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्, स तु लोकैकप्रदेश एवाप्रदेशत्वात् । जीवपुद्गलौ तु युक्तित एव लोके षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वाल्लोकस्य । किंतु जीवस्य प्रदेशसंवर्तविस्तारधर्मत्वात् पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरूक्षगुणधर्मत्वाच्च तदेकदेशसर्वलोकनियमोनास्ति कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ॥ १३६ ॥

अब, यह बतलाते हैं कि प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं :—

गाथा १३६

अन्वयार्थः—[**नभः**] आकाश [**लोकालोकयोः**] लोकालोकमें है, [**लोकः**] लोक [**धर्माधर्माभ्याम् आततः**] धर्म और अधर्मसे व्याप्त है, [**शेषौ प्रतीत्य**] शेष दो द्रव्योंका आश्रय लेकर [**कालः**] काल है, [**पुनः**] और [**शेषौ**] व शेष दो द्रव्य [**जीवाः पुद्गलाः**] जीव और पुद्गल हैं ।

टीका:—प्रथम तो, आकाश लोक तथा अलोकमें है, क्योंकि वह छह द्रव्योंके समवाय और असमवायमें बिना विभागके रहता है । धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वत्र लोकमें है, क्योंकि उनके निमित्तसे जिनकी गति और स्थिति होती है ऐसे जीव और पुद्गलोंकी गति या स्थिति लोकसे बाहर नहीं होती, और न लोकके एक-देशमें होती है, (अर्थात् लोकमें सर्वत्र होती है) । काल भी लोकमें है, क्योंकि जीव और पुद्गलोंके परिणामोंके द्वारा (काल की) समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं; और वह काल लोकके एकप्रदेशमें ही है, क्योंकि वह अप्रदेशी है । जीव और पुद्गल तो युक्तिसे ही लोकमें हैं, क्योंकि लोक छह द्रव्योंका समवायस्वरूप है ।

और इसके अतिरिक्त (इतना विशेष जानना चाहिये कि), प्रदेशोंका संकोचविस्तार होना जीवका धर्म है, और बंधके हेतुभूत स्निग्ध-रूक्ष गुण पुद्गलका धर्म है, इसलिये जीव और पुद्गलका समस्त लोकमें या उसके एकदेशमें रहनेका नियम नहीं है । और, काल, जीव तथा पुद्गल एक द्रव्यकी अपेक्षासे लोकके एकदेशमें रहते हैं, और अनेक द्रव्योंकी अपेक्षासे अंजनचूर्ण (काजल) से भरी हुई डिबियाके न्यायानुसार समस्त लोकमें ही हैं ॥ १३६ ॥

अथ प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वसंभवप्रकारमासूत्रयति—

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥ १३७ ॥

यथा ते नभःप्रदेशास्तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम्।
अप्रदेशः परमाणुस्तेन प्रदेशोद्भवो भणितः ॥ १३७ ॥

सूत्रयिष्यते हि स्वयमाकाशस्य प्रदेशलक्षणमेकाणुव्याप्यत्वमिति। इह तु यथाकाशस्य प्रदेशास्तथाशेषद्रव्याणामिति प्रदेशलक्षणप्रकारैकत्वमासूत्र्यते। ततो यथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानस्याकाशस्यानन्तांशत्वादनन्तप्रदेशत्वं तथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानानां धर्माधर्मैक-जीवानामसंख्येयांशत्वात् प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वम्। यथा चावस्थितप्रमाणयोर्धर्माधर्मयोस्तथा संवर्तविस्ताराभ्यामनवस्थितप्रमाणस्यापि शुष्कार्द्रत्वाभ्यां चर्मण इव जीवस्य स्वांशाल्पबहुत्वा-

---

अब, यह कहते हैं कि प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व किसप्रकारसे संभव है :—

गाथा १३७

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**ते नभः प्रदेशाः**] वे आकाशप्रदेश हैं [**तथा**] उसीप्रकार [**शेषाणां**] शेष द्रव्योंके [**प्रदेशाः भवन्ति**] प्रदेश हैं। (अर्थात् जैसे—आकाशके प्रदेश परमाणुरूपी गजसे नापे जाते हैं, उसीप्रकार शेष द्रव्योंके प्रदेश भी इसीप्रकार नापे जाते हैं।) [**परमाणुः**] परमाणु [**अप्रदेशः**] अप्रदेशी है; [**तेन**] उसके द्वारा [**प्रदेशोद्भवः भणितः**] प्रदेशोद्भव कहा है।

टीका:—(भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य) स्वयं ही (१४० वें) सूत्र द्वारा कहेंगे कि आकाशके प्रदेशका लक्षण एकाणुव्याप्यत्व (अर्थात् एक परमाणुसे व्याप्त होना) है; और यहाँ (इस सूत्र या गाथामें) 'जिसप्रकार आकाशके प्रदेश हैं उसीप्रकार शेष द्रव्योंके प्रदेश हैं' इसप्रकार प्रदेशके लक्षणकी एकप्रकारता कही जाती है। इसलिये, जैसे एकाणुव्याप्य (जो एक परमाणुसे व्याप्य हो ऐसे) अंशके द्वारा गिने जाने पर आकाशके अनन्त अंश होनेसे आकाश अनन्तप्रदेशी है, उसीप्रकार एकाणुव्याप्य अंशके द्वारा गिने जानेपर धर्म, अधर्म, और एक जीवके असंख्यात अंश होनेसे वे-प्रत्येक असंख्यातप्रदेशी हैं। और जैसे अवस्थित[1] प्रमाणवाले धर्म तथा अधर्म असंख्यातप्रदेशी हैं, उसीप्रकार संकोच-विस्तारके कारण अनवस्थित[2] प्रमाणवाले जीवके-सूखे-गीले चमड़ेकी भांति-निज अंशोंका अल्पबहुत्व नहीं होता इसलिये असंख्यातप्रदेशित्व ही है।

१—अवस्थित प्रमाण=नियत परिमाण, निश्चित माप; (धर्म तथा अधर्म द्रव्यका माप लोक जितना निश्चित है।) २—अनवस्थित=अनियत; अनिश्चित; (सूखे-गीले चमड़ेकी भांति जीव द्रव्यके प्रदेश संकोच-विस्तारको प्राप्त होनेसे अनिश्चित मापवाला है। ऐसा होने पर भी जैसे चमड़ेके निज अंश कम-बढ़ नहीं होते, इसीप्रकार जीवके निज अंश कम-बढ़ नहीं होते, इसलिये वह सदा नियत असंख्यप्रदेशी ही है।)

भावादसंख्येयप्रदेशत्वमेव। अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमारशरीरव्यापित्वादस्ति स्वसंवेदनसाध्यैव। पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति। ततः पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि संभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य ॥ १३७ ॥

अथ कालाणोरप्रदेशत्वमेवेति नियमयति—

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥ १३८ ॥

समयस्त्वप्रदेशः प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य।
व्यतिपततः स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य ॥ १३८ ॥

अप्रदेश एव समयो द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात् न च तस्य पुद्गलस्येव पर्यायेणाप्यनेकप्रदेशत्वं

(यहाँ यह प्रश्न होता है कि अमूर्त जीवका संकोच-विस्तार कैसे संभव है ? उसका समाधान किया जाता है :—)

अमूर्तके संकोच-विस्तारकी सिद्धि तो अपने अनुभवसे ही साध्य है, क्योंकि (सबको स्वानुभवसे स्पष्ट है कि) जीव स्थूल तथा कृश शरीरमें तथा बालक और कुमारके शरीरमें व्याप्त होता है।

पुद्गल तो द्रव्यतः एकप्रदेशमात्र होनेसे यथोक्त (पूर्वकथित) प्रकारसे अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशादि[1]के उद्भवके हेतुभूत तथाविध (उस प्रकारके) स्निग्ध-रूक्ष गुणरूप परिणमित होनेकी शक्तिरूप स्वभावके कारण उसके प्रदेशोंका उद्भव है। इसलिये पर्यायतः अनेक प्रदेशित्वका भी संभव होनेसे पुद्गलको द्विप्रदेशित्वसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशित्व भी न्याययुक्त है ॥ १३७ ॥

अब, यह नियम बतलाते हैं कि 'कालाणु अप्रदेशी ही है' :—

गाथा १३८

अन्वयार्थः—[**समयः तु**] काल तो [**अप्रदेशः**] अप्रदेशी है, [**प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य**] प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु [**आकाश द्रव्यस्य प्रदेशं**] आकाश द्रव्यके प्रदेशको [**व्यतिपततः**] मंदगतिसे उल्लंघन कर रहा हो तब [**सः वर्तते**] वह वर्तता है, अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है।

टीका:—काल, द्रव्यतः प्रदेशमात्र होनेसे, अप्रदेशी ही है। और उसे पुद्गलकी भांति पर्यायतः भी अनेकप्रदेशित्व नहीं है; क्योंकि परस्पर अन्तरके विना प्रस्ताररूप[2] विस्तृत प्रदेशमात्र असंख्यात कालद्रव्य

१—द्विप्रदेशी इत्यादि स्कन्धोंकी उत्पत्तिके कारणभूत जो स्निग्ध-रूक्ष गुण हैं उनरूप परिणमित होनेकी शक्ति पुद्गलका स्वभाव है। २—प्रस्तार=विस्तार। (असंख्यात कालद्रव्य समस्त लोकाकाशमें फैले हुये हैं। उनके परस्पर अन्तर नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकाशप्रदेशमें एक एक कालद्रव्य रह रहा है।)

यतस्तस्य निरन्तरं प्रस्तारविस्तृतप्रदेशमात्रासंख्येयद्रव्यत्वेऽपि परस्परसंपर्कासंभवादेकैकमाकाशप्रदेशमभिव्याप्य तस्थुषःप्रदेशमात्रस्य परमाणोस्तदभिव्याप्तमेकमाकाशप्रदेशं मन्दगत्या व्यतिपतत एव वृत्तिः ॥ १३८ ॥

अथ कालपदार्थस्य द्रव्यपर्यायौ प्रज्ञापयति—

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥ १३९ ॥

व्यतिपततस्तं देशं तत्समः समयस्ततः परः पूर्वः ।
योऽर्थः स कालः समय उत्पन्नप्रध्वंसी ॥ १३९ ॥

यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्तं प्रदेशं मन्दगत्याति-

---

होने पर भी परस्पर संपर्क न होनेसे एक एक आकाशप्रदेशको व्याप्त करके रहनेवाले कालद्रव्यकी वृत्ति तभी होती है (अर्थात् कालाणुकी परिणति तभी निमित्तभूत होती है) जब प्रदेशमात्र[1] परमाणु उस (कालाणु) से व्याप्त एक आकाशप्रदेशको मन्दगतिसे उलंघन करता हो।

भावार्थः—लोकाकाशके असंख्यातप्रदेश हैं। एक एक प्रदेशमें एक एक कालाणु रहा हुआ है। वे कालाणु स्निग्ध-रूक्षगुणके अभावके कारण रत्नोंकी राशिकी भांति पृथक् पृथक् ही रहते हैं; पुद्गल परमाणुओंकी भांति परस्पर मिलते नहीं हैं।

जब पुद्गलपरमाणु आकाशके एक प्रदेशको मन्दगतिसे उलंघन करता है (अर्थात् एक प्रदेशसे दूसरे अनन्तर-निकटतम प्रदेशपर मन्दगतिसे जाता है) तब उस (उलंघित किये जानेवाले) प्रदेशमें रहने वाला कालाणु उसमें निमित्तभूतरूपसे रहता है। इसप्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्गलपरमाणुके एकप्रदेश तक के गमन पर्यंत ही सहकारीरूपसे रहता है, अधिक नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि कालद्रव्य पर्यायतः भी अनेकप्रदेशी नहीं है ॥ १३८ ॥

अब काल पदार्थके द्रव्य और पर्यायको बतलाते हैं :—

गाथा १३९

अन्वयार्थः—[**तं देशं व्यतिपततः**] परमाणु एक आकाशप्रदेशका (मन्दगतिसे) उलंघन करता है तब [**तत्समः**] उसके बराबर जो काल (लगता है) वह [**समयः**] 'समय' है; [**ततः पूर्वः परः**] उस (समय) से पूर्व तथा पश्चात् ऐसा (नित्य) [**यः अर्थः**] जो पदार्थ है [**सः कालः**] वह कालद्रव्य है; [**समयः उत्पन्नप्रध्वंसी**] 'समय' उत्पन्नध्वंसी है।

टीकाः—किसी प्रदेशमात्र कालपदार्थके द्वारा आकाशका जो प्रदेश व्याप्त हो उस प्रदेशको जब

१—प्रदेशमात्र=एकप्रदेशी (जब एकप्रदेशी परमाणु किसी एक आकाशप्रदेशको मन्दगतिसे उलंघन कर रहा हो तभी उस आकाश प्रदेशमें रहनेवाले कालद्रव्यकी परिणति उसमें निमित्तभूतरूपसे वर्तती है।)

क्रमतः परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो यः कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमयः स तस्य कालपदार्थस्य पर्यायस्ततः एवंविधात्पर्यायात्पूर्वोत्तरवृत्तिवृत्तत्वेन व्यञ्जितनित्यत्वे योऽर्थः तत्तु द्रव्यम् । एवमनुत्पन्नाविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमयः । अनंशः समयोऽयमाकाशप्रदेशस्यानंशत्वान्यथानुपपत्तेः । न चैकसमयेन परमाणोरालोकान्तगमनेऽपि समयस्य सांशत्वं विशिष्टगतिपरिणामाद्विशिष्टावगाहपरिणामवत् । तथाहि—यथा विशिष्टावगाहपरिणामा-

परमाणु मन्दगतिसे उलंघन करता है तब उस प्रदेशमात्र अतिक्रमण[1]के परिमाण[2]के बराबर जो कालपदार्थकी सूक्ष्मवृत्तिरूप 'समय' है, वह उस काल पदार्थकी पर्याय है। और ऐसी उस पर्यायसे पूर्वकी तथा बादकी वृत्ति[3]रूपसे वर्तित होनेसे जिसका नित्यत्व प्रगट होता है, ऐसा पदार्थ द्रव्य है। इसप्रकार द्रव्यसमय (कालद्रव्य) अनुत्पन्न-अविनष्ट है और पर्यायसमय उत्पन्नध्वंसी है, (अर्थात् 'समय' पर्याय उत्पत्ति-विनाशवाली है।) यह समय निरंश है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाशके प्रदेशका निरंशत्व न बने।

और एक समयमें परमाणु लोकके अन्त तक जाता है, फिर भी समयके अंश नहीं होते; क्योंकि जैसे (परमाणुके) विशिष्ट (विशेष प्रकारका) अवगाह परिणाम होता है उसीप्रकार (परमाणुके) विशिष्ट गतिपरिणाम होता है। इसे समझाते हैं:—जैसे विशिष्ट अवगाहपरिणामके कारण एक परमाणुके परिमाणके बराबर अनन्त परमाणुओंका स्कंध बनता है तथापि वह स्कंध परमाणुके अनन्त अंशोंको सिद्ध नहीं करता, क्योंकि परमाणु निरंश है; उसीप्रकार जैसे एक कालाणुसे व्याप्त एक आकाशप्रदेशके अतिक्रमणके मापके बराबर एक 'समय'में परमाणु विशिष्टगतिपरिणामके कारण लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक जाता है तब (उस परमाणुके द्वारा उलंघित होनेवाले) असंख्य कालाणु 'समय'के असंख्य अंशोंको सिद्ध नहीं करते, क्योंकि 'समय' निरंश है।

भावार्थ:—परमाणुको एक आकाशप्रदेशसे दूसरे निकटवर्ती (अन्तर रहित) आकाशप्रदेश पर मन्दगतिसे जानेमें जितना काल लगता है उसे 'समय' कहते हैं। वह समय कालद्रव्यकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय है। कालद्रव्य नित्य है; 'समय' उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। जैसे आकाशप्रदेश आकाश द्रव्यका छोटेसे छोटा अंश है, उसके भाग नहीं होते, उसीप्रकार 'समय' कालद्रव्यकी छोटीसे छोटी निरंश पर्याय है, उसके भाग नहीं होते। यदि समयके भाग हों तो परमाणुके द्वारा एक समयमें उलंघन किया जानेवाले आकाशप्रदेशके भी उतने ही भाग होने चाहिये; किन्तु वह तो निरंश है, इसलिये 'समय' भी निरंश ही है।

यहाँ प्रश्न होता है कि "जब पुद्गल-परमाणु शीघ्र गतिके द्वारा एक 'समय'में लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक पहुँच जाता है तब वह चौदह राजू तक आकाशप्रदेशोंमें श्रेणिबद्ध जितने कालाणु हैं

१—अतिक्रमण=उलंघन करना। २—परिमाण=माप। ३—वृत्ति=परिणति (काल पदार्थ वर्तमान समयसे पूर्वकी परिणतिरूप तथा उसके बादकी परिणतिरूपसे परिणमित होता है, इसलिये उसका नित्यत्व प्रगट है।)

देकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्धः परमाणोरनंशत्वात् पुनरप्यनन्तांशत्वं न साधयति तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नेनैकसमयेनैकस्माल्लोकान्ताद्द्वितीयं लोकान्तमाक्रामतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणवः समयस्यानंशत्वादसंख्येयांशत्वं न साधयन्ति ॥ १३९ ॥

अथाकाशस्य प्रदेशलक्षणं सूत्रयति—

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥ १४० ॥

आकाशमणुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम् ।
सर्वेषां चाणूनां शक्नोति तद्दातुमवकाशम् ॥ १४० ॥

आकाशस्यैकाणुव्याप्योऽंशः किलाकाशप्रदेशः, स खल्वेकोऽपि शेषपञ्चद्रव्यप्रदेशानां

उन सबको स्पर्श करता है। इसलिये असंख्य कालाणुओंको स्पर्श करनेसे 'समय'के असंख्य अंश होना चाहिये"। इसका समाधान यह है :—

जैसे अनन्त परमाणुओंका कोई स्कंध आकाशके एक प्रदेशमें समाकर परिमाणमें एक परमाणु जितना ही होता है, सो वह परमाणुओंके विशेष प्रकारके अवगाहपरिणामके कारण ही है; (परमाणुओंमें ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकारकी अवगाहपरिणामकी शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है,) इससे कहीं परमाणुके अनन्त अंश नहीं होते; इसीप्रकार कोई परमाणु एक समयमें असंख्य कालाणुओंको उलंघन करके लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक पहुंच जाता है, सो वह परमाणुके विशेष प्रकारके गतिपरिणामके कारण ही है; (परमाणुमें ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकारके गतिपरिणामकी शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है;) इससे कहीं 'समय'के असंख्य अंश नहीं होते ॥ १३९ ॥

अब, आकाशके प्रदेशका लक्षण सूत्र द्वारा कहते हैं :—

गाथा १४०

अन्वयार्थः—[**अणुनिविष्टं आकाशं**] एक परमाणु जितने आकाशमें रहता है उतने आकाशको [**आकाशप्रदेशसंज्ञया**] 'आकाशप्रदेश'के नामसे [**भणितम्**] कहा गया है। [**च**] और [**तत्**] वह [**सर्वेषां अणूनां**] समस्त परमाणुओंको [**अवकाशं दातुं शक्नोति**] अवकाश देनेको समर्थ है।

टीका:—आकाशका एक परमाणुसे व्याप्य अंश आकाशप्रदेश है; और वह एक

१—आकाशमें भी अवगाहहेतुत्वके कारण ऐसी शक्ति है कि उसका एक प्रदेश [illegible] को अवकाश देनेमें समर्थ है।

परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां चावकाशदानसमर्थः । अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकल्पनमाकाशस्य, सर्वेषामणूनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः । यदि पुनराकाशस्यांशा न स्युरिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम् । एकं चेत्किमभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन किं वा भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन । अभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् येनांशेनैकस्या अङ्गुलेः क्षेत्रं तेनांशेनेतरस्या इत्यन्यतरांशाभावः । एवं द्व्याद्यंशानामभावादाकाशस्य परमाणोरिव प्रदेशमात्रत्वम् । भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम् । अनेकं चेत् किं सविभागानेकद्रव्यत्वेन किं वाऽविभागैकद्रव्यत्वेन । सविभागानेकद्रव्यत्वेन चेत् एकद्रव्यस्याकाशस्यानन्तद्रव्यत्वं, अविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम् ॥ १४० ॥

अथ तिर्यगूर्ध्वप्रचयावावेदयति—

प्रदेश) भी शेष पांच द्रव्योंके प्रदेशोंको तथा परम सूक्ष्मतारूपसे परिणमित अनन्त परमाणुओंके स्कंधोंको अवकाश देनेमें समर्थ है । आकाश अविभाग (अखंड) एक द्रव्य है, फिर भी उसमें (प्रदेशरूप) अंशकल्पना होसकती है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओंको अवकाश देना नहीं बन सकेगा ।

ऐसा होने पर भी, यदि 'आकाशके अंश नहीं होते' (अर्थात् अंशकल्पना नहीं की जाती), ऐसी (किसीकी) मान्यता हो तो आकाशमें दो उंगलियाँ फैलाकर बताइये कि 'दो उंगलियोंका एक क्षेत्र है या अनेक ?' यदि एक है तो (प्रश्न होता है कि:—), (१) आकाश अभिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिये दो अंगुलियोंका एक क्षेत्र है या (२) भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिये ? (१) यदि 'आकाश अभिन्न अंशवाला अविभाग एक द्रव्य है इसलिये दो अंगुलियोंका एक क्षेत्र है' ऐसा कहा जाय तो, जो अंश एक अंगुलिका क्षेत्र है वही अंश दूसरी अंगुलिका भी है, इसलिये दोमेंसे एक अंशका अभाव होगया। इसप्रकार दो इत्यादि (एकसे अधिक) अंशोंका अभाव होनेसे आकाश परमाणुकी भांति प्रदेशमात्र सिद्ध हुआ ! (इसलिये यह तो घटित नहीं होता); (२) यदि यह कहा जाय कि 'आकाश भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है' (इसलिये दो अंगुलियोंका एक क्षेत्र है) तो (यह योग्य ही है, क्योंकि) अविभाग एक द्रव्यमें अंश- कल्पना फलित हुई ।

यदि यह कहा जाय कि (दो अंगुलियोंके) 'अनेक क्षेत्र है' (अर्थात् एकसे अधिक क्षेत्र हैं, एक नहीं) तो (प्रश्न होता है कि—); (१) 'आकाश सविभाग (खंडरूप) अनेक द्रव्य है इसलिये दो अंगुलियोंके अनेक क्षेत्र हैं या (२) आकाशके अविभाग एकद्रव्य होनेपर भी दो अंगुलियोंके अनेक क्षेत्र हैं ? (१) यदि सविभाग अनेक द्रव्य होनेसे माना जाय तो आकाश जो कि एक द्रव्य है उसे अनन्तद्रव्यत्व आजायगा; (इसलिये यह तो घटित नहीं होता); (२) यदि अविभाग एक द्रव्य होनेसे माना जाय तो (यह योग्य ही है, क्योंकि) अविभाग एकद्रव्यमें अंशकल्पना फलित हुई ॥१४०॥

अब, तिर्यक्प्रचय[1] तथा ऊर्ध्वप्रचय[2] बतलाते हैं:—

१—तिर्यक्=तिरछा; क्षेत्रापेक्षासे (प्रदेशोंका फैलाव) । २—ऊर्ध्व=ऊँचा; कालापेक्षासे ।

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य ।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥ १४१ ॥

एको वा द्वौ बहवः संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च ।
द्रव्याणां च प्रदेशाः सन्ति हि समया इति कालस्य ॥ १४१ ॥

प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः । तत्राकाशस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मयोरवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वाज्जीवस्यानवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः । न पुनः कालस्य शक्त्या व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात् । ऊर्ध्वप्रचयस्तु त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद्द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव । अयं तु विशेषः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः । शेषद्रव्याणां वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वादस्तिसमयविशिष्टत्वम् । कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति ॥१४१॥

गाथा १४१

अन्वयार्थः—**[द्रव्याणां च]** द्रव्योंके **[एकः]** एक, **[द्वौ]** दो, **[बहवः]** बहुतसे, **[संख्यातीताः]** असंख्य, **[वा]** अथवा **[ततः अनन्ताः च]** अनन्त **[प्रदेशाः]** प्रदेश **[सन्ति हि]** हैं । **[कालस्य]** कालके **[समयाः इति]** 'समय' हैं ।

टीकाः—प्रदेशोंका समूह तिर्यक्प्रचय और समयविशिष्ट वृत्तियोंका[1] समूह ऊर्ध्वप्रचय है ।

वहां आकाश अवस्थित (स्थिर) अनन्तप्रदेशवाला है, धर्म तथा अधर्म अवस्थित असंख्य प्रदेशवाले हैं, जीव अनवस्थित असंख्यप्रदेशी है, और पुद्गल द्रव्यतः अनेक प्रदेशित्वकी शक्तिसे युक्त एकप्रदेशवाला है तथा पर्यायतः दो अथवा बहुत (संख्यात, असंख्यात, अनन्त) प्रदेशवाला है, इसलिये उनके तिर्यक्प्रचय है; परन्तु कालके (तिर्यक्प्रचय) नहीं है, क्योंकि वह शक्ति तथा व्यक्ति (की अपेक्षा) से एक प्रदेशवाला है ।

ऊर्ध्वप्रचय तो सर्वद्रव्योंके अनिवार्य ही है, क्योंकि द्रव्यकी वृत्ति तीन कोटियोंको (भूत, वर्तमान और भविष्य-ऐसे तीनों कालोंको) स्पर्श करती है, इसलिये अंशोंसे युक्त है । परन्तु इतना अन्तर है कि समयविशिष्ट[2] वृत्तियोंका प्रचय (कालको छोड़कर) शेष द्रव्योंका ऊर्ध्वप्रचय है, और समयोंका प्रचय कालद्रव्यका ऊर्ध्वप्रचय है; क्योंकि शेष द्रव्योंकी वृत्ति समयसे अर्थान्तरभूत (अन्य) है, इसलिये वह (वृत्ति) समय विशिष्ट है, और कालद्रव्यकी वृत्ति तो स्वतः समयभूत है, इसलिये वह समयविशिष्ट नहीं है ॥ १४१ ॥

१—वृत्ति=वर्तना; परिणति; पर्याय; उत्पाद व्यय ध्रौव्य; अस्तित्व । २—समयविशिष्ट=समयसे विशिष्ट; समयके निमित्तभूत होनेसे व्यवहारसे जिसमें समयकी अपेक्षा होती है ।

अथ कालपदार्थोर्ध्वप्रचयनिरन्वयत्वमुपहन्ति--

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्हि ।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥१४२॥

उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि यस्यैकसमये ।
समयस्य सोऽपि समयः स्वभावसमवस्थितो भवति ॥ १४२ ॥

समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंशः तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात् । तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव किं यौगपद्येन किं क्रमेण, यौगपद्येन चेत् नास्ति यौगपद्यं सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात् । क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः, वृत्त्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात् । ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः, स च समयपदार्थ एव । तस्य खल्वेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे समुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः । यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन्

अब, कालपदार्थका ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय[1] है, इसका खंडन करते हैं:—

गाथा १४२

अन्वयार्थः—**[यदि यस्य समयस्य]** यदि कालका **[एक समये]** एक समयमें **[उत्पादः प्रध्वंशः]** उत्पाद और विनाश **[विद्यते]** पाया जाता है, **[सः अपि समयः]** तो वह भी काल **[स्वभावसमवस्थितः]** स्वभावमें अवस्थित अर्थात् ध्रुव **[भवति]** होता है ।

टीका:—समय काल पदार्थका वृत्यंश[2] है; उस वृत्यंशमें किसीके भी अवश्य उत्पाद तथा विनाश संभवित हैं; क्योंकि परमाणुके अतिक्रमणके द्वारा (समयरूपी वृत्यंश) उत्पन्न होता है, इसलिये वह कारणपूर्वक है। (परमाणुके द्वारा एक आकाशप्रदेशका मंदगतिसे उलंघनकरना कारण है, और समयरूपी वृत्यंश उस कारणका कार्य है, इसलिये उसमें किसी पदार्थके उत्पाद तथा विनाश होता होना चाहिये ।)

('किसी पदार्थके उत्पाद-विनाश होनेकी क्या आवश्यकता है ? उसके स्थान पर वृत्यंशको ही उत्पाद-विनाश होते हुये मानलें तो क्या हानि है ?' इस तर्कका समाधान करते हैं —)

यदि उत्पाद और विनाश वृत्यंशके ही माने जायें तो, (प्रश्न होता है कि:—) (१) वे युगपद् हैं या (२) क्रमशः ? (१) यदि 'युगपत्' कहा जाय तो युगपतपना घटित नहीं होता, क्योंकि एक ही समय एकके दो विरोधी धर्म नहीं होते। (एक ही समय एक वृत्यंशके प्रकाश और अंधकारकी भांति

१—निरन्वय=अन्वय रहित, एक प्रवाहरूप न होनेवाला, खंडित; एकरूपता सदृशतासे रहित ।
२—वृत्यंश=वृत्तिका अंश; सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणति अर्थात् पर्याय ।

वृत्त्यंशे तद्वृत्त्यंशविशिष्टत्वेनोत्पादः । स एव तस्यैव वृत्तिमतस्तस्मिन्नेव वृत्त्यंशे पूर्ववृत्त्यंशविशिष्टत्वेन प्रध्वंसः । यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे संभवतः समयपदार्थस्य कथं नाम निरन्वयत्वं, यतः पूर्वोत्तरवृत्त्यंशविशिष्टत्वाभ्यां युगपदुपात्तप्रध्वंसोत्पादस्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्तानुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत् । एवमेकस्मिन् वृत्त्यंशे समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं सिद्धम् ॥ १४२ ॥

अथ सर्ववृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं साधयति—

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा ।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥ १४३ ॥

एकस्मिन् सन्ति समये संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः ।
समयस्य सर्वकालं एष हि कालाणुसद्भावः ॥ १४३ ॥

उत्पाद और विनाश-दो विरुद्ध धर्म नहीं होते ।) (२) यदि 'क्रमशः' कहा जाय तो क्रम नहीं बनता, क्योंकि वृत्यंशके सूक्ष्म होनेसे उसमें विभागका अभाव है । इसलिये (समयरूपी वृत्यंशके उत्पाद तथा विनाश होना अशक्य होने से) कोई वृत्तिमान्[1] अवश्य ढूंढ़ना चाहिये । और वह (वृत्तिमान्) काल पदार्थ ही है । उसके वास्तवमें एक वृत्यंशमें भी उत्पाद और विनाश संभव है; क्योंकि जिस वृत्तिमानके जिस वृत्यंशमें उस वृत्यंशकी अपेक्षासे जो उत्पाद है, वही, उसी वृत्तिमानके उसी वृत्यंशमें पूर्व वृत्यंशकी अपेक्षासे विनाश है । (अर्थात्—कालपदार्थके जिस वर्तमान पर्यायकी अपेक्षासे उत्पाद है, वही पूर्व पर्यायकी अपेक्षासे विनाश है ।)

यदि इसप्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्यंशमें भी संभवित हैं तो काल पदार्थ निरन्वय कैसे हो सकता है, कि जिससे पूर्व और पश्चात् वृत्यंशकी अपेक्षासे युगपत् विनाश और उत्पादको प्राप्त होता हुआ भी स्वभावसे अविनष्ट और अनुत्पन्न होनेसे वह (काल पदार्थ) अवस्थित न हो ? (काल पदार्थके एक वृत्यंशमें भी उत्पाद और विनाश युगपत् होते हैं, इसलिये वह निरन्वय अर्थात् खंडित नहीं है, इसलिये स्वभावतः अवश्य ध्रुव है ।)

इसप्रकार एक वृत्यंशमें काल पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यवाला है, यह सिद्ध हुआ ॥ १४२ ॥

अब, (जैसे एक वृत्यंशमें काल पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यवाला सिद्ध किया है (उसीप्रकार) सर्व वृत्यंशोंमें काल पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यवाला है, यह सिद्ध करते हैं :—

गाथा १४३

अन्वयार्थः—[एकस्मिन् समये] एक एक समयमें **[संभवस्थितिनाशसंज्ञिताः अर्थाः]** उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ **[समयस्य]** कालके **[सर्वकालं]** सदा

१—वृत्तिमान्=वृत्तिवाला; वृत्तिको धारण करने वाला पदार्थ ।

अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्त्यंशे तस्य दर्शनात्, उपपत्तिमच्चैतत् विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः। अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्ध्यति सद्भावः। यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्ध्यतस्तदा त अस्तित्वमन्तरेण न सिद्ध्यतः कथंचिदपि ॥ १४३ ॥

अथ कालपदार्थस्यास्तित्वान्यथानुपपत्त्या प्रदेशमात्रत्वं साधयति—

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥ १४४ ॥

यस्य न सन्ति प्रदेशाः प्रदेशमात्रं वा तत्त्वतो ज्ञातुम्।
शून्यं जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ॥ १४४ ॥

अस्तित्वं हि तावदुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः। न खलु सा प्रदेशमन्तरेण सूत्र्यमाणा कालस्य संभवति, यतः प्रदेशाभावे वृत्तिमदभावः। स तु शून्य एव, अस्तित्वसंज्ञाया

[**संति**] होते हैं। [**एषः हि**] यही [**कालाणुसद्भावः**) कालाणुका सद्भाव है; (यही कालाणुके अस्तित्वकी सिद्धि है।)

टीकाः—काल-पदार्थके सभी वृत्त्यंशोंमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं, क्योंकि (१४२ वीं गाथामें जैसा सिद्ध हुआ है तदनुसार) एक वृत्त्यंशमें वे (उत्पादव्ययध्रौव्य) देखे जाते हैं। और यह योग्य ही है, क्योंकि विशेष अस्तित्व सामान्य अस्तित्वके विना नहीं हो सकता। यही कालपदार्थके सद्भावकी सिद्धि है। (क्योंकि) यदि विशेष और सामान्य अस्तित्व सिद्ध होते हैं तो वे अस्तित्वके विना किसी भी प्रकारसे सिद्ध नहीं होते ॥ १४३ ॥

अब, काल पदार्थका अस्तित्व अन्यथा (अन्यप्रकारसे) नहीं बन सकता; इसलिये उसका प्रदेशमात्रत्व सिद्ध करते हैं :—

गाथा १४४

अन्वयार्थः—[**यस्य**] जिस पदार्थके [**प्रदेशाः**] प्रदेश [**प्रदेशमात्रं वा**] अथवा एकप्रदेश भी [**तत्त्वतः**] परमार्थतः [**ज्ञातुम् न संति**] ज्ञात नहीं होते, [**तं अर्थं**] उस पदार्थको [**शून्यं जानीहि**] शून्य जानो- [**अस्तित्वात् अर्थान्तरभूतम्**] क्योंकि वह अस्तित्वसे अर्थान्तरभूत (अन्य) है।

टीकाः—प्रथम तो, अस्तित्व उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्यकी ऐक्यस्वरूपवृत्ति है। वह प्रदेशके विना ही कालके होती है यह कथन संभवित नहीं है, क्योंकि प्रदेशके अभावमें वृत्तिमान्का अभाव होता है। (और) वह तो शून्य ही है, क्योंकि अस्तित्व नामक वृत्तिसे अर्थान्तरभूत (अन्य) है।

वृत्तेरर्थान्तरभूतत्वात्। न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमर्हति, वृत्तेर्हि वृत्तिमन्तमन्तरेणानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा कथमुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मकत्वम्। अनाद्यन्तनिरन्तरानेकांशवशीकृतैकात्मकत्वेन पूर्वपूर्वांशप्रध्वंसादुत्तरोत्तरांशोत्पादादेकात्मध्रौव्यादिति चेत्। नैवम्। यस्मिन्नंशे प्रध्वंसो यस्मिंश्चोत्पादस्तयोः सहप्रवृत्त्यभावात् कुतस्त्यमैक्यम्। तथा प्रध्वस्तांशस्य सर्वथास्तमितत्वादुत्पद्यमानांशस्य वासंभवितात्मलाभत्वात्प्रध्वंसोत्पादैक्यवर्तिध्रौव्यमेव कुतस्त्यम्। एवं सति नश्यति त्रैलक्षण्यं, उल्लसति क्षणभङ्गः, अस्तमुपैति नित्यं द्रव्यं, उदीयन्ते क्षणक्षयिणो भावाः। ततस्तत्त्वविप्लवभयात्कश्चिदवश्यमाश्रयभूतो वृत्तेर्वृत्तिमाननुसर्तव्यः। स तु प्रदेश एवाप्रदेशस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वासिद्धेः। एवं सप्रदेशत्वे हि कालस्य कुत एकद्रव्यनिबन्धनं लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वं नाभ्युपगम्येत। पर्यायसमयाप्रसिद्धेः। प्रदेशमात्रं हि द्रव्यसमयमति-

और (यदि यहां यह तर्क किया जाय कि 'मात्र समय पर्यायरूप वृत्ति ही माननी चाहिये, वृत्तिमान् कालाणु पदार्थकी क्या आवश्यकता है ?' तो उसका समाधान इसप्रकार है :—) मात्र वृत्ति ही काल नहीं हो सकती, क्योंकि वृत्तिमानके विना वृत्ति नहीं हो सकती। यदि (यह कहा जाय कि वृत्तिमान के विना भी) वृत्ति होसकती है तो, (प्रश्न होता है कि—वृत्ति तो उत्पादव्ययध्रौव्यकी एकतास्वरूप होनी चाहिये;) अकेली वृत्ति उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी एकतारूप कैसे होसकती है ? यदि यह कहा जाय कि—'अनादि-अनन्त, अनन्तर (—परस्पर अन्तर हुये विना एकके बाद एक प्रवर्तमान) अनेक अंशोंके कारण एकात्मकता[1] होती है इसलिये, पूर्व पूर्व अंशोंका नाश होता है, और उत्तर उत्तर अंशोंका उत्पाद होता है तथा एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है,—इसप्रकार मात्र (अकेली) वृत्ति भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी एकतास्वरूप होसकती है' तो ऐसा नहीं है। (क्योंकि उस अकेली वृत्तिमें तो) जिस अंशमें नाश है और जिस अंशमें उत्पाद है वे दो अंश एक साथ प्रवृत्त नहीं होते, इसलिये (उत्पाद और व्ययका) ऐक्य कहांसे होसकता है ? तथा नष्ट अंशके सर्वथा अस्त होनेसे और उत्पन्न होनेवाला अंश अपने स्वरूपको प्राप्त न होनेसे (अर्थात् उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिये) नाश और उत्पादकी एकतामें प्रवर्तमान ध्रौव्य कहांसे होसकता है ? ऐसा होनेपर त्रिलक्षणता (उत्पादव्ययध्रौव्यता) नष्ट होजाती है, क्षणभंग (बौद्धसम्मत क्षणविनाश) उल्लसित हो उठता है, नित्य द्रव्य अस्त होजाता है, और क्षणविध्वंसी भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिये तत्त्वविप्लवके[2] भयसे अवश्य ही वृत्तिका आश्रयभूत कोई वृत्तिमान ढूंढना—स्वीकार करना योग्य है। वह तो प्रदेश ही है (अर्थात् वह वृत्तिमान सप्रदेश ही होता है) क्योंकि अप्रदेशके अन्वय तथा व्यतिरेकका अनुविधायित्व असिद्ध है। (जो अप्रदेश होता है वह अन्वय तथा व्यतिरेकोंका अनुसरण नहीं कर सकता, अर्थात् उसमें ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय नहीं होसकते।)

१—एकात्मकता=एकरूपता (काल द्रव्यके बिना भी अनादि कालसे अनन्त काल तक समय एकके बाद एक परस्पर अन्तरके बिना ही प्रवर्तित होते हैं, इसलिये एक प्रवाहरूप बन जानेसे उनमें एकात्मकता आजाती है—इसप्रकार शंकाकारका तर्क है।) २—तत्त्वविप्लव=वस्तुस्वरूपमें अंधाधुन्धी।

क्रामतः परमाणोः पर्यायसमयः प्रसिद्ध्यति । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वे तु द्रव्यसमयस्य कुतस्त्या तत्सिद्धिः । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशैकद्रव्यत्वेऽपि तस्यैकं प्रदेशमतिक्रामतः परमाणोस्तत्सिद्धिरिति चेन्नैवं । एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात् । सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्यंशः स समयो न तु तदेकदेशस्य । तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वप्रसंगाच्च । तथाहि— प्रथममेकेन प्रदेशेन वर्तते ततोऽन्येन ततोऽप्यन्यतरेणेति तिर्यक्प्रचयोऽप्यूर्ध्वप्रचयीभूय प्रदेशमात्रं द्रव्यमवस्थापयति । ततस्तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वमनिच्छता प्रथममेव प्रदेशमात्रं कालद्रव्यं व्यवस्थापयितव्यम् ॥ १४४ ॥

अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहारजीवत्वहेतुमालोचयति—

(प्रश्नः) जब कि इसप्रकार काल सप्रदेश है तो उसके एकद्रव्यके कारणभूत लोकाकाश तुल्य असंख्यप्रदेश क्यों न मानने चाहिये ?

(उत्तरः) ऐसा हो तो पर्यायसमय सिद्ध नहीं होता, इसलिये असंख्य प्रदेश मानना योग्य नहीं है । परमाणुके द्वारा प्रदेशमात्र द्रव्य समयका उल्लंघन करने पर (अर्थात्–परमाणुके द्वारा एकप्रदेशमात्र कालाणुसे निकटके दूसरे प्रदेशमात्र कालाणु तक मंदगतिसे गमन करने पर) पर्यायसमय प्रसिद्ध होता है । यदि द्रव्यसमय लोकाकाशतुल्य असंख्यप्रदेशी हो तो पर्यायसमयकी सिद्धि कहांसे होगी ?

'यदि द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेशवाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणुके द्वारा उसका एकप्रदेश उलंघित होनेपर पर्यायसमयकी सिद्धि होजायगी,' ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि (उसमें दो दोष आते हैं):—

(१) [द्रव्यके एकदेशकी परिणतिको सम्पूर्ण द्रव्यकी परिणति माननेका प्रसंग आता है ।] एकप्रदेशकी वृत्तिको सम्पूर्ण द्रव्यकी वृत्ति माननेमें विरोध है । सम्पूर्ण काल पदार्थका जो सूक्ष्म वृत्यंश है वह समय है, परन्तु उसके एकदेशका वृत्यंश वह समय नहीं ।

(२) तिर्यक्प्रचयको ऊर्ध्वप्रचयत्वका प्रसंग आता है । वह इसप्रकार है कि:—प्रथम, कालद्रव्य एकप्रदेशसे वर्ते, फिर दूसरे प्रदेशसे वर्ते और फिर अन्यप्रदेशसे वर्ते (ऐसा प्रसंग आता है) इसप्रकार तिर्यक्प्रचय ऊर्ध्वप्रचय बनकर द्रव्यको प्रदेशमात्र स्थापित करता है । (अर्थात् तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय है, ऐसा माननेका प्रसंग आता है, इसलिये द्रव्यप्रदेशमात्र ही सिद्ध होता है ।) इसलिये तिर्यक्प्रचयको ऊर्ध्वप्रचयत्व न मानने (चाहने) वालेको प्रथम ही कालद्रव्यको प्रदेशमात्र निश्चय करना चाहिये ॥१४४॥

(इसप्रकार ज्ञेयतत्वप्रज्ञापनमें द्रव्यविशेषप्रज्ञापन समाप्त हुआ ।)

अब, इस प्रकार ज्ञेयतत्वको कहकर, ज्ञान और ज्ञेयके विभाग द्वारा आत्माको निश्चित करते हुये, आत्माको अत्यन्त विभक्त (भिन्न) करनेके लिये व्यवहारजीवत्वके हेतुका विचार करते हैं:—

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो ।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो ॥ १४५ ॥

सप्रदेशैः समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्यः ।
यस्तं जानाति जीवः प्राणचतुष्काभिसंबद्धः ॥ १४५ ॥

एवमाकाशपदार्थादाकालपदार्थाच्च समस्तैरेव संभावितप्रदेशसद्भावैः पदार्थैः समग्र एव यः समाप्तिं नीतो लोकस्तं खलु तदन्तःपातित्वेऽप्यचिन्त्यस्वपरपरिच्छेदशक्तिसंपदा जीव एव जानीते नत्वितरः । एवं शेषद्रव्याणि ज्ञेयमेव, जीवद्रव्यं तु ज्ञेयं ज्ञानं चेति ज्ञानज्ञेयविभागः । अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया

गाथा १४५

अन्वयार्थः—[**सप्रदेशैः अर्थैः**] सप्रदेश पदार्थोंके द्वारा [**निष्ठितः**] समाप्तिको प्राप्त [**समग्रः लोकः**] सम्पूर्ण लोक [**नित्यः**] नित्य है, [**तं**] उसे [**यः जानाति**] जो जानता है [**जीवः**] वह जीव है,—[**प्राणचतुष्काभिसंबद्धः**] जो कि (संसार दशामें) चार प्राणोंसे संयुक्त है ।

टीकाः—इस प्रकार जिन्हें प्रदेशका सद्भाव फलित हुआ है ऐसे आकाशपदार्थसे लेकर काल पदार्थ तकके सभी पदार्थोंसे समाप्तिको प्राप्त जो समस्त लोक है उसे वास्तवमें, उसमें अन्तर्भूत होनेपर भी, स्वपरको जाननेकी अचिन्त्य शक्तिरूप सम्पत्तिके द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं । इस प्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है;—इसप्रकार ज्ञान और ज्ञेयका विभाग है ।

अब, इस जीवको, सहजरूपसे (स्वभावसे ही) प्रगट अनन्तज्ञानशक्ति जिसका हेतु है और तीनों कालमें अवस्थायित्व जिसका लक्षण है ऐसा, वस्तुका स्वरूपभूत होनेसे सर्वदा अविनाशी निश्चय-जीवत्व होनेपर भी, संसारावस्थामें अनादिप्रवाहरूपसे प्रवर्तमान पुद्गल संश्लेषके द्वारा स्वयं दूषित होनेसे उसके चार प्राणोंसे संयुक्तता है, जो कि व्यवहारजीवत्वका हेतु है, और विभक्त करने योग्य है ।

भावार्थः—षट् द्रव्योंका समुदाय लोक है । जीव उसे (अपनी) अचिन्त्य ज्ञानशक्तिसे जानता है; इसलिये जीवके अतिरिक्त शेष द्रव्य ज्ञेय हैं, और जीव ज्ञान तथा ज्ञेय है । वस्तुका स्वरूपभूत होनेसे जो कभी नष्ट नहीं होता, ऐसा निश्चयजीवत्व जीवके सदा ही है । उस (निश्चयजीवत्व) का कारण स्वाभाविक अनन्तज्ञानशक्ति है । ऐसा निश्चयजीवत्व जीवके सदा होने पर भी वह, संसार दशामें स्वयं पुद्गलके संबंधसे दूषित होनेसे चार प्राणोंसे संयुक्त है, और इसलिये उसके व्यवहारजीवत्व भी है ।

१. छह द्रव्योंसे ही सम्पूर्ण लोक समाप्त हो जाता है, अर्थात् उनके अतिरिक्त लोकमें दूसरा कुछ नहीं है ।

प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति ॥ १४५ ॥

अथ के प्राणा इत्यावेदयति—

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ १४६ ॥

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायुःप्राणश्च।
आनपानप्राणो जीवानां भवन्ति प्राणास्ते ॥ १४६ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्रपञ्चकमिन्द्रियप्राणाः, कायवाङ्मनस्त्रयं बलप्राणाः, भवधारणनिमित्तमायुःप्राणः। उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानपानप्राणः ॥ १४६ ॥

अथ प्राणानां निरुक्त्या जीवत्वहेतुत्वं पौद्गलिकत्वं च सूत्रयति—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥ १४७ ॥

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवितः पूर्वम्।
स जीवः प्राणाः पुनः पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ताः ॥ १४७ ॥

उस व्यवहार जीवत्वकी कारणरूप जो चार प्राणोंसे संयुक्तता है। उससे जीवको भिन्न करना चाहिये ॥ १४५ ॥

अब, प्राण कौनसे हैं, सो बतलाते हैं:—

गाथा १४६

अन्वयार्थः—[**इन्द्रिय प्राणः च**] इन्द्रिय प्राण [**तथा बलप्राणः**] बलप्राण, [**तथा च आयुःप्राणः**] आयुप्राण [**च**] **और** [**आनपानप्राणः**] श्वासोच्छ्वास प्राण; [**ते**] यह (चार) [**जीवानां**] जीवोंके [**प्राणाः**] प्राण [**भवन्ति**] हैं।

टीका:—स्पर्शन, रसना; घ्राण, चक्षु और श्रोत्र,—यह पांच इन्द्रियप्राण हैं; काय, वचन, और मन,—यह तीन बलप्राण हैं, भव धारणका निमित्त (अर्थात् मनुष्यादि पर्यायकी स्थितिका निमित्त) आयुप्राण है; नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है ऐसी वायु (श्वास) श्वासोच्छ्वास प्राण है ॥ १४६ ॥

अब, व्युत्पत्ति द्वारा प्राणोंको जीवत्वका हेतुत्व और उनका पौद्गलिकत्व सूत्र द्वारा कहते हैं:—

गाथा १४७

अन्वयार्थः—[**यः हि**] जो [**चतुर्भिः प्राणैः**] चार प्राणोंसे [**जीवति**] जीता है, [**जीविष्यति**] जियेगा, [**जीवितः पूर्वं**] और पहले जीता था, [**सः जीवः**] वह

प्राणसामान्येन जीवति जीविष्यति जीवितवांश्च पूर्वमिति जीवः। एवमनादिसंतानप्रवर्तमानतया त्रिसमयावस्थत्वात्प्राणसामान्यं जीवस्य जीवत्वहेतुरस्त्येव तथापि तन्न जीवस्य स्वभावत्वमवाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात् ॥ १४७ ॥

अथ प्राणानां पौद्गलिकत्वं साधयति—

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥ १४८ ॥

जीवः प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकैः कर्मभिः।
उपभुंजानः कर्मफलं बध्यतेऽन्यैः कर्मभिः ॥ १४८ ॥

यतो मोहादिभिः पौद्गलिककर्मभिर्बद्धत्वाज्जीवः प्राणनिबद्धो भवति। यतश्च प्राणनिबद्धत्वात्पौद्गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्गलिककर्मभिर्बध्यते। ततः पौद्गलिककर्मकार्यत्वात्पौद्गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्गलिका एव प्राणा निश्चीयन्ते ॥ १४८ ॥

जीव है। [**पुनः**] फिर भी [**प्राणाः**] प्राण तो [**पुद्गलद्रव्यैः निर्वृत्ताः**] पुद्गल द्रव्योंसे निष्पन्न (रचित) हैं।

टीका:—(व्युत्पत्तिके अनुसार) जो प्राणसामान्यसे जीता है, जियेगा, और पहले जीता था वह जीव है। इस प्रकार (प्राणसामान्य) अनादि संतानरूप (प्रवाहरूप) से प्रवर्तमान होनेसे (संसारदशामें) त्रिकाल स्थायी होनेसे प्राणसामान्य जीवके जीवत्वका हेतु है ही, तथापि वह उसका स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यसे रचित है।

भावार्थ:—यद्यपि निश्चयसे जीव सदा ही भावप्राणसे जीता है, तथापि संसारदशामें व्यवहारसे उसे व्यवहारजीवत्वके कारणभूत इन्द्रियादि द्रव्यप्राणोंसे जीवित कहा जाता है। ऐसा होनेपर भी वे द्रव्यप्राण आत्माका स्वरूप किंचित् मात्र नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यसे निर्मित हैं ॥ १४७ ॥

अब, प्राणोंकी पौद्गलिकता सिद्ध करते हैं:—

गाथा १४८

अन्वयार्थ:—[**मोहादिकैः कर्मभिः**] मोहादिक कर्मोंसे [**बद्धः**] बंधा हुआ होनेसे [**जीवः**] जीव [**प्राणनिबद्धः**] प्राणोंसे संयुक्त होता हुआ [**कर्मफलं उपभुंजानः**] कर्मफलको भोगता हुआ [**अन्यैः कर्मभिः**] अन्य कर्मोंसे [**बध्यते**] बंधता है।

टीका:—(१) मोहादिक पौद्गलिक कर्मोंसे बंधा हुआ होनेसे जीव प्राणोंसे संयुक्त होता है, और (२) प्राणोंसे संयुक्त होनेके कारण पौद्गलिक कर्मफलको (मोही रागी द्वेषी जीव मोह-रागद्वेषपूर्वक) भोगता हुआ पुनः भी अन्य पौद्गलिक कर्मोंसे बंधता है, इसलिये (१) पौद्गलिक कर्मके कार्य होनेसे, और (२) पौद्गलिक कर्मके कारण होनेसे प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं ॥ १४८ ॥

अथ प्राणानां पौद्गलिककर्मकारणत्वमुन्मीलयति—

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥ १४९ ॥

प्राणाबाधं जीवो मोहप्रद्वेषाभ्यां करोति जीवयोः।
यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभिः॥ १४९ ॥

प्राणैर्हि तावज्जीवः कर्मफलमुपभुंक्ते, तदुपभुञ्जानो मोहप्रद्वेषावाप्नोति ताभ्यां स्वजीवपरजीवयोः प्राणाबाधं विदधाति। तदा कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादीनि कर्माणि बध्नाति। एवं प्राणाः पौद्गलिककर्मकारणतामुपयान्ति ॥ १४९ ॥

अथ पुद्गलप्राणसन्ततिप्रवृत्तिहेतुमन्तरङ्गमासूत्रयति—

अब, प्राणोंके पौद्गलिक कर्मका कारणत्व प्रगट करते हैं:—

गाथा १४९

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**जीवः**] जीव [**मोहप्रद्वेषाभ्यां**] मोह और द्वेषके द्वारा [**जीवयोः**] (स्व तथा पर) जीवोंके [**प्राणाबाधं करोति**] प्राणोंको बाधा पहुँचाते हैं, [**सः हि**] तो पूर्वकथित [**ज्ञानावरणादिकर्मभिः बंधः**] ज्ञानावरणादिक कर्मोंके द्वारा बंध [**भवति**] होता है।

टीकाः—पहले तो प्राणोंसे जीव कर्मफलको भोगता है; उसे भोगता हुआ मोह तथा द्वेषको प्राप्त होता है; और उनसे स्वजीव तथा परजीवके प्राणोंको बाधा पहुँचाता है। वहाँ कदाचित् दूसरेके द्रव्य प्राणोंको बाधा पहुँचाकर और कदाचित् बाधा न पहुँचाकर, अपने भाव प्राणोंको तो उपरक्तता[1]से (अवश्य ही) बाधा पहुंचाता हुआ जीव ज्ञानावरणादि कर्मोंको बांधता है। इस प्रकार प्राण पौद्गलिक कर्मोंके कारणत्वको प्राप्त होते हैं ॥ १४९ ॥

अब पौद्गलिक प्राणोंकी संतति (प्रवाह–परम्परा) की प्रवृत्तिका अन्तरंगहेतु सूत्र द्वारा कहते हैं:—

१—उपरक्तता=मलिनता, विकारिता; मोहादिपरिणामरूप परिणमित होना। [जैसे कोई पुरुष तप्त लोहे के गोलेसे दूसरेको जलानेकी इच्छा करता हुआ प्रथम तो स्वयं अपनेको ही जलाता है; फिर दूसरा जले या न जले—इसका कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार जीव मोहादिपरिणामरूप परिणमित होता हुआ प्रथम तो निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानस्वरूप निज शुद्ध भावप्राणोंको ही हानि पहुंचाता है, फिर दूसरेके द्रव्यप्राणों की हानि हो या न हो,—इसका कोई नियम नहीं है।

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥ १५० ॥

आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुनः पुनरन्यान् ।
न त्यजति यावन्ममत्वं देहप्रधानेसु विषयेषु ॥ १५० ॥

येयमात्मनः पौद्गलिकप्राणानां संतानेन प्रवृत्तिः तस्या अनादिपौद्गलकर्ममूलं, शरीरादिममत्वरूपमुपरक्तत्वमन्तरङ्गो हेतुः ॥ १५० ॥

अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति—

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥ १५१ ॥

य इन्द्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमात्मकं ध्यायति ।
कर्मभिः स न रज्यते कथं तं प्राणा अनुचरन्ति ॥ १५१ ॥

गाथा १५०

अन्वयार्थः—[**यावत्**] जब तक [**देहप्रधानेषु विषयेषु**] देहप्रधान विषयोंमें [**ममत्वं**] ममत्वको [**न त्यजति**] नहीं छोड़ता, [**कर्ममलीमसः आत्मा**] तब तक कर्मसे मलीन आत्मा [**पुनः पुनः**] पुनः पुनः [**अन्यान् प्राणान्**] अन्य-अन्य प्राणोंको [**धारयति**] धारण करता है ।

टीका—जो इस आत्माकी पौद्गलिक प्राणोंकी संतानरूप प्रवृत्ति है, उसका अन्तरंगहेतु शरीरादिका ममत्वरूप उपरक्तत्व है, जिसका मूल (निमित्त) अनादि पौद्गलिक कर्म है ।

भावार्थ—द्रव्य प्राणोंकी परम्परा चलते रहनेका अन्तरंग कारण अनादि पुद्गलकर्मके निमित्तसे होनेवाला जीवका विकारी परिणमन है । जबतक जीव देहादि विषयोंके ममत्वरूप विकारी परिणमनको नहीं छोड़ता तब तक उसके निमित्तसे पुनः पुनः पुद्गलकर्म बंधते रहते हैं और उससे पुनः पुनः द्रव्य प्राणोंका संबंध होता रहता है ॥ १५० ॥

अब पौद्गलिक प्राणोंकी संततिकी निवृत्तिका अन्तरङ्ग हेतु समझाते हैं:—

गाथा १५१

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**इन्द्रियादिविजयीभूत्वा**] इन्द्रियादिका विजयी होकर [**उपयोगं आत्मकं**] उपयोगमात्र आत्माका [**ध्यायति**] ध्यान करता है, [**सः**] वह [**कर्मभिः**] कर्मोंके द्वारा [**न रज्यते**] रंजित नहीं होता; [**तं**] उसे [**प्राणाः**] प्राण

पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तेरन्तरङ्गो हेतुर्हि पौद्गलिककर्ममूलस्योपरक्तत्वस्याभावः। स तु समस्तेन्द्रियादिपरद्रव्यानुवृत्तिविजयिनो भूत्वा समस्तोपाश्रयानुवृत्तिव्यावृत्तस्य स्फटिकमणेरिवात्यन्तविशुद्धमुपयोगमात्रमात्मानं सुनिश्चलं केवलमधिवसतः स्यात्। इदमत्र तात्पर्यं आत्मनोऽत्यन्तविभक्तसिद्धये व्यवहारजीवत्वहेतवः पुद्गलप्राणा एवमुच्छेत्तव्याः ॥ १५१ ॥

अथ पुनरप्यात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वसिद्धये गतिविशिष्टव्यवहारजीवत्वहेतुपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥ १५२ ॥

अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे संभूतः।
अर्थः पर्यायः स संस्थानादिप्रभेदैः ॥ १५२ ॥

[कथं] कैसे **[अनुचरंति]** अनुसरण कर सकते हैं ? (अर्थात् उसके प्राणोंका संबंध नहीं होता ।)

टीका:—वास्तवमें पौद्गलिक प्राणोंकी संततिकी निवृत्तिका अंतरङ्ग हेतु उपरक्तताका अभाव है और उस उपरक्तताका कारण (निमित्त) पौद्गलिक कर्म है। और वह अभाव, जो जीव समस्त इन्द्रियादिक परद्रव्योंके अनुसार परिणतिका विजयी होकर, (अनेक वर्णोंवाले) आश्रयानुसार[2] सारी परिणतिसे व्यावृत्त (पृथक्) हुये स्फटिक मणिकी भांति, अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र अकेले आत्मामें सुनिश्चलतया वसता है, उस (जीव) के होता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि—आत्माकी अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करनेके लिये व्यवहारजीवत्वके हेतुभूत पौद्गलिक प्राण इसप्रकार उच्छेद करने योग्य हैं।

भावार्थ:—जैसे अनेक रंगयुक्त आश्रयभूत वस्तुके अनुसार जो (स्फटिक मणिका) अनेकरंगी परिणमन है, उससे सर्वथा व्यावृत्त हुये स्फटिकमणिके उपरक्तताका अभाव है, उसीप्रकार अनेकप्रकारके कर्म व इन्द्रियादिके अनुसार जो (आत्माका) अनेक प्रकारका विकारी परिणमन है, उससे सर्वथा व्यावृत्त हुये आत्माके (जो एक उपयोगमात्र आत्मामें सुनिश्चलतया वसता है, उसके) उपरक्तताका अभाव होता है। उस अभावसे पौद्गलिक प्राणोंकी परम्परा अटक जाती है।

इसप्रकार पौद्गलिक प्राणोंका उच्छेद करने योग्य है ॥ १५१ ॥

अब फिर भी, आत्माकी अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करनेके लिये, व्यवहार जीवत्वकी हेतुभूत गतिविशिष्ट (देव-मनुष्यादि) पर्यायोंका स्वरूप कहते हैं :—

गाथा १५२

अन्वयार्थ:—[अस्तित्वनिश्चितस्य अर्थस्य हि] अस्तित्वसे निश्चित अर्थ

२—आश्रय=जिसमें स्फटिक मणि रखा हो वह वस्तु।

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया संभावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः। स खलु पुद्गलस्य पुद्गलान्तर इव जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमानः संभाव्यत एव। उपपन्नश्चैवंविधः पर्यायः। अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्यास्खलितस्यान्तरवभासनात् ॥ १५२ ॥

अथ पर्यायव्यक्तीर्दर्शयति—

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥ १५३ ॥

नरनारकतिर्यक्सुराः संस्थानादिभिरन्यथा जाताः।
पर्याया जीवानामुदयादिभिर्नामकर्मणः ॥ १५३ ॥

(द्रव्य) का [**अर्थान्तरे संभूतः**] अन्य अर्थमें उत्पन्न [**अर्थः**] अर्थ (भाव) [**स पर्यायः**] वह पर्याय है [**संस्थानादिप्रभेदैः**] कि जो संस्थानादि भेदों सहित होती है।

टीका:—स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्वसे निश्चित एक अर्थ (द्रव्य) का, स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्वसे ही निश्चित अन्य अर्थमें विशिष्ट (भिन्न-भिन्न) रूपसे उत्पन्न होता हुआ अर्थ (भाव) अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है; जो कि वास्तवमें, जैसे पुद्गलकी अन्य पुद्गलमें अन्य पुद्गलात्मकपर्याय उत्पन्न होती हुई देखी जाती है उसीप्रकार जीवकी, पुद्गलमें संस्थानादिसे विशिष्टतया (संस्थान इत्यादिके भेद सहित) उत्पन्न होती हुई अनुभवमें अवश्य आती है। और ऐसी पर्याय योग्य घटित है; क्योंकि जो केवल जीवकी व्यतिरेकमात्र है ऐसी अस्खलित एक द्रव्य पर्याय ही अनेक द्रव्योंकी संयोगात्मकतया भीतर ज्ञात होती है।

भावार्थ:—यद्यपि प्रत्येक द्रव्यका स्वरूप-अस्तित्व सदा ही भिन्न-भिन्न रहता है तथापि, जैसे पुद्गलकी अन्य पुद्गलके संबंधसे स्कंधरूप पर्याय होती है उसीप्रकार जीवकी पुद्गलोंके संबंधसे देवादिक पर्याय होती है। जीवकी ऐसी अनेक द्रव्यात्मक देवादिपर्याय अयुक्त नहीं है; क्योंकि भीतर देखने पर, अनेक द्रव्योंका संयोग होने पर भी, जीव कहीं पुद्गलोंके साथ एकरूप पर्याय नहीं करता, परन्तु वहाँ भी मात्र जीवकी (पुद्गलपर्यायसे भिन्न) अस्खलित (अपनेसे च्युत न होनेवाली) एक द्रव्यपर्याय ही सदा प्रवर्तमान रहती है ॥ १५२ ॥

अब पर्यायके भेद बतलाते हैं :—

गाथा १५३

अन्वयार्थः—[**नरनारकतिर्यक्सुराः**] मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव, [**नामकर्मणः उदयादिभिः**] नामकर्मके उदयादिकके कारण [**जीवानां पर्यायाः**] जीवोंकी पर्यायें

नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देव इति किल पर्याया जीवानाम्। ते खलु नामकर्मपुद्गलविपाककारणत्वेनानेकद्रव्यसंयोगात्मकत्वात् कुकूलाङ्गारादिपर्याया जातवेदसः क्षोदखिल्वसंस्थानादिभिरिव संस्थानादिभिरन्यथैव भूता भवन्ति ॥ १५३ ॥

अथात्मनोऽन्यद्रव्यसंकीर्णत्वेऽप्यर्थनिश्चायकमस्तित्वं स्वपरविभागहेतुत्वेनोद्योतयति—

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥ १५४ ॥

तं सद्भावनिबद्धं द्रव्यस्वभावं त्रिधा समाख्यातम्।
जानाति यः सविकल्पं न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये ॥ १५४ ॥

यत्खलु स्वलक्षणभूतं स्वरूपास्तित्वमर्थनिश्चायकमाख्यातं स खलु द्रव्यस्य स्वभाव एव, सद्भावनिबद्धत्वाद्द्रव्यस्वभावस्य। यथासौ द्रव्यस्वभावो द्रव्यगुणपर्यायत्वेन स्थित्युत्पादव्ययत्वेन

हैं,—[**संस्थानादिभिः**] जो कि संस्थानादिके द्वारा [**अन्यथा जाताः**] अन्य-अन्य प्रकारकी होती हैं।

टीका:—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव,—जीवोंकी पर्यायें हैं। वे नामकर्मरूप पुद्गलके विपाकके कारण अनेक द्रव्योंकी संयोगात्मक हैं; इसलिये जैसे तुषकी अग्नि और अंगार इत्यादि अग्निकी पर्यायें चूरा और डली इत्यादि आकारोंसे अन्य-अन्य प्रकारकी होती हैं, उसीप्रकार जीवकी, नारकादि पर्यायें संस्थानादिके द्वारा अन्यान्य प्रकारकी ही होती हैं ॥ १५३ ॥

अब, आत्माकी अन्य द्रव्यके साथ संयुक्तता होने पर भी अर्थ निश्चायक[1] अस्तित्वको स्व-पर विभागके हेतुके रूपमें समझाते हैं :—

गाथा १५४

अन्वयार्थः—[**यः**] जो जीव [**तं**] उस (पूर्वोक्त) [**सद्भावनिबद्धं**] अस्तित्व निष्पन्न, [**त्रिधा समाख्यातं**] तीन प्रकारसे कथित, [**सविकल्पं**] भेदोंवाले [**द्रव्यस्वभावं**] द्रव्यस्वभावको [**जानाति**] जानता है, [**सः**] वह [**अन्य द्रव्ये**] अन्य द्रव्यमें [**न मुह्यति**] मोह को प्राप्त नहीं होता।

टीका:—जो, द्रव्यको निश्चित करनेवाला, स्वलक्षणभूत स्वरूपअस्तित्व कहा गया है वह वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव ही है; क्योंकि द्रव्यका स्वभाव अस्तित्व निष्पन्न (अस्तित्वका बना हुआ) है। द्रव्य-गुण-पर्याय रूपसे तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययरूपसे त्रयात्मक[2] भेद भूमिकामें आरूढ़ द्रव्यस्वभाव ज्ञात होता

१—अर्थ निश्चायक=द्रव्यका निश्चय करनेवाला; (द्रव्यका निर्णय करनेका साधन जो स्वरूपास्तित्व है वह स्वपरका भेद करनेमें साधनभूत है, इसप्रकार इस गाथामें समझाते हैं।) २—त्रयात्मक=तीनस्वरूप; तीनके समूहस्वरूप (द्रव्यका स्वभाव द्रव्य, गुण और पर्याय,—इसप्रकार तीन भेदोंवाला तथा ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय,—ऐसे तीन भेदोंवाला है।)

च त्रितयीं विकल्पभूमिकामधिरूढः परिज्ञायमानः परद्रव्ये मोहमपोह्य स्वपरविभागहेतुर्भवति ततः स्वरूपास्तित्वमेव स्वपरविभागसिद्धये प्रतिपदमवधार्यम् । तथाहि—यच्चेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं यश्चेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो यश्चेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिना चेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेन चेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वं यस्य नु स्वभावोऽहं स खल्वयमन्यः । यच्चाचेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं योऽचेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो योऽचेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिनाचेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेनाचेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वम् यस्य तु स्वभावः पुद्गलस्य स खल्वयमन्यः । नास्ति मे मोहोऽस्ति स्वपरवि-

---

हुआ, परद्रव्यके प्रतिके मोहको दूर करके स्व-परके विभागका हेतु होता है, इसलिये स्वरूपअस्तित्व ही स्व-परके विभागकी सिद्धिके लिये पद पद पर अवधारित करना (लक्ष्यमें लेना) चाहिये। वह इस प्रकार है:—

(१) चेतनत्वका अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा द्रव्य (२) चेतनाविशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा गुण, और (३) चेतनत्वका व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी पर्याय—यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप—अस्तित्व), तथा (१)पूर्व और उत्तर[1] व्यतिरेकको स्पर्श करनेवाले चेतनत्वरूपसे जो ध्रौव्य और (२-३) चेतनके उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूपसे जो उत्पाद और व्यय,—यह त्रयात्मक स्वरूप-अस्तित्व जिसका स्वभाव है ऐसा मैं वास्तवमें यह अन्य हूँ, (अर्थात् मैं पुद्गलसे ये भिन्न रहा ।) और (१) अचेतनत्वका अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा द्रव्य , (२) अचेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा गुण, और (३) अचेतनत्वका व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी पर्याय,—यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप - अस्तितत्व) तथा (१) पूर्व और उत्तर व्यतिरेकको स्पर्श करनेवाले अचेतनत्वरूपसे जो ध्रौव्य और (२-३) अचेतनके उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूपसे जो उत्पाद और व्यय,—यह त्रयात्मक स्वरूप-अस्तित्व जिस पुद्गलका स्वभाव है वह वास्तवमें (मुझसे) अन्य है । (इसलिये) मुझे मोह नहीं है; स्वपरका विभाग है ।

भावार्थ:—मनुष्य, देव इत्यादि अनेकद्रव्यात्मक पर्यायोंमें भी जीवका स्वरूप-अस्तित्व और प्रत्येक परमाणुका स्वरूपास्तित्व सर्वथा भिन्न भिन्न है । सूक्ष्मतासे देखने पर वहाँ जीव और पुद्गलका स्वरूपास्तित्व (अर्थात् अपने अपने द्रव्यगुणपर्याय और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय) स्पष्टतया भिन्न जाना जा सकता है । स्वपरका भेद करनेके लिये जीवको इस स्वरूपास्तित्वको पद पद पर लक्ष्यमें लेना योग्य है । यथाः—(यह जाननेमें आता हुवा) चेतन, द्रव्य-गुण-पर्याय और चेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है ऐसा मैं इस (पुद्गल) से भिन्न रहा; और यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य

१—पूर्व अर्थात् पहलेका, और उत्तर अर्थात् बादका । (चेतन पूर्व और उत्तरकी—दोनों पर्यायोंको स्पर्श करता है; इस अपेक्षासे ध्रौव्य है; बादकी अर्थात् वर्तमान पर्यायकी अपेक्षासे उत्पाद है और पहलेकी पर्यायकी अपेक्षासे व्यय है ।)

भागः ॥ १५४ ॥

अथात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय परद्रव्यसंयोगकारणस्वरूपमालोचयति—

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥ १५५ ॥

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शनं भणितः ।
सोऽपि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति ॥ १५५ ॥

आत्मनो हि परद्रव्यसंयोगकारणमुपयोगविशेषः उपयोगो हि तावदात्मनः स्वभावश्चैतन्यानुविधायिपरिणामत्वात् । स तु ज्ञानं दर्शनं च साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाच्चैतन्यस्य अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन । तत्र शुद्धो निरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः । स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ॥ १५५ ॥

उत्पाद व्यय जिसका स्वभाव है ऐसा पुद्गल मुझसे भिन्न रहा। इसलिये मुझे परके प्रति मोह नहीं है; स्व-परका भेद है ॥ १५४ ॥

अब, आत्माको अत्यन्त विभक्त करनेके लिये परद्रव्यके संयोगके कारणका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १५५

अन्वयार्थः—[**आत्मा उपयोगात्मा**] आत्मा उपयोगात्मक है; [**उपयोगः**] उपयोग [**ज्ञानदर्शनं भणितः**] ज्ञान-दर्शन कहा गया है; [**अपि**] और [**आत्मनः**] आत्माका [**सः उपयोगः**] वह उपयोग [**शुभः अशुभः वा**] शुभ अथवा अशुभ [**भवति**] होता है ।

टीका:—वास्तवमें आत्माका परद्रव्यके संयोगका कारण उपयोगविशेष[1] है । प्रथम तो उपयोग वास्तवमें आत्माका स्वभाव है, क्योंकि वह चैतन्यानुविधायी, (उपयोग चैतन्यका अनुसरण करके होने वाला) परिणाम है । और वह ज्ञान तथा दर्शन है, क्योंकि चैतन्य साकार[2] और निराकार[3]–उभयरूप है । अब इस उपयोगके दो भेद हैं,–शुद्ध और अशुद्ध । उसमेंसे शुद्ध निरुपराग (निर्विकार) है; और अशुद्ध सोपराग (सविकार) है । वह अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ—दो प्रकारका है, क्योंकि उपराग विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप दो प्रकारका है । (अर्थात् विकार मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप से दो प्रकारका है ।)

भावार्थ:—आत्मा उपयोगस्वरूप है । प्रथम तो उपयोगके दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध । और फिर अशुद्धोपयोगके दो भेद हैं, शुभ तथा अशुभ ॥ १५५ ॥

१—उपयोगविशेष= उपयोगका भेद, प्रकार या अमुक प्रकारका उपयोग । (अशुद्धोपयोग परद्रव्यके संयोगका कारण है; यह १५६ वीं गाथामें कहेंगे ।) २—साकार=आकार या भेदयुक्त; सविकल्प; विशेष । ३—निराकार=आकार रहित; भेदरहित; निर्विकल्प; सामान्य ।

अथात्र क उपयोगः परद्रव्यसंयोगकारणमित्यावेदयति—

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥ १५६ ॥

उपयोगो यदि हि शुभः पुण्यं जीवस्य संचयं याति।
अशुभो वा तथा पापं तयोरभावे न चयोऽस्ति ॥ १५६ ॥

उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः। पुण्यपापत्वेनोपात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणत्वेन निर्वर्तयति। यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खल्पयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते। स पुनरकारणमेव परद्रव्यसंयोगस्य ॥ १५६ ॥

अथ शुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥ १५७ ॥

अब यह कहते हैं कि इसमें कौनसा उपयोग परद्रव्यके संयोगका कारण है:—

गाथा १५६

अन्वयार्थः—[**उपयोगः**] उपयोग [**यदि हि**] यदि [**शुभः**] शुभ हो तो [**जीवस्य**] जीवके [**पुण्यं**] पुण्य [**संचयं याति**] संचयको प्राप्त होता है, [**तथा वा अशुभः**] और यदि अशुभ हो तो [**पापं**] पाप संचय होता है। [**तयोः अभावे**] उन दोनोंके अभावमें [**चयः नास्ति**] संचय नहीं होता।

टीका:—जीवका परद्रव्यके संयोगको कारण अशुद्ध उपयोग है। और वह विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपरागके कारण शुभ और अशुभरूपसे द्विविधताको प्राप्त होता हुआ, जो पुण्य और पापरूपसे द्विविधताको प्राप्त होता है ऐसा जो परद्रव्य उसके संयोगके कारणरूप काम करता है। (उपराग मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूपसे दो प्रकारका है, इसलिये अशुद्ध उपयोग भी शुभाशुभके भेदसे दो प्रकारका है। उसमेंसे शुभोपयोग पुण्यरूप परद्रव्यके संयोगका कारण होता है और अशुभोपयोग पापरूप परद्रव्यके संयोगका कारण होता है।) किन्तु जब दोनों प्रकारके अशुद्धोपयोगका अभाव किया जाता है तब वास्तवमें उपयोग शुद्ध ही रहता है; और वह परद्रव्यके संयोगका अकारण ही है। (अर्थात् शुद्धोपयोग परद्रव्यके संयोगका कारण नहीं है।) ॥ १५६ ॥

अब शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १५७

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**जिनेन्द्रान्**] जिनेन्द्रोंको [**जानाति**] जानता है,

यो जानाति जिनेन्द्रान् पश्यति सिद्धांस्तथैवानागारान्।
जीवेषु सानुकम्प उपयोगः स शुभस्तस्य ॥ १५७ ॥

विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीत शोभनोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोगः ॥ १५७ ॥

अथाशुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति—

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ १५८ ॥

विषयकषायावगाढो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्टियुतः।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभः ॥ १५८ ॥

विशिष्टोदयदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीताशोभनोपरा-

---

[**सिद्धान् तथैव अनागारान्**] सिद्धों तथा अनगारों (आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुओं) की [**पश्यति**] श्रद्धा करता है, [**जीवेषु सानुकम्पः**] और जीवोंके प्रति अनुकम्पायुक्त है, [**तस्य**] उसके [**सः**] वह [**शुभः उपयोगः**] शुभ उपयोग है।

टीका:—विशिष्ट क्षयोपशमदशामें रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलोंके अनुसार परिणतिमें लगा होनेसे शुभ उपराग[1]का ग्रहण करनेसे, जो (उपयोग) परमभट्टारक महादेवाधिदेव, परमेश्वर—अर्हंत, सिद्धकी और साधुकी श्रद्धा करनेमें तथा समस्त जीवसमूहकी अनुकम्पाका आचरण करनेमें प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है ॥ १५७ ॥

अब अशुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं :—

गाथा १५८

अन्वयार्थः—[**यस्य उपयोगः**] जिसका उपयोग [**विषयकषायावगाढः**] विषय-कषायमें अवगाढ (मग्न) है; [**दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्टियुतः**] कुश्रुति, कुविचार और कुसंगतिमें लगा हुआ है, [**उग्रः**] उग्र है तथा [**उन्मार्गपरः**] उन्मार्गमें लगा हुआ है, [**सः अशुभः**] उसका वह अशुभोपयोग है।

टीका:—विशिष्ट उदयदशामें रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलोंके अनुसार परिणतिमें लगा होनेसे अशुभरागको ग्रहण करनेसे, जो (उपयोग) परम भट्टारक, महा-

---

१—उपरागका अर्थ गाथा १२६ के टिप्पणमें देखें।

गत्वात्परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुभ्योऽन्यत्रोन्मार्गश्रद्धाने विषयकषायदुःश्रवण-दुराशयदुष्टसेवनोग्रताचरणे च प्रवृत्तोऽशुभोपयोगः ॥ १५८ ॥

अथ परद्रव्यसंयोगकारणविनाशमभ्यस्यति—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥ १५९ ॥

अशुभोपयोगरहितः शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये ।
भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि ॥ १५९ ॥

यो हि नामायं परद्रव्यसंयोगकारणत्वेनोपन्यस्तोऽशुद्ध उपयोगः स खलु मन्दतीव्रोदयदशाविश्रान्तपरद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वादेव प्रवर्तते न पुनरन्यस्मात् । ततोऽहमेपसर्वस्मिन्नेव परद्रव्ये मध्यस्थो भवामि । एवं भवंश्चाहं परद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वाशुद्धोपयोगेन निर्मुक्तो भूत्वा केवलस्वद्रव्यानुवृत्तिपरिग्रहात् प्रसिद्धशुद्धोपयोग उपयोगात्मनात्मन्येव नित्यं निश्चलमुपयुक्तस्तिष्ठामि । एष मे परद्रव्यसंयोगकारणविनाशाभ्यासः ॥ १५९ ॥

अथ शरीरादावपि परद्रव्ये माध्यस्थं प्रकटयति—

देवाधिदेव, परमेश्वर-अर्हंत सिद्ध और साधुको छोड़कर अन्य-उन्मार्गकी श्रद्धा करनेमें तथा विषय, कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रताका आचरण करनेमें प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है ॥१५८॥

अब, परद्रव्यके संयोगके कारण (अशुद्धोपयोग) के विनाशका अभ्यास बतलाते हैं :—

गाथा १५९

अन्वयार्थः—[**अन्य द्रव्ये**] अन्य द्रव्यमें [**मध्यस्थः**] मध्यस्थ [**भवन्**] होता हुआ [**अहम्**] मैं [**अशुभोपयोगरहितः**] अशुभोपयोग रहित होता हुआ, (तथा) [**शुभोपयुक्तः न**] शुभोपयुक्त न होता हुआ [**ज्ञानात्मकम्**] ज्ञानात्मक [**आत्मकं**] आत्माको [**ध्यायामि**] ध्याता हूं ।

टीका:—जो यह (१५६ वीं गाथामें) परद्रव्यके संयोगके कारणरूपमें कहागया अशुद्धोपयोग है वह वास्तवमें मन्द-तीव्र उदयदशामें रहनेवाले परद्रव्यानुसार परिणतिके आधीन होनेसे ही प्रवर्तित होता है, किन्तु अन्य कारणसे नहीं । इसलिये यह मैं समस्त परद्रव्यमें मध्यस्थ होऊं । और इसप्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्यानुसार परिणतिके आधीन न होनेसे शुभ अथवा अशुभ-अशुद्धोपयोगसे मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणतिको ग्रहण करनेसे जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है, ऐसे उपयोगरूप निज-स्वरूपके द्वारा आत्मामें ही सदा निश्चलतया उपयुक्त रहता हूं । यह मेरा परद्रव्यके संयोगके कारणके विनाशका अभ्यास है ॥ १५९ ॥

अब, शरीरादि परद्रव्यके प्रति भी मध्यस्थता प्रगट करते हैं:—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ १६० ॥

नाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारणं तेषाम्।
कर्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम् ॥ १६० ॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति। सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। तथाहि—न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि, तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति। ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवंति भवन्ति। ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतन द्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकप्रयो-

---

गाथा १६०

अन्वयार्थः—[**अहं न देहः**] मैं न देह हूँ, [**न मनः**] न मन हूँ, [**च एव**] और [**न वाणी**] न वाणी हूँ; [**तेषां कारणं न**] उनका कारण नहीं हूँ [**कर्ता न**] कर्ता नहीं हूँ, [**कारयिता न**] करानेवाला नहीं हूँ; [**कर्तृणां अनुमन्ता न एव**] (और) कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

टीका:—मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यके रूपमें समझता हूं, इसलिये मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूं। यथा:—

वास्तवमें मैं शरीर, वाणी और मनके स्वरूपका आधारभूत अचेतन द्रव्य नहीं हूं; मैं स्वरूपाधार (हुवे) विना भी वे वास्तवमें अपने स्वरूपको धारण करते हैं। इसलिये मैं शरीर, वाणी और मनका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूं।

और मैं शरीर, वाणी तथा मनका कारण अचेतन द्रव्य नहीं हूँ। मैं कारण (हुवे) विना भी वे वास्तवमें कारणवान् हैं। इसलिये उनके कारणत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूं।

और मैं स्वतंत्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मनका कर्ता-अचेतन द्रव्य नहीं हूं मैं कर्ता (हुवे) विना भी वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये उनके कर्तृत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूं।

और मैं स्वतन्त्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक (कर्ता) जो अचेतन द्रव्य है उसका प्रयोजक नहीं हूँ। मैं कारक प्रयोजक विना भी (अर्थात् मैं उनके कर्ताका प्रयोजक उनके कराने वाला हुये विना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं। इसलिये यह मैं उनके कर्ताके प्रयोजकत्वका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूं।

जकमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः ॥ १६० ॥

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ १६१ ॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः ।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥ १६१ ॥

शरीरं च वाक् च मनश्च त्रीण्यपि परद्रव्यं पुद्गलद्रव्यात्मकत्वात् । पुद्गलद्रव्यत्वं तु तेषां पुद्गलद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितत्वात् । तथाविधपुद्गलद्रव्यं त्वनेकपरमाणुद्रव्याणामेकपिण्डपर्यायेण परिणामः । अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथंचिदेकत्वेनावभासनात् ॥ १६१ ॥

अथात्मनः परद्रव्यत्वाभावं परद्रव्यकर्तृत्वाभावं च साधयति—

और मैं स्वतन्त्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मनका कारक जो अचेतन द्रव्य है, उसका अनुमोदक नहीं हूं । मैं कारक-अनुमोदक विना भी (उनके कर्ताका अनुमोदक हुये विना भी) वे वास्तवमें किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्ताके अनुमोदकत्वका पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूं ।

अब शरीर, वाणी और मनका परद्रव्यत्व निश्चित करते हैं:—

गाथा १६१

अन्वयार्थः—[**देहः च मनः वाणी**] देह, मन और वाणी [**पुद्गल द्रव्यात्मकाः**] पुद्गल द्रव्यात्मक [**इति निर्दिष्टाः**] हैं, ऐसा (वीतरागदेवने) कहा है [**अपि पुनः**] और [**पुद्गल द्रव्यं**] वे पुद्गल द्रव्य [**परमाणुद्रव्याणां पिण्डः**] परमाणुद्रव्योंका पिण्ड है ।

टीकाः—शरीर वाणी और मन तीनों ही परद्रव्य हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यात्मक हैं । उनके पुद्गलद्रव्यत्व है, कि वे पुद्गल द्रव्यके स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वमें निश्चित हैं । उस प्रकारका पुद्गलद्रव्य अनेक परमाणुद्रव्योंका एक पिण्ड पर्यायरूपसे परिणाम है, क्योंकि अनेक परमाणुद्रव्योंके स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व अनेक होने पर भी कथंचित् (स्निग्धत्व-रूक्षत्वकृत बंध परिणामकी अपेक्षासे एकत्व-रूप अवभासित होते हैं ॥ १६१ ॥

अब आत्माके परद्रव्यत्वका अभाव और परद्रव्यके कर्तृत्वका अभाव सिद्ध करते हैं:—

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं ।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥ १६२ ॥

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गलाः कृताः पिण्डम् ।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य ॥ १६२ ॥

यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं पुद्गलात्मकमन्तर्नीतवाङ्मनोद्वैतं शरीरं नाम परद्रव्यं न तावदहमस्मि, ममापुद्गलमयस्य पुद्गलात्मकशरीरत्वविरोधात् । न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजकद्वारेण कर्त्रनुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तुरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात् ॥ १६२ ॥

अथ कथं परमाणुद्रव्याणां पिण्डपर्यायपरिणतिरिति संदेहमपनुदति—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो ।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥ १६३ ॥

अप्रदेशः परमाणुः प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः ।
स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥ १६३ ॥

गाथा १६२

अन्वयार्थः—[**अहं पुद्गलमयः न**] मैं पुद्गलमय नहीं हूँ, और [**ते पुद्गलाः**] वे पुद्गल [**मया**] मेरे द्वारा [**पिण्डं न कृताः**] पिण्डरूप नहीं किये गये हैं; [**तस्मात् हि**] इसलिये [**अहं न देहः**] मैं देह नहीं हूँ, [**वा**] तथा [**तस्य देहस्य कर्ता**] उस देहका कर्ता नहीं हूँ ।

टीका:—प्रथम तो जो यह प्रकरणसे निर्धारित पुद्गलात्मक शरीर नामक परद्रव्य है,—जिसके भीतर वाणी और मनका समावेश होजाता है;-वह मैं नहीं हूँ; क्योंकि मुझ अपुद्गलात्मकका पुद्गलात्मक शरीररूप होनेमें विरोध है । और इसीप्रकार उस (शरीर) के कारण-द्वारा, कर्ता द्वारा, कर्ताके प्रयोजक द्वारा या कर्ताके अनुमोदक द्वारा शरीरका कर्ता मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं अनेक परमाणु द्रव्योंके एकपिण्ड पर्यायरूप परिणामका अकर्ता हूँ, (इसलिये) मेरे अनेक परमाणु द्रव्योंके एकपिण्ड पर्यायरूप परिणामात्मक शरीरका कर्ता होनेमें सर्वथा विरोध है ॥ १६२ ॥

अब इस संदेहको दूर करते हैं कि "परमाणुद्रव्योंकी पिण्ड पर्यायरूप परिणति कैसे होती है?" :—

गाथा १६३

अन्वयार्थः—[**परमाणुः**] परमाणु [**यः अप्रदेशः**] जो कि अप्रदेश है,

परमाणुर्हि द्व्यादिप्रदेशानामभावादप्रदेशः, एकप्रदेशसद्भावात्प्रदेशमात्रः, स्वयमनेकपरमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च । यतश्चतुःस्पर्शपञ्चरसद्विगन्धपञ्चवर्णानामविरोधेन सद्भावात् स्निग्धो वा रूक्षो वा स्यात् । तत एव तस्य पिण्डपर्यायपरिणतिरूपा द्विप्रदेशादित्वानुभूतिः । अथैवं स्निग्धरूक्षत्वं पिण्डत्वसाधनम् ॥ १६३ ॥

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वं परमाणोरित्यावेदयति—

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥ १६४ ॥

एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वम् ।
परिणामाद्भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति ॥ १६४ ॥

[प्रदेशमात्रः] प्रदेशमात्र है, **[च]** और **[स्वयं अशब्दः]** स्वयं अशब्द है, **[स्निग्धः वा रूक्षः वा]** वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ **[द्विप्रदेशादित्वम् अनुभवति]** द्विप्रदेशादित्वका अनुभव करता है ।

टीका:—वास्तवमें परमाणु द्विआदि (दो-तीन आदि) प्रदेशोंके अभावके कारण अप्रदेश है, एक प्रदेशके सद्भावके कारण प्रदेशमात्र है, और स्वयं अनेक परमाणु द्रव्यात्मक शब्दपर्यायकी प्रगटता का असंभव होनेसे अशब्द है । (वह परमाणु) अविरोधपूर्वक चार स्पर्श, पांच रस, दो गंध और पांच वर्णोंके सद्भावके कारण स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है, इसीलिये उसे पिण्ड पर्याय-परिणतिरूप[1] द्विप्रदेशादित्वकी अनुभूति होती है । इसप्रकार स्निग्धरूक्षत्व पिण्डत्वका कारण है ॥ १६३ ॥

अब यह बतलाते हैं कि परमाणुके वह स्निग्ध रूक्षत्व किसप्रकारका होता है:—

गाथा १६४

अन्वयार्थः—**[अणोः]** परमाणुके **[परिणामात्]** परिणमनके कारण **[एकादि]** एक (अविभागी प्रतिच्छेद) से लेकर **[एकोत्तरं]** एक-एक बढ़ते हुये **[यावत्]** जब तक **[अनन्तत्वम् अनुभवति]** अनन्तत्वको (अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदत्वको) प्राप्त हो, तब तक **[स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं]** स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व होता है; ऐसा **[भणितम्]** (जिनेन्द्रदेवने) कहा है ।

१—एक परमाणुकी दूसरे एक परमाणुके साथ पिण्डरूप परिणति द्विप्रदेशित्वकी अनुभूति है; एक परमाणुकी अन्य दो परमाणुओंके साथ पिण्डरूप परिणति त्रिप्रदेशित्वका अनुभव है । इसप्रकार परमाणु अन्य परमाणुओंके साथ पिण्डरूप परिणमित होनेपर अनेक प्रदेशित्वका अनुभव करता है ।

परमाणोर्हि तावदस्ति परिणामः तस्य वस्तुस्वभावत्वेनानतिक्रमात्। ततस्तु परिणामादुपात्तकादाचित्कवैचित्र्यं चित्रगुणयोगित्वात्परमाणोरेकाद्येकोत्तरानन्तावसानाविभागपरिच्छेदव्यापि स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं वा भवति ॥ १६४ ॥

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वात्पिण्डत्वमित्यावेदयति—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥ १६५ ॥

स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामाः समा वा विषमा वा।
समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीनाः ॥ १६५ ॥

समतो द्व्यधिकगुणाद्धि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्युत्सर्गः, स्निग्धरूक्षद्व्यधिकगुणत्वस्य हि परिणामकत्वेन बन्धसाधनत्वात्। न खल्वेकगुणात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्यपवादः एकगुण-

---

टीका:—प्रथमतो परमाणुके परिणमन होता है, क्योंकि वह वस्तुका स्वभाव होनेसे उलंघन नहीं किया जासकता। और उस परिणामनके कारण जो क्षणिक विचित्रता धारण करता है ऐसा, एकसे लेकर एक-एक बढ़ते हुये अनन्त अविभागीप्रतिच्छेदों तक व्याप्त होनेवाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व परमाणुके होता है, क्योंकि परमाणु अनेक प्रकारके गुणोंवाला है।

भावार्थ:—परमाणु परिणमन वाला है, इसलिये उसके स्निग्धत्व और रूक्षत्व एक अविभागी-प्रतिच्छेदसे लेकर अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों तक तर-तमताको प्राप्त होते हैं।

अब यह बतलाते हैं कि कैसे स्निग्धत्व-रूक्षत्वसे पिण्डता होती है:—

गाथा १६५

अन्वयार्थ:—[**अणुपरिणामाः**] परमाणु-परिणाम [**स्निग्धाः वा रूक्षाः वा**] स्निग्ध हों या रूक्ष हों [**समाः वा विषमाः वा**] सम (अंशवाले) हों, या विषम (अंशवाले) हों [**यदि समतः द्व्यधिकाः**] यदि समानसे दो अधिक अंश वाले हों तो [**बध्यन्ते हि**] बंधते हैं, [**आदि परिहीनाः**] जघन्यांश वाले नहीं बंधते।

टीका:—समानसे दो गुण (अंश) अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध होता है, यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है; क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्वकी द्विगुणाधिकताका होना परिणामक (परिणमन कराने वाला) है, इसलिये बंधका कारण है।

१—किसी गुणमें (अर्थात् गुणकी पर्यायमें) अंशकल्पना करनेपर, उसका जो छोटेसे छोटा (निरंश) अंश होता है उसे उस गुणका (अर्थात् गुणकी पर्यायका) अविभागप्रतिच्छेद कहा जाता है (बकरीसे गायके दूधमें और गायसे भैंसके दूधमें स्निग्धताके अविभागीप्रतिच्छेद अधिक होते हैं। धूलसे राखमें और राखसे बालूमें रूक्षताके अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं।)

स्निग्धरूक्षत्वस्य हि परिणम्यपरिणामकत्वाभावेन बन्धस्यासाधनत्वात् ॥ १६५ ॥

अथ परमाणूनां पिण्डत्वस्य यथोदितहेतुत्वमवधारयति—

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु वज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥ १६६ ॥

स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बन्धमनुभवति ।
रूक्षेण वा त्रिगुणितोऽणुर्बध्यते पञ्चगुणयुक्तः ॥ १६६ ॥

यथोदितहेतुकमेव परमाणूनां पिण्डत्वमवधार्यं द्विचतुर्गुणयोस्त्रिपञ्चगुणयोश्च द्वयोः स्निग्धयोः द्वयो रूक्षयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा परमाण्वोर्बन्धस्य प्रसिद्धेः । उक्तं च "णिद्धा

यदि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध नहीं होता, यह अपवाद है; क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्वके परिणम्य[1] परिणामकताका अभाव होनेसे बंधके कारणत्वका अभाव है ॥१६५ ॥

अब यह निश्चित करते हैं कि परमाणुओंके पिण्डत्वमें यथोक्त (उपरोक्त) हेतु है:--

गाथा १६६

अन्वयार्थः—[स्निग्धत्वेन द्विगुणः] स्निग्धरूपसे दो अंशवाला परमाणु **[चतुर्गुण-स्निग्धेन]** चार अंश वाले स्निग्ध (अथवा रूक्ष) परमाणुके साथ **[बंधं अनुभवति]** बंधको अनुभव करता (प्राप्त होता) है । **[वा]** अथवा **[रूक्षेण त्रिगुणितः अणुः]** रूक्षरूपसे तीन अंशवाला परमाणु **[पंचगुणयुक्तः]** पांच अंशवालेके साथ युक्त होता हुआ **[बध्यते]** बंधता है ।

टीका:--यथोक्त हेतुसे ही परमाणुओंके पिण्डत्व होता है,-यह निश्चित करना चाहिये; क्योंकि दो और चार गुणवाले तथा तीन और पांच गुणवाले दो स्निग्ध परमाणुओंके अथवा दो रूक्ष परमाणुओंके अथवा दो स्निग्ध-रूक्षपरमाणुओंके (-एक स्निग्ध और एक रूक्ष परमाणुके) बंधकी प्रसिद्धि है । कहा भी है कि:--

"णिद्धा णिद्धेण वज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला ।
णिद्धलुक्खा य वज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥"

१—परिणम्य=परिणमन करने योग्य । [दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश रूक्षता वाले परमाणुके साथ बंधकर स्कंध बननेपर, दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश रूक्षतारूप परिणमित होजाता है; अथवा दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश स्निग्धतावाले परमाणुके साथ बंधकर स्कंध बनने पर, दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश स्निग्धतारूप परिणमित होजाता है; इसलिये कम अंशवाला परमाणु परिणम्य है और दो अधिक अंशवाला परमाणु परिणामक है । एक अंश स्निग्धता या रूक्षता वाला परमाणु (सामान्य नियमानुसार) परिणामक तो है ही नहीं, किन्तु जघन्यभावमें वर्तित होनेसे परिणम्य भी नहीं है । इसप्रकार जघन्यभाव बंधका कारण नहीं है ।]

णिद्धेण वज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला। णिद्धलुक्खा य वज्झंति रूवारूवी य पोग्गला॥"
"णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण। णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥" ॥ १६६ ॥

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥"

[अर्थः—पुद्गल 'रूपी' और 'अरूपी'[1] होते हैं। उनमेंसे स्निग्ध पुद्गल स्निग्धके साथ बंधते हैं, रूक्ष पुद्गल रूक्षके साथ बंधते हैं। स्निग्ध और रूक्ष भी बंधते हैं।

जघन्यके अतिरिक्त सम अंशवाला हो, या विषम अंशवाला हो, स्निग्धका दो अधिक अंशवाले स्निग्ध परमाणुके साथ, रूक्षका दो अधिक अंशवाले रूक्ष परमाणुके साथ, और स्निग्धका (दो अधिक अंशवाले) रूक्ष परमाणुके साथ बंध होता है।]

भावार्थः—दो अंशोंसे लेकर अनन्त अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु उससे दो अधिक अंश स्निग्धता या रूक्षतावाले परमाणुके साथ बंधकर स्कंध बनता है। जैसेः—२ अंश स्निग्धतावाला परमाणु ४ अंश स्निग्धतावाले परमाणुके साथ बंधता है; ९१ अंश स्निग्धतावाला परमाणु ९३ अंश रूक्षतावाले परमाणुके साथ बंधता है; ५३३ अंश रूक्षतावाला परमाणु ५३५ अंश रूक्षतावाले परमाणुके साथ बंधता है; ७००६ अंश रूक्षतावाला परमाणु ७००८ अंश स्निग्धतावाले परमाणुके साथ बंधता है। इन उदाहरणोंके अनुसार दोसे लेकर अनन्त (अविभागीप्रतिच्छेदों) अंशों तक समझ लेना चाहिये।

मात्र एक अंशवाले परमाणुमें जघन्य भावके कारण बंधकी योग्यता नहीं है, इसलिये एक अंश वाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु तीन अंशवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुके साथ भी नहीं बंधता।

इसप्रकार, (एक अंशवालेके अतिरिक्त) दो परमाणुओंके बीच यदि दो अंशोंका अंतर हो तब ही वे बंधते हैं; दो से अधिक या कम अंशोंका अंतर हो तो बंध नहीं होता। जैसेः—पांच अंश स्निग्धता या रूक्षता वाला परमाणु सात अंशोंवाले परमाणुके साथ बंधता है; परन्तु पांच अंशोंवाला परमाणु आठ या छह अंशोंवाले (अथवा पांच अंशोंवाले) परमाणुके साथ नहीं बंधता॥ १६३ ॥

१—किसी एक परमाणुकी अपेक्षासे विसदृशजातिका समान अंशोंवाला दूसरा परमाणु 'रूपी' कहलाता है, और शेष सब परमाणु उसकी अपेक्षा से 'अरूपी' कहलाते हैं। जैसे—पांच अंश स्निग्धतावाले परमाणुको पांच अंश रूक्षतावाला दूसरा परमाणु 'रूपी' है और शेष सब परमाणु उसके लिये 'अरूपी' हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि—विसदृशजातिके समान अंशवाले परमाणु परस्पर 'रूपी' हैं; और सदृशजातिके अथवा असमान अंशवाले परमाणु परस्पर 'अरूपी' हैं।

अथात्मनः पुद्गलपिण्डकर्तृत्वाभावमवधारयति—

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥ १६७ ॥

द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः सूक्ष्मा वा बादराः ससंस्थानाः।
पृथिवीजलतेजोवायवः स्वकपरिणामैर्जायन्ते ॥ १६७ ॥

एवममी समुपजायमाना द्विप्रदेशादयः स्कन्धा विशिष्टावगाहनशक्तिवशादुपात्तसौक्ष्म्यस्थौल्यविशेषा विशिष्टाकारधारणशक्तिवशाद्गृहीतविचित्रसंस्थानाः सन्तो यथास्वं स्पर्शादिचतुष्कस्याविर्भावतिरोभावस्वशक्तिवशमासाद्य पृथिव्यप्तेजोवायवः स्वपरिणामैरेव जायन्ते। अतोऽवधार्यते द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तपुद्गलानां न पिण्डकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ १६७ ॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानेतृत्वाभावमवधारयति—

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥ १६८ ॥

अब, आत्माके, पुद्गलोंके पिण्डके कर्तृत्वका अभाव निश्चित करते हैं:—

गाथा १६७

अन्वयार्थः—[**द्विप्रदेशादयः स्कंधाः**] द्विप्रदेशादिक (दो से लेकर अनंतप्रदेश वाले) स्कंध [**सूक्ष्माः वा बादराः**] जो कि सूक्ष्म अथवा बादर होते हैं, और [**ससंस्थानाः**] संस्थानों (आकारों) सहित होते हैं, वे [**पृथिवीजलतेजोवायवः**] पृथ्वी, जल, तेज और वायुरूप [**स्वकपरिणामैः जायन्ते**] अपने परिणामोंसे होते हैं।

टीका:—इस (पूर्वोक्त) प्रकारसे यह उत्पन्न होनेवाले द्विप्रदेशादिक स्कंध—जिनने विशिष्ट अवगाहनकी शक्तिके वश सूक्ष्मता और स्थूलतारूप भेद ग्रहण किये हैं, और जिनने विशिष्ट आकार धारण करनेकी शक्तिके वश होकर विचित्र संस्थान ग्रहण किये हैं वे—अपनी योग्यतानुसार स्पर्शादिचतुष्क[1]के आविर्भाव और तिरोभावकी स्वशक्तिके वश होकर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप अपने परिणामोंसे ही होते हैं। इससे निश्चित होता है कि द्वि-अणुकादि अनन्तानन्त पुद्गलोंका पिण्डकर्ता आत्मा नहीं है ॥ १६७ ॥

अब यह निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्डका लानेवाला नहीं है:—

गाथा १६८

अन्वयार्थः—[**लोकः**] लोक [**सर्वतः**] सर्वतः [**सूक्ष्मैः बादरैः**] सूक्ष्म तथा

१—स्पर्शादिचतुष्क=स्पर्श, रस, गंध और वर्ण। (स्पर्शादिकी प्रगटता और अप्रगटता पुद्गलकी शक्ति है।)

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः ।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यैः ॥ १६८ ॥

यतो हि सूक्ष्मत्वपरिणतैर्बादरपरिणतैश्चानतिसूक्ष्मत्वस्थूलत्वात् कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिभिरतिसूक्ष्मस्थूलतया तदयोगिभिश्चावगाहविशिष्टत्वेन परस्परमबाधमानैः स्वयमेव सर्वत एव पुद्गलकायैर्गाढं निचितो लोकः । ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानामानेता पुरुषोऽस्ति ॥ १६८ ॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्तृत्वाभावमवधारयति—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥ १६९ ॥

कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य ।
गच्छन्ति कर्मभावं न हि ते जीवेन परिणमिताः ॥ १६९ ॥

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढजीवपरिणाममात्रं बहिरङ्गसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितार-

---

बादर [**च**] और [**अप्रायोग्यैः योग्यैः**] कर्मत्वके अयोग्य तथा योग्य [**पुद्गलकायैः**] पुद्गल स्कंधोंके द्वारा [**अवगाढगाढनिचितः**] (विशिष्ट प्रकारसे) अवगाहित होकर गाढ़ भरा हुआ है ।

टीका:—सूक्ष्मतया परिणत तथा बादररूप परिणत, अतिसूक्ष्म अथवा अतिस्थूल न होनेसे कर्मरूप परिणत होनेकी शक्तिवाले, तथा अति सूक्ष्म अथवा अति स्थूल होनेसे कर्मरूप परिणत होनेकी शक्तिसे रहित—पुद्गल स्कंधोंके द्वारा, अवगाहकी विशिष्टताके कारण परस्पर बाधक हुये विना स्वयमेव सर्वतः लोक गाढ़ भरा हुआ है । इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डोंका लानेवाला आत्मा नहीं है ।

भावार्थ:—इस लोकमें सर्वत्र जीव हैं और कर्मबंधके योग्य पुद्गल वर्गणा भी सर्वत्र है। जीवके जैसे परिणाम होते हैं उसीप्रकारका कर्मबंध होता है । ऐसा नहीं है कि आत्मा किसी बाहरके स्थानसे कर्मयोग्य पुद्गल लाकर बंध करता है ॥ १६८ ॥

अब यह निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्डोंको कर्मरूप नहीं करता:—

गाथा १६९

अन्वयार्थ:—[**कर्मत्वप्रायोग्याः स्कंधाः**] कर्मत्वके योग्य स्कंध [**जीवस्यपरिणतिं प्राप्य**] जीवकी परिणतिको प्राप्त करके [**कर्मभावं गच्छन्ति**] कर्मभावको प्राप्त होते हैं; [**न हि ते जीवेन परिणमिताः**] जीव उनको परिणमाता नहीं है ।

टीका:— कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्तिवाले पुद्गल स्कंध, तुल्य (समान) क्षेत्रावगाह जीवके परिणाममात्रका—जो कि बहिरंग साधन है, उसका—आश्रय लेकर, जीव उनको परिणमाने

मन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ १६९ ॥

अथात्मनः कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्तृत्वाभावमवधारयति—

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ १७० ॥

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकायाः पुनरपि जीवस्य।
संजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ॥ १७० ॥

ये ये नामामी यस्य जीवस्य परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य पुद्गलकायाः स्वयमेव कर्मत्वेन परिणमन्ति, अथ ते ते तस्य जीवस्यानादिसंतानप्रवृत्तिशरीरान्तरसंक्रान्तिमाश्रित्य स्वयमेव च शरीराणि जायन्ते। अतोऽवधार्यते न कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ १७० ॥

वाला नहीं होने पर भी, स्वयमेव कर्मभावसे परिणमित होते हैं। इससे निश्चित होता है कि पुद्गल पिण्डों को कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है।

भावार्थः—समान क्षेत्रमें रहनेवाले जीवके विकारी परिणामको निमित्तमात्र करके कार्मणवर्गणायें स्वयमेव अपनी अन्तरंगशक्तिसे ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित होजाती हैं; जीव उन्हें कर्मरूप परिणमित नहीं करता ॥ १६९ ॥

अब आत्माके कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीरके कर्तृत्वका अभाव निश्चित करते हैं (अर्थात् यह निश्चित करते हैं कि कर्मरूपपरिणतपुद्गलद्रव्यस्वरूप शरीरका कर्ता आत्मा नहीं है):—

गाथा १७०

अन्वयार्थः—[**कर्मत्वगताः**] कर्मरूप परिणत [**ते ते**] वे वे [**पुद्गलकायाः**] पुद्गल पिंड [**देहान्तर संक्रमं प्राप्य**] देहान्तररूप परिवर्तनको प्राप्त करके [**पुनः अपि**] पुनः पुनः [**जीवस्य**] जीवके [**देहाः**] शरीर [**संजायन्ते**] होते हैं।

टीकाः—जिस जीवके परिणामको निमित्तमात्र करके जो जो यह पुद्गल पिण्ड स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं, वे जीवके अनादिसंततिरूप प्रवर्तमान देहान्तर (भवांतर) रूप परिवर्तनका आश्रय लेकर (वे वे पुद्गलपिण्ड) स्वयमेव शरीर (शरीररूप, शरीरके होनेमें निमित्तरूप) बनते हैं। इससे निश्चित होता है कि कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीरका कर्ता आत्मा नहीं है।

भावार्थः—जीवके परिणामको निमित्तमात्र करके जो पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं। वे पुद्गल ही अन्य भवमें शरीरके बननेमें निमित्तभूत होते हैं, और नोकर्मपुद्गल स्वयमेव शरीररूप परिणमित होते हैं इसलिये शरीरका कर्ता आत्मा नहीं है ॥ १७० ॥

अथात्मनः शरीरत्वाभावमवधारयति—

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥ १७१ ॥

औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तैजसः ।
आहारकः कार्मणः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वे ॥ १७१ ॥

यतो ह्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि सर्वाण्यपि पुद्गलद्रव्यात्मकानि। ततोऽवधार्यते न शरीरं पुरुषोऽस्ति ॥ १७१ ॥

अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्यावेदयति—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ १७२ ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥ १७२ ॥

अब आत्माके शरीरत्वका अभाव निश्चित करते हैं :—

गाथा १७१

अन्वयार्थः—[औदारिकः च देहः] औदारिक शरीर, **[वैक्रियिकः देहः]** वैक्रियिक शरीर, **[तैजसः]** तैजस शरीर, **[आहारकः]** आहारक शरीर **[च]** और **[कार्मणः]** कार्मण शरीर–**[सर्वे]** सब **[पुद्गलद्रव्यात्मकाः]** पुद्गलद्रव्यात्मक है ।

टीकाः—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण–सभी शरीर पुद्गलद्रव्यात्मक हैं। इससे निश्चित होता है कि आत्मा शरीर नहीं है ॥ १७१ ॥

तब फिर जीवका, शरीरादि सर्वपरद्रव्योंसे विभागका साधनभूत, असाधारण स्वलक्षण क्या है, सो कहते हैं :—

गाथा १७२

अन्वयार्थः—[जीवम्] जीवको **[अरसम्]** रसरहित, **[अरूपम्]** रूप रहित, **[अगंधम्]** गन्धरहित, **[अव्यक्तम्]** अव्यक्त, **[चेतनागुणम्]** चेतनागुणयुक्त, **[अशब्दम्]** शब्दरहित, **[अलिंगग्रहणम्]** लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य, और **[अनिर्दिष्टसंस्थानम्]** जिसका कोई संस्थान नहीं कहा गया है, ऐसा **[जानीहि]** जानो ।

आत्मनो हि रसरूपगन्धगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्दपर्यायाभावस्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिङ्गग्राह्यत्वात्सर्वसंस्थानाभावस्वभावत्वाच्चपुद्गलद्रव्यविभागसाधनमरसत्वमरूपत्वमगन्धत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिङ्गग्राह्यत्वमसंस्थानत्वं चास्ति। सकलपुद्गलापुद्गलाजीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति। तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्यमात्राश्रितत्वेन स्वलक्षणतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति। अलिङ्गग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये। तथाहि—न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः। न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राह्यतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वस्य। न लिंगादिन्द्रियगम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषयत्वस्य। न लिंगादेव परैः ग्रहणं यस्येत्यनुमेयमात्रत्वाभावस्य। न लिंगादेव परेषां ग्रहणं यस्येत्यनुमातृमात्रत्वा-

---

टीकाः—आत्मा (१) रसगुणके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, (२) रूपगुणके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, (३) गंधगुणके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, (४) स्पर्शगुणरूप व्यक्तताके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, (५) शब्दपर्यायके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, तथा (६) इन सबके कारण (अर्थात् रस-रूप-गंध इत्यादिके अभावरूप स्वभावके कारण) लिंगके द्वारा अग्राह्य होनेसे, और (७) सर्व संस्थानोंके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे, आत्माको पुद्गलद्रव्यसे विभागका साधनभूत (१) अरसत्व, (२) अरूपत्व, (३) अगंधत्व, (४) अव्यक्तता, (५) अशब्दत्व, (६) अलिंगग्राह्यत्व, और (७) असंस्थानत्व है। पुद्गल तथा अपुद्गल—समस्त अजीव द्रव्योंसे विभागका साधन तो चेतनागुणमयत्व है; और वही, मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित होनेसे स्वलक्षणत्वको धारण करता हुआ, आत्माका शेष द्रव्योंसे विभाग (भेद) सिद्ध करता है।

जहां 'अलिंगग्राह्य' कहना है वहां जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह बहुतसे अर्थोंकी प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करनेके लिये है। वह इसप्रकार है:— (१) ग्राहक (ज्ञायक), जिसका लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (२) ग्राह्य (ज्ञेय), जिसका लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षका विषय नहीं है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (३) जैसे धुंयेंसे अग्निका ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियोंसे जानने योग्य चिह्न) द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमानका विषय नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (४) दूसरोंके द्वारा—मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमेय मात्र (केवल अनुमानसे ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (५) जिसके लिंगसे ही परका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा अनुमाता मात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है, ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (६) जिसका लिंगके

भावस्य। न लिंगात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य। न लिंगेनोपयोगाख्यलक्षणेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बनज्ञानाभावस्य। न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरणं यस्येत्यनाहार्यज्ञानत्वस्य। न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं यस्येत्याहार्यज्ञानत्वस्य। न लिंगे उपयोगाख्यलक्षणे ग्रहणं सूर्य इवोपरागो यस्येति शुद्धोपयोग-स्वभावस्य। न लिंगादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादानं यस्येति द्रव्यकर्मासंपृक्तत्वस्य। न लिंगेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य। न लिंगात्मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्ग्रहणं जीवस्य धारणं यस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य। न लिंगस्य मेहनाकारस्य ग्रहणं यस्येति लौकिकसाधनमात्रत्वाभावस्य। न लिंगेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्धसाधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य। न लिंगानां स्त्रीपुन्नपुंसक-

---

द्वारा नहीं किन्तु स्वभावके द्वारा ग्रहण होता है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (७) जिसका लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंका आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्माके बाह्य पदार्थोंका आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है', ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (८) जो लिंगको अर्थात् उपयोग नामक लक्षणको ग्रहण नहीं करता, अर्थात् स्वयं (कहीं बाहरसे) नहीं लाता, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा जो कहींसे नहीं लाया जाता ऐसे ज्ञानवाला है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (९) लिंगका अर्थात् उपयोगनामक लक्षणका ग्रहण अर्थात् परसे हरण नहीं हो सकता, सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्माका ज्ञान हरण नहीं किया जा सकता', ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१०) जिसे लिंगमें अर्थात् उपयोगनामक लक्षणमें ग्रहण अर्थात् सूर्यकी भांति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोग स्वभावी है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (११) लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्मका ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्मसे असंयुक्त (असंबद्ध) है', ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१२) जिसे लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयोंका उपभोग नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा विषयोंका उपभोक्ता नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१३) लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षणके द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्वको धारण कर रखना जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा शुक्र और रजके अनुसार होनेवाला नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१४) लिंगका अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादिकी इन्द्रियका आकार) का ग्रहण जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है, ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१५) लिंगके द्वारा अर्थात् अमेहनाकारके द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोकमें व्यापकत्व नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पाखण्डियोंके प्रसिद्ध साधनरूप आकार वाला—लोक व्याप्तिवाला नहीं है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१६) जिसके लिंगोंका,

वेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुन्नपुंसकद्रव्यभावाभावस्य। न लिंगानां धर्मध्वजानां ग्रहणं यस्येति बहिरङ्गयतिलिंगाभावस्य। न लिंगंगुणो ग्रहणमर्थाववोधो यस्येति गुणविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य। न लिंगं पर्यायो ग्रहणमर्थाववोधविशेषो यस्येति पर्यायविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य। न लिंगं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थाववोधसामान्यं यस्येति द्रव्यानालीढशुद्धपर्यायत्वस्य ॥ १७२ ॥

अथ कथममूर्तस्यात्मनः स्निग्धरूक्षत्वाभावाद्वन्धो भवतीति पूर्वपक्षयति—

मुत्तो रूवादिगुणो वज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा वज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥ १७३ ॥

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म ॥ १७३ ॥

मूर्तयोर्हि तावत्पुद्गलयो रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषादन्योन्य-

---

अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदोंका ग्रहण नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्यसे तथा भावसे स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है', इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (१७) लिंगोंका अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्माके बहिरंग यतिलिंगोंका अभाव है' इस अर्थकी प्राप्ति होती है। (१८) लिंग अर्थात् गुणरूप ग्रहण अर्थात् अर्थाववोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा गुण-विशेषसे आलिंगित न होने वाला शुद्ध द्रव्य है', ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (१९) लिंग अर्थात् पर्यायरूप ग्रहण, अर्थात् अर्थाववोध विशेष जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा पर्याय विशेषसे आलिंगित न होनेवाला शुद्ध द्रव्य है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है। (२०) लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञानका कारणरूप ग्रहण अर्थात् अर्थाववोध सामान्य जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा द्रव्यसे नहीं आलिंगित ऐसो शुद्ध पर्याय है' ऐसे अर्थकी प्राप्ति होती है ॥ १७२ ॥

अब, अमूर्त आत्माके, स्निग्धरूक्षत्वका अभाव होनेसे बंध कैसे हो सकता है? ऐसा पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैं:—

गाथा १७३

अन्वयार्थः—[**मूर्तः**] मूर्त (पुद्गल) [**रूपादिगुणः**] रूपादिगुणयुक्त होनेसे [**अन्योन्यैः स्पर्शैः**] परस्पर (बंधयोग्य) स्पर्शोंसे [**बध्यते**] बंधता है; (परन्तु) [**तद्विपरीतः आत्मा**] उससे विपरीत (अमूर्त) आत्मा [**पौद्गलिकं कर्म**] पौद्गलिक कर्मको [**कथं**] कैसे [**बध्नाति**] बांधता है?

टीका:—मूर्त ऐसे दो पुद्गल तो रूपादिगुणयुक्त होनेसे यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष (बंधयोग्य स्पर्श) के कारण उनका पारस्परिक बंध अवश्य समझा जा सकता है, किन्तु आत्मा और

बन्धोऽवधार्यते एव। आत्मकर्मपुद्गलयोस्तु स कथमवधार्यते। मूर्तस्य कर्मपुद्गलस्यरूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषसंभवेऽप्यमूर्तस्यात्मनो रूपादिगुणयुक्तत्वाभावेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभावनया चैकाङ्गविकलत्वात् ॥ १७३ ॥

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति—

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥ १७४ ॥

रूपादिकै रहितः पश्यति जानाति रूपादीनि।
द्रव्याणि गुणांश्च यथा तथा बन्धस्तेन जानीहि ॥ १७४ ॥

येन प्रकारेण रूपादिरहितो रूपीणि द्रव्याणि तद्गुणांश्च पश्यति जानाति च, तेनैव प्रकारेण रूपादिरहितो रूपिभिः कर्मपुद्गलैः किल बध्यते। अन्यथा कथममूर्तो मूर्तं पश्यति जा-

---

कर्मपुद्गलका वंध कैसे समझा जा सकता है? क्योंकि मूर्त कर्मपुद्गल रूपादिगुणयुक्त है, इसलिये उसके यथोक्त स्निग्ध-रूक्षत्वरूप स्पर्शविशेषका संभव होने पर भी अमूर्त आत्माके रूपादिगुणयुक्तता नहीं है इसलिये उसके यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेषका असंभव होनेसे एक अंग विकल है। (अर्थात् वंधयोग्य दो अंगोंमेंसे एक अंग अयोग्य है,—स्पर्शगुणरहित होनेसे बंधकी योग्यतावाला नहीं है।) ॥ १७३ ॥

अब यह सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि आत्माके अमूर्त होने पर भी इसप्रकार वंध होता है:—

गाथा १७४

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**रूपादिकैः रहितः**] रूपादिरहित (जीव) [**रूपादीनि**] रूपादिको-[**द्रव्याणि गुणान् च**] द्रव्योंको तथा गुणोंको (रूपी द्रव्योंको और उनके गुणोंको)-[**पश्यति जानाति**] देखता है और जानता है [**तथा**] उसीप्रकार [**तेन**] उसके साथ (अरूपीका रूपीके साथ) [**बंधः जानीहि**] बंध जानो।

टीका:—जैसे रूपादिरहित (जीव) रूपी द्रव्योंको तथा उनके गुणोंको देखता है तथा जानता है, उसीप्रकार रूपादिरहित (जीव) रूपी कर्मपुद्गलोंके साथ बंधता है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यहाँ भी (देखने-जाननेके संबंधमें भी) यह प्रश्न अनिवार्य है कि अमूर्त मूर्तको कैसे देखता-जानता है?

और ऐसा भी नहीं है कि यह (अरूपीका रूपीके साथ बंध होनेकी) बात अत्यन्त दुर्घट है इसलिये उसे दार्ष्टान्तरूप बनाया है, परन्तु आबालगोपाल सभीको प्रगट (ज्ञात) हो जाय इसलिये दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। यथा:—बाल-गोपाल का पृथक रहनेवाले मिट्टीके बैलको अथवा (सच्चे) बैलको देखने और जानने पर बैलके साथ संबंध नहीं है तथापि विषयरूपसे रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उपयोगारूढ़ वृषभाकार दर्शन-ज्ञानके साथका संबंध बैलके साथके संबंधरूप

नाति चेत्यत्रापि पर्यनुयोगस्यानिवार्यत्वात्। न चैतदत्यन्तदुर्घटत्वाद्दार्ष्टान्तिकीकृतं, किंतु दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम्। तथाहि—यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थितं मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति संबन्धः, विषयभावावस्थितबलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसंबंधो बलीवर्दसंबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति संबन्धः, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसंबन्धः कर्मपुद्गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव ॥ १७४ ॥

व्यवहारका साधक अवश्य है; इसीप्रकार आत्मा अरूपित्वके कारण स्पर्शशून्य है, इसलिये उसका कर्मपुद्गलोंके साथ संबंध नहीं है; तथापि एकावगाहरूपसे रहनेवाले कर्म पुद्गल जिनके निमित्त हैं ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावोंके साथका संबंध कर्मपुद्गलोंके साथके बंधरूप व्यवहारका साधक अवश्य है।

भावार्थः—'आत्माके अमूर्तिक होनेपर भी वह मूर्तिककर्म-पुद्गलोंके साथ कैसे बंधता है? इस प्रश्नका उत्तर देते हुये आचार्यदेवने कहा है कि—आत्माके अमूर्तिक होने पर भी वह मूर्तिक पदार्थोंको कैसे जानता है? जैसे वह मूर्तिक पदार्थोंको जानता है उसीप्रकार मूर्तिक कर्मपुद्गलोंके साथ बंधता है।

वास्तवमें अरूपी आत्माका रूपीपदार्थोंके साथ कोई संबंध न होनेपर भी अरूपीका रूपीके साथ संबंध होनेका व्यवहार भी विरोधको प्राप्त नहीं होता। जहाँ यह कहा जाता है कि 'आत्मा मूर्तिक पदार्थको जानता है' वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्माका मूर्तिक पदार्थके साथ कोई संबंध नहीं है; उसका तो मात्र उस मूर्तिक पदार्थके आकाररूप होनेवाले ज्ञानके साथ ही संबंध है, और उस पदार्थाकार ज्ञानके साथके संबंधके कारण ही 'अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थको जानता है' ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिकका संबंधरूप व्यवहार सिद्ध होता है। इसीप्रकार जहाँ यह कहा जाता है कि 'अमुक आत्माका मूर्तिक कर्मपुद्गलोंके साथ बंध है' वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्माका मूर्तिक कर्म-पुद्गलोंके साथ कोई संबंध नहीं है। आत्माका तो कर्म-पुद्गल जिसमें निमित्त हैं ऐसे रागद्वेषादि भावोंके साथ ही संबंध (बंध) है, और उन कर्म-निमित्तक रागद्वेषादि भावोंके साथ संबंध होनेसे ही 'इस आत्माका मूर्तिक कर्मपुद्गलोंके साथ बंध है' ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिकका बंधरूप व्यवहार सिद्ध होता है।

यद्यपि मनुष्यको स्त्री-पुत्र-धनादिके साथ वास्तवमें कोई संबंध नहीं है, वे उस मनुष्यसे सर्वथा भिन्न हैं, तथापि स्त्री पुत्र धनादिके प्रति राग करने वाले मनुष्यको रागका बंधन होनेसे, और उस रागमें स्त्रीपुत्रधनादिके निमित्त होनेसे व्यवहारसे यह अवश्य कहा जाता है कि 'इस मनुष्यको स्त्रीपुत्रधनादिका बंधन है; इसीप्रकार, यद्यपि आत्माका कर्मपुद्गलोंके साथ वास्तवमें कोई संबंध नहीं है, वे आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं, तथापि रागद्वेषादि भाव करनेवाले आत्माको रागद्वेषादि भावोंका बंधन होनेसे और उन भावोंमें कर्मपुद्गल निमित्त होनेसे व्यवहारसे यह अवश्य कहा जासकता है कि 'इस आत्माको कर्मपुद्गलोंका बंधन है' ॥ १७४ ॥

अथ भावबन्धस्वरूपं ज्ञापयति—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥ १७५ ॥

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि ।
प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः संबन्धः ॥ १७५ ॥

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः । तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वैरुपरक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद्बन्धो भवति ॥ १७५ ॥

अथ भावबन्धयुक्तिं द्रव्यबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति—

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥ १७६ ॥

अब भाववंधका स्वरूप बतलाते हैं:—

गाथा १७५

अन्वयार्थः—[यः हि पुनः] जो **[उपयोगमयः जीवः]** उपयोगमय जीव **[विविधान् विषयान्]** विविध विषयोंको **[प्राप्य]** प्राप्त करके **[मुह्यति]** मोह करता है, **[रज्यति]** राग करता है, **[वा]** अथवा **[प्रद्वेष्टि]** द्वेष करता है, (वह जीव) **[तैः]** उनके द्वारा (मोह–राग–द्वेषके द्वारा) **[संबंधः]** बंधरूप है ।

टीकाः—प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है, क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप है (अर्थात् ज्ञान–दर्शनस्वरूप है ।) उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थोंको प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है, वह काला, पीला, और लाल आश्रय[1] जिनका निमित्त है ऐसे कालेपन, पीलेपन और ललाईके द्वारा उपरक्त स्वभाववाले स्फटिक मणिकी भांति—पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेषके द्वारा उपरक्त (विकारी) आत्मस्वभाववाला होनेसे, स्वयं अकेला ही बंधरूप है, क्योंकि मोह-राग-द्वेषादि भाव उसका द्वितीय[2] है ॥ १७५ ॥

अब, भावबंधकी युक्ति और द्रव्यबंधका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १७६

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव **[येन भावेन]** जिस भावसे **[विषये आगतं]**

१—आश्रय=जिसमें स्फटिकमणि रखा हो वह पात्र । २—द्वितीय=दूसरा ['बंध तो दोके बीच होता है, अकेला आत्मा बंधस्वरूप कैसे हो सकता है ?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—एक तो आत्मा और दूसरा मोहरागद्वेषादिभाव होनेसे, मोहरागद्वेषादिभावके द्वारा मलिनस्वभाववाला आत्मा स्वयं ही भावबंध है ।]

भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः ॥ १७६ ॥

अयमात्मा साकारनिराकारपरिच्छेदात्मकत्वात्परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव। योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः। अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः ॥ १७६ ॥

अथ पुद्गलजीवतदुभयबन्धस्वरूपं ज्ञापयति—

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥ १७७ ॥

स्पर्शैः पुद्गलानां बन्धो जीवस्य रागादिभिः।
अन्योन्यमवगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः ॥ १७७ ॥

यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबन्धः। यस्तु

विषयागत पदार्थको **[पश्यति जानाति]** देखता है और जानता है, **[तेन एव]** उसीसे **[रज्यति]** उपरक्त होता है; **[पुनः]** और (उसीसे) **[कर्म बध्यते]** कर्म बँधता है;— **[इति]** ऐसा **[उपदेशः]** उपदेश है।

टीका:—यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप (ज्ञान और दर्शनस्वरूप) होनेसे प्रतिभास्य (प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थसमूहको जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भावसे देखता है और जानता है, उसीसे उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है वह वास्तवमें स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय[1] भावबंध है। और उसीसे अवश्य पौद्गलिक कर्म बंधता है। इसप्रकार यह द्रव्यबंधका निमित्त भावबंध है ॥ १७६ ॥

अब पुद्गलबंध, जीवबंध और उन दोनोंके बंधका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १७७

अन्वयार्थः—[स्पर्शैः] स्पर्शोंके साथ **[पुद्गलानां बंधः]** पुद्गलोंका बंध, **[रागादिभिः जीवस्य]** रागादिके साथ जीवका बंध, और **[अन्योन्यम् अवगाहः]** अन्योन्य अवगाह **[पुद्गलजीवात्मकः भणितः]** पुद्गलजीवात्मक बंध कहा गया है।

टीका:—प्रथम तो यहाँ, कर्मोंका जो स्निग्धतारूक्षतारूप स्पर्शविशेषोंके साथ एकत्वपरिणाम

१–स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय=स्निग्धता और रूक्षताके समान। (जैसे पुद्गलमें विशिष्ट स्निग्धता-रूक्षता बंध है, उसीप्रकार जीवमें रागद्वेषरूप विकार भावबंध है)

जीवस्यौपाधिकमोहरागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः। यः पुनः जीवकर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः ॥ १७७ ॥

अथ द्रव्यबन्धस्य भावबन्धहेतुकत्वमुज्जीवयति—

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति य जंति बज्झंति ॥ १७८ ॥

सप्रदेशः स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गलाः कायाः।
प्रविशन्ति यथायोग्यं तिष्ठन्ति च यान्ति बध्यन्ते ॥ १७८ ॥

अयमात्मा लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशः अथ तेषु तस्य प्रदेशेषु कायवाङ्मनोवर्गणालम्बनः परिस्पन्दो यथा भवति तथा कर्मपुद्गलकायाः स्वयमेव परिस्पन्दवन्तः प्रविशन्त्यपि तिष्ठन्त्यपि गच्छन्त्यपि च। अस्ति चेज्जीवस्य मोहरागद्वेषरूपो भावो बध्यतेऽपि च। ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य भावबन्धो हेतुः ॥ १७८ ॥

अथ द्रव्यबन्धहेतुत्वेन रागपरिणाममात्रस्य भावबन्धस्य निश्चयबन्धत्वं साधयति—

है सो केवल पुद्गलबंध है; और जीवका औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायोंके साथ जो एकत्व परिणाम है सो केवल जीवबंध है; और जीव तथा कर्मपुद्गलके परस्पर परिणामके निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है सो उभयबंध है। [अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल एक दूसरेके परिणाममें निमित्तमात्र होवें, ऐसा जो (विशिष्टप्रकारका) उनका एकक्षेत्रावगाह संबंध है सो वह पुद्गलजीवात्मक बंध है।]।१७७।

अब, यह बतलाते हैं कि द्रव्यबंधका हेतु भावबंध है:—

गाथा १७८

अन्वयार्थः—[**सः आत्मा**] वह आत्मा [**सप्रदेशः**] सप्रदेश है; [**तेषु प्रदेशेषु**] उन प्रदेशोंमें [**पुद्गलाः कायाः**] पुद्गलसमूह [**प्रविशन्ति**] प्रवेश करते हैं, [**यथायोग्यं तिष्ठंति**] यथायोग्य रहते हैं, [**यान्ति**] जाते हैं, [**च**] और [**बध्यन्ते**] बंधते हैं।

टीका:—यह आत्मा लोकाकाशतुल्य असंख्यप्रदेशी होनेसे सप्रदेश है। उसके इन प्रदेशोंमें कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणाका आलम्बनवाला परिस्पन्द (कम्पन) जिस प्रकारसे होता है उस प्रकारसे कर्मपुद्गलके समूह स्वयमेव परिस्पन्दवाले होते हुये प्रवेश भी करते हैं, रहते भी हैं, और जाते भी हैं; और यदि जीवके मोह-राग-द्वेषरूप भाव हों तो बंधते भी हैं। इसलिये निश्चित होता है कि द्रव्यबंधका हेतु भावबंध है ॥ १७८ ॥

अब, यह सिद्ध करते हैं कि—राग परिणाममात्र जो भावबन्ध है सो द्रव्यबन्धका हेतु होनेसे वही निश्चयबंध है :—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥ १७९ ॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते कर्मभी रागरहितात्मा ।
एष बन्ध समासो जीवानां जानीहि निश्चयतः ॥ १७९ ॥

यतो रागपरिणत एवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा बध्यते न वैराग्यपरिणतः, अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते वैराग्यपरिणत एव, बध्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च न मुच्यते रागपरिणतः, मुच्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च वैराग्यपरिणतो न बध्यते । ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वाद्रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्धः ॥ १७९ ॥

अथ परिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकतमरागविशिष्टत्वं सविशेषं प्रकटयति—

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥ १८० ॥

परिणामाद्बन्धः परिणामो रागद्वेषमोहयुतः ।
अशुभौ मोहप्रद्वेषौ शुभो वाशुभो भवति रागः ॥ १८० ॥

गाथा १७९

अन्वयार्थः—[**रक्तः**] रागी आत्मा [**कर्म बध्नाति**] कर्म बांधता है, [**रागरहितात्मा**] रागरहित आत्मा [**कर्मभिः मुच्यते**] कर्मोंसे मुक्त होता है;—[**एषः**] यह [**जीवानां**] जीवोंके [**बंधसमासः**] बंधका संक्षेप [**निश्चयतः**] निश्चयसे [**जानीहि**] जानो ।

टीका:—रागपरिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्मसे बंधता है, वैराग्यपरिणत नहीं । रागपरिणत जीव नवीन द्रव्यकर्मसे मुक्त नहीं होता, वैराग्यपरिणत ही मुक्त होता है । रागपरिणत जीव संस्पर्श करने (संबंधमें आने) वाले नवीन द्रव्यकर्मसे, और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्मसे बंधता ही है, मुक्त नहीं होता । वैराग्यपरिणत जीव संस्पर्श करने (संबंधमें आने) वाले नवीन द्रव्यकर्मसे और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्मसे मुक्त ही होता है, बंधता नहीं है । इससे निश्चित होता है कि-द्रव्यबंधका साधकतम (उत्कृष्ट हेतु) होनेसे रागपरिणाम ही निश्चयसे बंध है ॥ १७९ ॥

अब, परिणामका द्रव्यबंधके साधकतम रागसे विशिष्टत्व सविशेष प्रगट करते हैं (अर्थात् यह भेद सहित प्रगट करते हैं कि परिणाम द्रव्यबंधके उत्कृष्ट हेतुभूत रागसे विशेषतावाला होता है):—

गाथा १८०

अन्वयार्थः—[**परिणामात् बंधः**] परिणामसे बंध है, [**परिणामः रागद्वेष-**

द्रव्यबन्धोऽस्ति तावद्विशिष्टपरिणामात्। विशिष्टत्वं तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन। तत्र शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति। तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं, रागमयत्वेन तु शुभत्वं चाशुभत्वं च। विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वेन रागस्य द्वैविध्यात् भवति॥ १८०॥

अथ विशिष्टपरिणामविशेषमविशिष्टपरिणामं च कारणे कार्यमुपचर्य कार्यत्वेन निर्दिशति—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये॥ १८१॥

शुभपरिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भणितमन्येषु।
परिणामोऽनन्यगतो दुःखक्षयकारणं समये॥ १८१॥

द्विविधस्तावत्परिणामः परद्रव्यप्रवृत्तः स्वद्रव्यप्रवृत्तश्च। तत्र परद्रव्यप्रवृत्तः परोपरक्तत्वाद्विशिष्टपरिणामः, स्वद्रव्यप्रवृत्तस्तु परानुपरक्तत्वादविशिष्टपरिणामः। तत्रोक्तौ द्वौ विशिष्टपरि-

---

मोहयुतः] (जो) परिणाम राग-द्वेष-मोहयुक्त है। [**मोहप्रद्वेषौ अशुभौ**] (उनमेंसे) मोह और द्वेष अशुभ है, [**रागः**] राग [**शुभः वा अशुभः**] शुभ अथवा अशुभ [**भवति**] होता है।

टीका:—प्रथम तो द्रव्यबंध विशिष्ट परिणामसे होता है। परिणामकी विशिष्टता राग-द्वेष-मोह मयताके कारण है। वह शुभत्व और अशुभत्वके कारण द्वैतका अनुसरण करता है। (अर्थात् दो प्रकार का है); उसमेंसे मोह-द्वेषमयता[1]से अशुभत्व होता है, और रागमयतासे शुभत्व तथा अशुभत्व होता है, क्योंकि राग विशुद्धि[2] तथा संक्लेशयुक्त होनेसे दो प्रकारका होता है॥ १८०॥

अब विशिष्ट परिणामके भेदको तथा अविशिष्ट परिणामको, कारणमें कार्यका उपचार करके कार्यरूपसे बतलाते हैं:—

गाथा १८१

अन्वयार्थः—[**अन्येषु**] परके प्रति [**शुभ परिणामः**] शुभ परिणाम [**पुण्यम्**] पुण्य है, और [**अशुभः**] अशुभ परिणाम [**पापम्**] पाप है, [**इति भणितम्**] ऐसा कहा है; [**अनन्यगतः परिणामः**] जो दूसरेके प्रति प्रवर्तमान नहीं है ऐसा परिणाम [**समये**] समय पर [**दुःखक्षयकारणम्**] दुःख क्षयका कारण है।

टीका:—प्रथम तो परिणाम दो प्रकारका है—परद्रव्यप्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त। इनमेंसे परद्रव्यप्रवृत्तपरिणाम परके द्वारा उपरक्त (परके निमित्तसे विकारी) होनेसे विशिष्ट परिणाम है, और स्वद्रव्य-

---

१—मोहमय परिणाम और द्वेषमय परिणाम अशुभ हैं। २—धर्मानुराग विशुद्धिवाला होनेसे धर्मानुरागमय परिणाम शुभ है। विषयानुराग संक्लेशमय होनेसे विषयानुरागमय परिणाम अशुभ है।

णामस्य विशेषौ, शुभपरिणामोऽशुभपरिणामश्च। तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यं, पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापम्। अविशिष्टपरिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः। स काले संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव ॥ १८१ ॥

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्तिसिद्धये स्वपरविभागं दर्शयति—

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥ १८२ ॥

भणिताः पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसाः।
अन्ये ते जीवाज्जीवोऽपि च तेभ्योऽन्यः ॥ १८२ ॥

य एते पृथिवीप्रभृतयः षड्जीवनिकायास्त्रसस्थावरभेदेनाभ्युपगम्यन्ते ते खल्वचेतनत्वादन्ये जीवात्, जीवोऽपि च चेतनत्वादन्यस्तेभ्यः। अत्र षड्जीवनिकायात्मनः परद्रव्यमेक

प्रवृत्त परिणाम परके द्वारा उपरक्त न होनेसे अविशिष्ट परिणाम है। उसमें विशिष्ट परिणामके पूर्वोक्त दो भेद हैं—शुभपरिणाम और अशुभ परिणाम। उनमें, पुण्यरूप पुद्गलके बंधका कारण होनेसे शुभपरिणाम पुण्य है, और पापरूप पुद्गलके बंधका कारण होनेसे अशुभ परिणाम पाप है। अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होनेसे एक है, इसलिये उसके भेद नहीं हैं। वह (अविशिष्ट परिणाम) यथाकाल संसार दुःखके हेतुभूत कर्मपुद्गलके क्षयका कारण होनेसे संसारदुःखका हेतुभूत कर्मपुद्गलका क्षयस्वरूप मोक्ष ही है।

भावार्थः—परके प्रति प्रवर्तमान शुभपरिणाम पुण्यका कारण है, और अशुभपरिणाम पापका कारण है; इसलिये यदि कारणमें कार्यका उपचार किया जाय तो शुभपरिणाम पुण्य है और अशुभपरिणाम पाप। स्वात्मद्रव्यमें प्रवर्तमान शुद्ध परिणाम मोक्षका कारण है; इसलिये यदि कारणमें कार्यका उपचार किया जाय तो, शुद्ध परिणाम मोक्ष है ॥ १८१ ॥

अब, जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्यसे निवृत्तिकी सिद्धिके लिये स्व-परका विभाग बतलाते हैं:—

गाथा १८२

अन्वयार्थः—[अथ] अब [स्थावराः च त्रसाः] स्थावर और त्रस जो [पृथिवीप्रमुखाः] पृथ्वी आदि, [जीव निकायाः] जीवनिकाय [भणिताः] कहे गये हैं, [ते] वे [जीवात् अन्ये] जीवसे अन्य हैं, [च] और [जीवः अपि] जीव भी [तेभ्यः अन्यः] उनसे अन्य है।

टीकाः—जो यह पृथ्वी इत्यादि षट् जीवनिकाय त्रसस्थावरके भेद पूर्वक माने जाते हैं, वे

एवात्मा स्वद्रव्यम् ॥ १८२ ॥

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन स्वपरविभागज्ञानाज्ञाने अवधारयति—

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥ १८३ ॥

यो नैव जानात्येवं परमात्मानं स्वभावमासाद्य ।
कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात् ॥ १८३ ॥

यो हि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयोः स्वपरविभागं पश्यति स एवाहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन परद्रव्यमध्यवस्यति मोहान्नान्यः । अतो जीवस्य परद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं स्वपरपरिच्छेदाभावमात्रमेव सामर्थ्यात्स्वद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं तदभावः ॥१८३॥

अथात्मनः किं कर्मेति निरूपयति—

वास्तवमें अचेतनत्वके कारण जीवसे अन्य हैं, और जीव भी चेतनत्वके कारण उनसे अन्य है । यहाँ (यह कहा है कि) षट् जीवनिकाय आत्माको परद्रव्य है, आत्मा एक ही स्वद्रव्य है ॥ १८२ ॥

अब, यह निश्चित करते हैं कि—जीवको स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्वपरके विभागका ज्ञान है, और परद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्व-परके विभागका अज्ञान है:—

गाथा १८३

अन्वयार्थः—[यः] जो **[एवं]** इसप्रकार **[स्वभावम् आसाद्य]** स्वभावको प्राप्त करके (जीव-पुद्गलके स्वभावको निश्चित करके) **[परम् आत्मानं]** परको और स्व को **[न एव जानाति]** नहीं जानता, **[मोहात्]** वह मोहसे '**[अहम्]** यह मैं हूँ, **[इदं मम]** यह मेरा है' **[इति]** इसप्रकार **[अध्यवसानं]** अध्यवसान **[कुरुते]** करता है ।

टीका:—जो आत्मा इसप्रकार जीव और पुद्गलके (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वरूप स्वभावके द्वारा स्व-परके विभागको नहीं देखता, वही आत्मा 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इसप्रकार मोहसे परद्रव्यमें अपनेपनका अध्यवसान करता है, दूसरा नहीं । इससे (यह निश्चित हुआ कि) जीवको परद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्वपरके ज्ञानका अभावमात्र ही है, और (कहे विना भी) सामर्थ्यसे (यह निश्चित हुआ कि) स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त उसका अभाव[1] है ।

भावार्थ:—जिसे स्व-परका भेद विज्ञान नहीं है वही परद्रव्यमें अहंकार—ममकार करता है, भेदविज्ञानी नहीं । इसलिये परद्रव्यमें प्रवृत्तिका कारण भेदविज्ञानका अभाव ही है, और स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका कारण भेद विज्ञान ही है ॥ १८३ ॥

अब यह निरूपण करते हैं कि आत्माका कर्म क्या है:—

१—उसका अभाव=स्वपरके ज्ञानके अभावका अभाव; स्व-परके ज्ञानका सद्भाव ।

कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ १८४ ॥

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य ।
पुद्गलद्रव्यमयानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥ १८४ ॥

आत्मा हि तावत्स्वं भावं करोति तस्य स्वधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्तिसंभवेनावश्यमेव कार्यत्वात् । स तं च स्वतन्त्रः कुर्वाणस्तस्य कर्तावश्यं स्यात्, क्रियमाणश्चात्मना स्वो भावस्तेनाप्यत्वात्तस्य कर्मावश्यं स्यात् । एवमात्मनः स्वपरिणामः कर्म न त्वात्मा पुद्गलस्य भावान् करोति तेषां परधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्त्यसंभवेनाकार्यत्वात् स तानकुर्वाणो न तेषां कर्ता स्यात् अक्रियमाणाश्चात्मना ते न तस्य कर्म स्युः । एवमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म ॥१८४॥

अथ कथमात्मनः पुद्गलपरिणामो न कर्म स्यादिति संदेहमपनुदति—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि ।
जीवो पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥ १८५ ॥

गाथा १८४

अन्वयार्थः—[**स्वभावं कुर्वन्**] अपने भावको करता हुआ [**आत्मा**] आत्मा [**हि**] वास्तवमें [**स्वकस्य भावस्य**] अपने भावका [**कर्ता भवति**] कर्ता है; [**तु**] परन्तु [**पुद्गलद्रव्यमयानां सर्वभावानां**] पुद्गलद्रव्यमय सर्व भावोंका [**कर्ता न**] कर्ता नहीं है ।

टीका:—प्रथम तो आत्मा वास्तवमें स्व (अपने) भावको करता है, क्योंकि वह (भाव) उसका स्व धर्म है, इसलिये आत्माको उसरूप होनेकी (परिणमित होनेकी) शक्तिका संभव है, अतः वह (भाव) अवश्यमेव आत्माका कार्य है । (इसप्रकार) वह (आत्मा) उसे (स्व भावको) स्वतंत्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है, और स्व भाव आत्माके द्वारा किया जाता हुआ आत्माके द्वारा प्राप्य होनेसे अवश्य ही आत्माका कर्म है । इसप्रकार स्वपरिणाम आत्माका कर्म है ।

परन्तु, आत्मा पुद्गलके भावोंको नहीं करता, क्योंकि वे परके धर्म हैं, इसलिये आत्माके उस-रूप होनेकी शक्तिका असंभव होनेसे वे आत्माका कार्य नहीं हैं । (इसप्रकार) वह (आत्मा) उन्हें न करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता, और वे आत्माके द्वारा न किये जाते हुये उसका कर्म नहीं हैं । इसप्रकार पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म नहीं है ॥ १८४ ॥

अब, इस संदेहको दूर करते हैं कि पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म क्यों नहीं है ? :—

गाथा १८५

अन्वयार्थः—[**जीवः**] जीव [**सर्वकालेषु**] सभी कालोंमें [**पुद्गलमध्ये वर्त-**

गृह्णाति नैव न मुञ्चति करोति न हि पुद्गलानि कर्माणि ।
जीवः पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु ॥ १८५ ॥

न खल्वात्मनः पुद्गलपरिणामः कर्म परद्रव्योपादानहानशून्यत्वात्, यो हि यस्य परिणमयिता दृष्टः स न तदुपादानहानशून्यो दृष्टः, यथाग्निरयःपिण्डस्य । आत्मा तु तुल्यक्षेत्रवर्तित्वेऽपि परद्रव्योपादानहानशून्य एव । ततो न स पुद्गलानां कर्मभावेन परिणमयिता स्यात् ॥१८५॥

अथात्मनः कुतस्तर्हि पुद्गलकर्मभिरुपादानं हानं चेति निरूपयति—

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स ।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥ १८६ ॥

स इदानीं कर्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य ।
आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभिः ॥ १८६ ॥

सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि सांप्रतं संसारावस्थायां निमित्तमात्रीकृतपरद्रव्यपरिणामस्य स्वपरिणाममात्रस्य द्रव्यत्वभूतत्वात्केवलस्य कलयन् कर्तृत्वं तदेव तस्य स्वपरिणामं

मानः अपि] पुद्गलके मध्यमें रहता हुआ भी [**पुद्गलानि कर्माणि**] पौद्गलिक कर्मोंको [**हि**] वास्तवमें [**गृह्णाति न एव**] न तो ग्रहण करता है, [**न मुंचति**] न छोड़ता है, और [**न करोति**] न करता है ।

टीका:—वास्तवमें पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म नहीं है, क्योंकि वह परद्रव्यके ग्रहण-त्यागसे रहित है । जो जिसका परिणमन करानेवाला देखा जाता है वह उसके ग्रहण-त्यागसे रहित नहीं देखा जाता; जैसे—अग्नि लोहेके गोलेमें ग्रहण त्याग रहित होती है । आत्मा तो तुल्य क्षेत्रमें वर्तता हुआ भी (परद्रव्यके साथ एक क्षेत्रावगाही होने पर भी) परद्रव्यके ग्रहण-त्यागसे रहित ही है; इसलिये वह पुद्गलोंको कर्मभावसे परिणमित करानेवाला नहीं है ॥ १८५ ॥

तब फिर (यदि आत्मा पुद्गलोंको कर्मरूप परिणमित नहीं करता) तो आत्मा किसप्रकार पुद्गल कर्मोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है और छोड़ा जाता है ? इसका निरूपण करते हैं:—

गाथा १८६

अन्वयार्थः—[**सः**] वह [**इदानीं**] अभी (संसारावस्थामें) [**द्रव्यजातस्य**] द्रव्यसे (आत्मद्रव्यसे) उत्पन्न होनेवाले [**स्वकपरिणामस्य**] (अशुद्ध) स्वपरिणामका [**कर्ता सन्**] कर्ता होता हुआ [**कर्मधूलिभिः**] कर्मरजसे [**आदीयते**] ग्रहण किया जाता है, और [**कदाचित् विमुच्यते**] कदाचित् छोड़ा जाता है ।

टीका:—वह यह आत्मा परद्रव्यके ग्रहण-त्यागसे रहित होता हुआ भी अभी संसारावस्थामें,

निमित्तमात्रीकृत्योपात्तकर्मपरिणामाभिः पुद्गलधूलीभिर्विशिष्टावगाहरूपेणोपादीयते कदाचिन्मुच्यते च ॥ १८६ ॥

अथ किंकृतं पुद्गलकर्मणां वैचित्र्यमिति निरूपयति—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १८७ ॥

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुतः ।
तं प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १८७ ॥

अस्ति खल्वात्मनः शुभाशुभपरिणामकाले स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यकर्मपुद्गलपरिणामः नवघनाम्बुनो भूमिसंयोगपरिणामकाले समुपात्तवैचित्र्यान्यपुद्गलपरिणामवत् । तथाहि—यथा

परद्रव्यपरिणामको निमित्तमात्र करते हुये केवल स्वपरिणाममात्रका—उस स्वपरिणामके द्रव्यत्व-भूत होनेसे—कर्तृत्वका अनुभव करता हुआ, उसके इसी स्वपरिणामको निमित्तमात्र करके कर्मपरिणामको प्राप्त होती हुई पुद्गलरजके द्वारा विशिष्ट अवगाहरूपसे ग्रहण किया जाता है और कदाचित् छोड़ा जाता है।

भावार्थ:—अभी संसारावस्थामें जीव पौद्गलिक कर्मपरिणामको निमित्तमात्र करके अपने अशुद्ध परिणामका ही कर्ता होता है, (क्योंकि वह अशुद्धपरिणाम स्वद्रव्यसे उत्पन्न होता है), परद्रव्यका कर्ता नहीं होता। इसप्रकार जीव अपने अशुद्धपरिणामका कर्ता होने पर जीवके उसी अशुद्धपरिणामको निमित्तमात्र करके कर्मरूप परिणमित होती हुई पुद्गलरज विशेष अवगाहरूपसे जीवको ग्रहण करती है[1], और कभी (स्थितिके अनुसार रहकर अथवा जीवके शुद्ध परिणामको निमित्तमात्र करके) छोड़ती है ॥ १८६ ॥

अब पुद्गल कर्मोंकी विचित्रता (ज्ञानावरण, दर्शनावरणादिरूप अनेकप्रकारता) को कौन करता है? इसका निरूपण करते हैं:—

गाथा १८७

अन्वयार्थः—[**यदा**] जब [**आत्मा**] आत्मा [**रागद्वेषयुतः**] रागद्वेषयुक्त होता हुआ [**शुभे अशुभे**] शुभ और अशुभमें [**परिणमति**] परिणमित होता है, तब [**कर्मरजः**] कर्मरज [**ज्ञानावरणादिभावैः**] ज्ञानावरणादिरूपसे [**तं**] उसमें [**प्रविशति**] प्रवेश करती है।

टीका:—जैसे नवमेघजलके भूमिसंयोगरूप परिणामके समय अन्य पुद्गलपरिणाम स्वयमेव

1—कर्मपरिणतपुद्गलोंका जीवके साथ विशेष अवगाहरूपसे रहनेको ही यहां कर्म पुद्गलोंके द्वारा जीवका 'ग्रहण होना' कहा है।

यदा नवघनाम्बुभूमिसंयोगेन परिणमति तदान्ये पुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैः शाड्वलशिलीन्ध्रशक्रगोपादिभावैः परिणमन्ते, तथा यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृतः शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योगद्वारेण प्रविशन्तः कर्मपुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैर्ज्ञानावरणादिभावैः परिणमन्ते। अतः स्वभावकृतं कर्मणां वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम् ॥ १८७ ॥

अथैक एव आत्मा बन्ध इति विभावयति—

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥ १८८ ॥

सप्रदेशः स आत्मा कषायितो मोहरागद्वेषैः।
कर्मरजोभिः श्लिष्टो बन्ध इति प्ररूपितः समये ॥ १८८ ॥

यथात्र सप्रदेशत्वे सति लोध्रादिभिः कषायितत्वात् मञ्जिष्ठरङ्गादिभिरुपश्लिष्टमेकं रक्तं दृष्टं वासः, तथात्मापि सप्रदेशत्वे सति काले मोहरागद्वेषैः कषायितत्वात् कर्मरजोभिरुपश्लिष्ट एको बन्धो द्रष्टव्यः शुद्धद्रव्यविषयत्वान्निश्चयस्य ॥ १८८ ॥

वैचित्र्यको प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार आत्माके शुभाशुभ परिणामके समय कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तवमें स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त होते हैं। वह इसप्रकार है कि—जैसे, जब नया मेघजल भूमिसंयोगरूप परिणमित होता है तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त हरियाली, कुकुरमुत्ता (छत्ता), और इन्द्रगोप (चातुर्मासमें उत्पन्न लाल कीड़ा) आदि रूप परिणमित होता है, इसीप्रकार जब यह आत्मा राग द्वेषके वशीभूत होता हुआ शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है तब अन्य, योगद्वारोंसे प्रविष्ट होते हुये कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रताको प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं।

इससे (यह निश्चित हुआ कि) कर्मोंकी विचित्रता (विविधता) का होना स्वभावकृत है, किन्तु आत्मकृत नहीं ॥ १८७ ॥

अब यह समझाते हैं कि अकेला ही आत्मा बंध है:—

गाथा १८८

अन्वयार्थः—[**सप्रदेशः**] प्रदेशयुक्त [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**समये**] यथाकाल [**मोहरागद्वेषैः**] मोह-राग-द्वेषके द्वारा [**कषायितः**] कषायित होनेसे [**कर्मरजोभिः श्लिष्टः**] कर्मरजसे लिप्त या बद्ध होता हुआ [**बंधः इति प्ररूपितः**] 'बंध' कहा गया है।

टीका:—जैसे जगतमें वस्त्र प्रदेशवान् होनेसे लोध—फिटकरी आदिसे कषायित (कसैला) होता है, जिससे वह मंजीठादिके रंगसे संबद्ध होता हुआ अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है, इसीप्रकार आत्मा भी प्रदेशवान् होनेसे यथाकाल मोह-राग द्वेषके द्वारा कषायित (मलिन—रंगा हुआ) होनेसे कर्मरजके द्वारा श्लिष्ट होता हुआ अकेला ही बंध है; ऐसा देखना (मानना) चाहिये, क्योंकि निश्चयका विषय शुद्ध द्रव्य है ॥ १८८ ॥

अथ निश्चयव्यवहाराविरोधं दर्शयति—

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो ।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥ १८९ ॥

एष बन्धसमासो जीवानां निश्चयेन निर्दिष्टः ।
अर्हद्भिर्यतीनां व्यवहारोऽन्यथा भणितः ॥ १८९ ॥

रागपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्यपापद्वैतम् । रागपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूप-

---

अब निश्चय और व्यवहारका अविरोध बतलाते हैं:—

गाथा १८९

अन्वयार्थः—[**एषः**] यह (पूर्वोक्त प्रकारसे), [**जीवानां**] जीवोंके [**बंधसमासः**] बंधका संक्षेप [**निश्चयेन**] निश्चयसे [**अर्हद्भिः**] अर्हन्त भगवानने [**यतीनां**] यतियोंसे [**निर्दिष्टः**] कहा है; [**व्यवहारः**] व्यवहार [**अन्यथा**] अन्यप्रकारसे [**भणितः**] कहा है ।

टीकाः—रागपरिणाम ही आत्माका कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है; आत्मा रागपरिणामका ही कर्ता है, उसीका ग्रहण करनेवाला है और उसीका त्याग करनेवाला है;—यह, शुद्धद्रव्यका निरूपणस्वरूप[1] निश्चयनय है । और जो पुद्गलपरिणाम आत्माका कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है; आत्मा पुद्गल परिणामका कर्ता है, उसका ग्रहण करनेवाला और छोड़नेवाला है, यह अशुद्धद्रव्यका निरूपणस्वरूप[2] व्यवहारनय है । यह दोनों (नय) हैं; क्योंकि शुद्धतया और अशुद्धतया—दोनों प्रकारसे द्रव्यकी प्रतीति की जाती है । किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्टसाधक) होनेसे ग्रहण[3] किया

१-२—निश्चयनय मात्र स्वद्रव्यके परिणामको बतलाता है, इसलिये उसे शुद्धद्रव्यका कथन करनेवाला कहा है, और व्यवहारनय परद्रव्यके परिणामको आत्मपरिणाम बतलाता है इसलिये उसे अशुद्धद्रव्यका कथन करनेवाला कहा है । यहाँ शुद्धद्रव्यका कथन एक द्रव्याश्रित परिणामकी अपेक्षासे जानना चाहिये, और अशुद्ध द्रव्यका कथन एक द्रव्यके परिणाम अन्यद्रव्यमें आरोपित करनेकी अपेक्षासे जानना चाहिये ।

३—निश्चयनय उपादेय है और व्यवहारनय हेय है ।

प्रश्नः—द्रव्य सामान्यका आलम्बन ही उपादेय है, फिर भी यहां राग परिणामकी ग्रहण-त्यागरूप पर्यायों को स्वीकार करनेवाले निश्चयनयको उपादेय क्यों कहा है ?

उत्तरः—'रागपरिणामका कर्ता भी आत्मा है और वीतराग परिणामका भी; अज्ञान दशा भी आत्मा स्वतंत्र तया करता है और ज्ञानदशा भी';—ऐसे यथार्थज्ञानके भीतर द्रव्यसामान्यका ज्ञान गर्भितरूपसे समाविष्ट हो जाता है । यदि विशेषका भलीभांति यथार्थ ज्ञानहो तो वह विशेषोंको करनेवाला सामान्यका

णात्मको व्यवहारनयः। उभावप्येतौ स्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्। किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनयः॥ १८९॥

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एवेत्यावेदयति—

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं॥ १९०॥

न त्यजति यस्तु ममतामहं ममेदमिति देहद्रविणेषु।
स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम्॥ १९०॥

यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयोपजनितमोहः सन् अहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन देहद्रविणादौ परद्रव्ये ममत्वं न जहाति स खलु शुद्धात्मपरिणतिरूपं श्रामण्याख्यं मार्गं दूरादपहायाशुद्धात्मपरिणतिरूपमुन्मार्ग-

---

गया है; (क्योंकि) साध्यके शुद्ध होनेसे द्रव्यके शुद्धत्वका द्योतक (प्रकाशक) होनेसे निश्चयनय ही साधकतम है, किन्तु अशुद्धत्वका द्योतक व्यवहारनय (साधकतम) नहीं॥ १८९॥

अब यह कहते हैं कि अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माकी ही प्राप्ति होती है:—

गाथा १९०

अन्वयार्थः—[यः तु] जो [देहद्रविणेषु] देह-धनादिकमें [अहं मम इदम्] 'मैं यह हूँ और यह मेरा है' [इति ममतां] ऐसी ममताको [न त्यजति] नहीं छोड़ता, [सः] वह [श्रामण्यं त्यक्त्वा] श्रमणताको छोड़कर [उन्मार्गं प्रतिपन्नः भवति] उन्मार्गका आश्रय लेता है।

टीका:—जो आत्मा शुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयसे निरपेक्ष[1] रहकर अशुद्धद्रव्यके निरूपण स्वरूप व्यवहार नयसे जिसे मोह उत्पन्न हुआ है ऐसा वर्तता हुआ 'मैं यह हूँ और यह मेरा है'

ज्ञान होना ही चाहिये। द्रव्यसामान्यके ज्ञानके बिना पर्यायोंका यथार्थ ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिये उपरोक्त निश्चयनयमें द्रव्यसामान्यका ज्ञान गर्भितरूपसे समाविष्ट हो ही जाता है। जो जीव बंधमार्गरूप पर्यायमें तथा मोक्षमार्गरूप पर्यायमें आत्मा अकेला ही है, इसप्रकार यथार्थतया (द्रव्यसामान्यकी अपेक्षा सहित) जानता है, वह जीव परद्रव्यसे संपृक्त नहीं होता, और द्रव्यसामान्यके भीतर पर्यायोंको डुबाकर सुविशुद्ध होता है। इसप्रकार पर्यायोंके यथार्थ ज्ञानमें द्रव्यसामान्यका ज्ञान अपेक्षित होनेसे और द्रव्य पर्यायोंके यथार्थज्ञानमें द्रव्य-सामान्यका आलम्बनरूप अभिप्राय अपेक्षित होनेसे उपरोक्त निश्चयनयको उपादेय कहा है। [विशेष जाननेके लिये १२६ वीं गाथाकी टीका देखनी चाहिये।]

१—निश्चयनयसे निरपेक्ष=निश्चयनयके प्रति उपेक्षावान्; उसे न गिनने-माननेवाला।

मेव प्रतिपद्यते । अतोऽवधार्यते अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ॥ १९० ॥

अथ शुद्धनयात् शुद्धात्मलाभ एवेत्यवधारयति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ १९१ ॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेकः ।
इति यो ध्यायति ध्याने स आत्मा भवति ध्याता ॥ १९१ ॥

यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन् नाहं परेषामस्मि न परे मे सन्तीति स्वपरयोः परस्परस्वस्वामिसंबन्धमुद्धूय शुद्धज्ञानमेवैकमहमित्यनात्मानमुत्सृज्यात्मानमेवात्मत्वेनोपादाय परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येवैकस्मिन्नग्रे चिन्तां निरुणद्धि स खल्वेकाग्रचिन्तानिरोधकस्तस्मिन्ने-

---

इसप्रकार आत्मीयतासे[1] देह धनादिक परद्रव्यमें ममत्व नहीं छोड़ता वह आत्मा वास्तवमें शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्यनामक मार्गको दूरसे छोड़कर अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्गका ही आश्रय लेता है। इससे निश्चित होता है कि अशुद्धनयसे अशुद्धात्माकी ही प्राप्ति होती है ॥ १९० ॥

अब यह निश्चित करते हैं कि शुद्धनयसे शुद्धात्माकी ही प्राप्ति होती है:—

गाथा १९१

अन्वयार्थः—[**अहं परेषां न भवामि**] मैं परका नहीं हूँ, [**परे मे न सन्ति**] पर मेरे नहीं हैं, [**ज्ञानम् अहम् एकः**] मैं एक ज्ञान हूँ [**इति यः ध्यायति**] इसप्रकार जो ध्यान करता है, [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**ध्याने**] ध्यानकालमें [**ध्याता भवति**] ध्याता होता है।

टीका:—जो आत्मा मात्र अपने विषयमें प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप व्यवहारनयमें अविरोधरूपसे मध्यस्थ रहकर, शुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयके द्वारा जिसने मोहको दूर किया है ऐसा होता हुआ, 'मैं परका नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं' इसप्रकार स्व-परके परस्पर स्वस्वामिसंबंध[2] को छोड़कर, 'शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ' इसप्रकार अनात्माको छोड़कर, आत्माको ही आत्मरूपसे ग्रहण करके, परद्रव्यसे भिन्नत्वके कारण आत्मारूप ही एक अग्रमें[3] चिन्ताको रोकता है, वह एकाग्रचिन्तानिरोधक[4] (एक विषयमें विचारको रोकनेवाला आत्मा) उस एकाग्रचिन्तानिरोधके समय वास्तवमें शुद्धात्मा

१—आत्मीयतासे=निजरूपसे [अज्ञानी जीव शरीर, धन इत्यादि परद्रव्यको अपना मानकर उनमें ममत्व करता है।] २—जिसपर स्वामित्व है वह पदार्थ और स्वामीके बीचके संबंधको; स्व-स्वामि संबंध कहा जाता है। ३—अग्र=विषय; ध्येय; आलम्बन; ४—एकाग्रचिन्तानिरोध=एक ही विषयमें-ध्येयमें विचारको रोकना; [एकाग्रचिन्तानिरोध नामक ध्यान है।]

काग्रचिन्तानिरोधसमये शुद्धात्मा स्यात् । अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः ॥ १९१ ॥

अथ ध्रुवत्वात् शुद्ध आत्मैवोपलम्भनीय इत्युपदिशति—

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥ १९२ ॥

एवं ज्ञानात्मानं दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम् ।
ध्रुवमचलमनालम्बं मन्येऽहमात्मकं शुद्धम् ॥ १९२ ॥

आत्मनो हि शुद्ध आत्मैव सदहेतुकत्वेनानाद्यनन्तत्वात् स्वतःसिद्धत्वाच्च ध्रुवो न किंचनाप्यन्यत् । शुद्धत्वं चात्मनः परद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चैकत्वात् । तच्च ज्ञानात्मकत्वाद्दर्शनभूतत्वादतीन्द्रियमहार्थत्वादचलत्वादनालम्बत्वाच्च । तत्र ज्ञानमेवात्मनि बिभ्रतः स्वयं दर्शनभूतस्य चातन्मयपरद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा प्रतिनियतस्पर्शरस-

होता है । इससे निश्चित होता है कि शुद्धनयसे ही शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है ॥ १९१ ॥

अब यह उपदेश देते हैं कि ध्रुवत्वके कारण शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है:—

गाथा १९२

अन्वयार्थः—[**अहम्**] मैं [**आत्मकं**] आत्माको [**एवं**] इसप्रकार [**ज्ञानात्मानं**] ज्ञानात्मक, [**दर्शनभूतम्**] दर्शनभूत, [**अतीन्द्रियमहार्थं**] अतीन्द्रिय महापदार्थ, [**ध्रुवम्**] ध्रुव, [**अचलम्**] अचल, [**अनालम्बं**] निरालम्ब और [**शुद्धम्**] शुद्ध [**मन्ये**] मानता हूँ ।

टीका:—शुद्धात्मा सत् और अहेतुक (अकारण) होनेसे अनादि-अनन्त और स्वतः सिद्ध है, इसलिये आत्माके शुद्धात्मा ही ध्रुव है, (उसके) दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं है । आत्मा शुद्ध इसलिये है कि उसे परद्रव्यसे विभाग (भिन्नत्व) और स्वधर्मसे अविभाग है इसलिये एकत्व है । वह एकत्व आत्माके (१) ज्ञानात्मकत्वके कारण, (२) दर्शनभूतत्वके कारण, (३) अतिन्द्रिय महापदार्थत्वके कारण, (४) अचलताके कारण, और (५) निरालम्बत्वके कारण है ।

इनमेंसे (१-२) जो ज्ञानको ही अपनेमें धारण कर रखता है, और जो स्वयं दर्शनभूत है ऐसे आत्माका अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित) परद्रव्यसे भिन्नत्व है और स्वधर्मसे अभिन्नत्व है, इसलिये उसके एकत्व है; (३) और जो प्रतिनिश्चित[1] स्पर्श-रस-गंध-वर्णरूप गुण तथा शब्दरूपपर्यायको ग्रहण करनेवाली अनेक इन्द्रियोंका अतिक्रम (उल्लंघन) करके समस्त स्पर्श-रस-गंध-वर्णरूप गुणों और शब्दरूप पर्यायको ग्रहण करनेवाला एक सत् महापदार्थ है, ऐसे आत्माका इन्द्रियात्मक परद्रव्यसे भिन्नत्व है,

१–प्रतिनिश्चित=प्रतिनियत । [प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने नियत विषयको ग्रहण करती है; जैसे चक्षु वर्णको ग्रहण करती है ।]

गन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽर्थस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ॥ १९२ ॥

अथाध्रुवत्वादात्मनोऽन्यन्नोपलभनीयमित्युपदिशति—

और स्पर्शादिके ग्रहण स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) स्वधर्मसे अभिन्नत्व है, इसलिये उसके एकत्व है, (४) और क्षण विनाशरूपसे प्रवर्तमान ज्ञेय पर्यायोंको (प्रतिक्षण नष्ट होने वाली ज्ञातव्य पर्यायोंको) ग्रहण करने और छोड़नेका अभाव होनेसे जो अचल है ऐसे आत्माको ज्ञेयपर्यायस्वरूप परद्रव्यसे भिन्नत्व है, और और तन्निमित्तक[1] ज्ञानस्वरूप स्वधर्मसे अभिन्नत्व है, इसलिये उसके एकत्व है; (५) और नित्यरूपसे प्रवर्तमान (शाश्वत) ज्ञेयद्रव्योंके आलम्बनका अभाव होनेसे जो निरालम्ब है ऐसे आत्माका ज्ञेय-परद्रव्योंसे भिन्नत्व है, और तन्निमित्तक ज्ञानस्वरूप स्वधर्मसे अभिन्नत्व है, इसलिये उसके एकत्व है।

इसप्रकार आत्मा शुद्ध है, क्योंकि चिन्मात्र शुद्धनय उतना ही मात्र निरूपणस्वरूप है (अर्थात्) चैतन्यमात्र शुद्धनय आत्माको मात्र शुद्ध ही निरूपित करता है।) और यही (शुद्धात्मा ही) ध्रुवत्वके कारण उपलब्ध करने योग्य है। किसी पथिकके शरीरके अंगोंके साथ संसर्गमें आनेवाली मार्गके वृक्षोंकी अनेक छायाके समान अन्य अध्रुव (पदार्थों) से क्या प्रयोजन है?

भावार्थः—आत्मा (१) ज्ञानात्मक, (२) दर्शनरूप, (३) इन्द्रियोंके बिना ही सबको जाननेवाला महा पदार्थ, (४) ज्ञेय-परपर्यायोंका ग्रहण—त्याग न करनेसे अचल, और (५) ज्ञेय-परद्रव्योंका आलम्बन न लेनेसे निरालम्ब है; इसलिये वह एक है। इसप्रकार एक होनेसे वह शुद्ध है। ऐसा शुद्धात्मा ध्रुव होनेसे, वही एक उपलब्ध करने योग्य है ॥ १९२ ॥

अब, यह उपदेश देते हैं कि अध्रुवत्वके कारण आत्माके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य नहीं है:—

१—ज्ञेय पर्यायें जिसकी निमित्त हैं ऐसा जो ज्ञान, उस-स्वरूप स्वधर्मसे (ज्ञानस्वरूप निजधर्मसे) आत्माकी अभिन्नता है।

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥ १९३ ॥

देहा वा द्रविणानि वा सुखदुःखे वाथ शत्रुमित्रजनाः।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ॥ १९३ ॥

आत्मनो हि परद्रव्याविभागेन परद्रव्योपरज्यमानस्वधर्मविभागेन चाशुद्धत्वनिबन्धनं न किंचनाप्यन्यदसद्धेतुमत्त्वेनाद्यन्तवत्त्वात्परतः सिद्धत्वाच्च ध्रुवमस्ति। ध्रुव उपयोगात्मा शुद्ध आत्मैव। अतोऽध्रुवं शरीरादिकमुपलभ्यमानमपि नोपलभे शुद्धात्मानमुपलभे ध्रुवम् ॥ १९३ ॥

अथैवं शुद्धात्मोपलम्भात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥ १९४ ॥

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा।
साकारोऽनाकारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् ॥ १९४ ॥

गाथा १९३

अन्वयार्थः—[**देहाः वा**] शरीर, [**द्रविणानि वा**] धन, [**सुखदुःखे**] सुख दुःख [**वा अथ**] अथवा [**शत्रुमित्रजनाः**] शत्रुमित्रजन (यह कुछ) [**जीवस्य**] जीवके [**ध्रुवाः न सन्ति**] ध्रुव नहीं हैं; [**ध्रुवः**] ध्रुव तो [**उपयोगात्मकः आत्मा**] उपयोगात्मक आत्मा है।

टीकाः—जो परद्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण और परद्रव्यके द्वारा उपरक्त[1] होनेवाले स्वधर्मसे भिन्न होनेके कारण आत्माकी अशुद्धिका कारण है, ऐसा (आत्माके अतिरिक्त) दूसरा कोई भी ध्रुव नहीं है, क्योंकि वह असत्[2] और हेतुमान्[3] होनेसे आदि-अन्तवाला और परतः सिद्ध है; ध्रुव तो उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है। ऐसा होनेसे मैं उपलभ्यमान अध्रुव शरीरादिको उपलब्ध नहीं करता, और ध्रुव शुद्धात्माको उपलब्ध करता हूँ ॥ १९३ ॥

इसप्रकार शुद्धात्माकी उपलब्धिसे क्या होता है यह अब निरूपण करते हैं:—

गाथा १९४

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**एवं ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर [**विशुद्धात्मा**]

१—उपरक्त=मलिन; विकारी [परद्रव्यके निमित्तसे आत्माका स्वधर्म उपरक्त होता है।] २—असत्=अस्तित्वरहित (अनित्य); [धन देहादिक पुद्गल पर्याय हैं, इसलिये असत् हैं, इसीलिये आदि-अन्तवाली हैं।]
३—हेतुमान्=सहेतुक; जिसकी उत्पत्तिमें कोई भी निमित्त हो ऐसा। [देह धनादिकी उत्पत्तिमें कोई भी निमित्त होता है, इसलिये वे परतः सिद्ध हैं; स्वतः सिद्ध नहीं।]

अमुना यथोदितेन विधिना शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात्। ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं स्यात्, ततः साकारोपयुक्तस्यानाकारोपयुक्तस्य वाविशेषेणैकाग्रचेतनप्रसिद्धेरासंसारबद्धदृढतरमोहदुर्ग्रन्थेरुद्ग्रथनं स्यात्। अतः शुद्धात्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिभेदः फलम्॥ १९४॥

अथ मोहग्रन्थिभेदात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि॥ १९५॥

यो निहतमोहग्रन्थी रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा श्रामण्ये।
भवेत् समसुखदुःखः स सौख्यमक्षयं लभते॥ १९५॥

विशुद्धात्मा होता हुआ [**परमात्मानं**] परम आत्माका [**ध्यायति**] ध्यान करता है, [**सः**] वह [**साकारः अनाकारः**] साकार हो या अनाकार, [**मोहदुर्ग्रंथिं**] मोहदुर्ग्रंथिका [**क्षपयति**] क्षय करता है।

टीका:—इस यथोक्त विधिके द्वारा जो शुद्धात्माको ध्रुव जानता है, उसे उसीमें प्रवृत्तिके द्वारा शुद्धात्मत्व होता है; इसलिये अनन्तशक्तिवाले चिन्मात्र[1] परम आत्माका एकाग्रसंचेतनलक्षण[2] ध्यान होता है; और इसलिये (उस ध्यानके कारण) साकार (सविकल्प) उपयोगवालेको या अनाकार (निर्विकल्प) उपयोगवालेको—दोनोंको अविशेषरूपसे एकाग्रसंचेतनकी प्रसिद्धि होनेसे—अनादि संसारसे बंधी हुई अतिदृढ़ मोहदुर्ग्रंथि छूट जाती है।

इससे (यह कहागया है कि) मोहग्रंथि भेद (दर्शनमोहरूपी गांठका टूटना) शुद्धात्माकी उपलब्धिका फल है॥ १९४॥

अब यह कहते हैं कि मोहग्रंथिके टूटनेसे क्या होता है:—

गाथा १९५

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**निहतमोहग्रंथी**] मोहग्रंथिको नष्ट करके, [**रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा**] रागद्वेषका क्षय करके, [**समसुख दुःखः**] सुख-दुःखमें समान होता हुआ [**श्रामण्ये भवेत्**] श्रमणता (मुनित्व) में परिणमित होता है, [**सः**] वह [**अक्षयं सौख्यं**] अक्षय सौख्यको [**लभते**] प्राप्त करता है।

१—चिन्मात्र=चैतन्यमात्र [परम आत्मा केवल चैतन्य मात्र है, जो कि अनन्त शक्तिवाला है।] २—एक अग्रका (विषयका, ध्येयका) संचेतन अर्थात् अनुभवन ध्यानका लक्षण है।

मोहग्रन्थिक्षपणाद्धि तन्मूलरागद्वेषक्षपणं ततः समसुखदुःखस्य परममाध्यस्थ्यलक्षणे श्रामण्ये भवनं ततोऽनाकुलत्वलक्षणाक्षयसौख्यलाभः। अतो मोहग्रन्थिभेदादक्षयसौख्यं फलम् ॥ १९५ ॥

अथैकाग्र्यसंचेतनलक्षणं ध्यानमशुद्धत्वमात्मनो नावहतीति निश्चिनोति—

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥ १९६ ॥

यः क्षपितमोहकलुषो विषयविरक्तो मनो निरुध्य।
समवस्थितः स्वभावे स आत्मानं भवति ध्याता ॥ १९६ ॥

आत्मनो हि परिक्षपितमोहकलुषस्य तन्मूलपरद्रव्यप्रवृत्त्यभावाद्विषयविरक्तत्वं स्यात्, ततोऽधिकरणभूतद्रव्यान्तराभावादुदधिमध्यप्रवृत्तैकपोतपतत्रिण इव अनन्यशरणस्य मनसो

टीका—मोहग्रंथिका क्षय करनेसे, मोहग्रंथि जिसका मूल है ऐसे राग द्वेपका, क्षय होता है; उससे, जिसे सुख-दुःख समान हैं ऐसे जीवका परम मध्यस्थता जिसका लक्षण है ऐसी श्रमणतामें परिणमन होता है; और उससे अनाकुलता जिसका लक्षण है ऐसे अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।

इससे (यह कहा है कि) मोहरूपीग्रंथिके छेदनेसे अक्षय सौख्यरूप फल होता है॥ १९५॥

अब, एकाग्र (एक विषयक) संचेतन जिसका लक्षण है, ऐसा ध्यान आत्मामें अशुद्धता नहीं लाता,—यह निश्चित करते हैं:—

गाथा १९६

अन्वयार्थः—[**यः**] जो [**क्षपितमोहकलुषः**] मोहमलका क्षय करके [**विषयविरक्तः**] विषयसे विरक्त होकर, [**मनः निरुध्य**] मनका निरोध करके, [**स्वभावे समवस्थितः**] स्वभावमें समवस्थित है, [**सः**] वह [**आत्मानं**] आत्माका [**ध्याता भवति**] ध्यान करनेवाला है।

टीकाः—जिसने मोहमलका क्षय किया है ऐसे आत्माके, मोहमल जिसका मूल है ऐसी परद्रव्य-प्रवृत्तिका अभाव होनेसे विषयविरक्तता होती है; उससे, समुद्रके मध्यगत जहाजके पक्षीकी भांति, अधिकरणभूत द्रव्यान्तरोंका अभाव होनेसे जिसे अन्य कोई शरण नहीं रहा है ऐसे मनका निरोध होता है। [अर्थात्—जैसे समुद्रके बीचमें पहुँचे हुये किसी एकाकी जहाज पर बैठे हुये पक्षीको उस जहाजके अतिरिक्त अन्य किसी जहाजका, वृक्षका या भूमि इत्यादिका आधार न होनेसे दूसरा कोई शरण नहीं है, इसलिये उसका उड़ना बन्द हो जाता है, उसीप्रकार विषयविरक्तता होनेसे मनको आत्मद्रव्यके अतिरिक्त किन्हीं अन्यद्रव्योंका आधार नहीं रहता इसलिये दूसरा कोई शरण न रहनेसे मन निरोधको प्राप्त होता है]; और इसलिये, मन जिसका मूल है ऐसी चंचलताका विलय होनेके कारण अनन्त-सहज-

निरोधः स्यात्। ततस्तन्मूलचञ्चलत्वविलयादनन्तसहजचैतन्यात्मनि स्वभावे समवस्थानं स्यात्। तत्तु स्वरूपप्रवृत्तानाकुलैकाग्रसंचेतनत्वात् ध्यानमित्युपगीयते। अतः स्वभावावस्थानरूपत्वेन ध्यानमात्मनोऽनन्यत्वात् नाशुद्धत्वायेति ॥ १९६ ॥

अथोपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमासूत्रयति—

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥ १९७ ॥

निहतघनघातिकर्मा प्रत्यक्षं सर्वभावतत्त्वज्ञः।
ज्ञेयान्तगतः श्रमणो ध्यायति कमर्थमसंदेहः ॥ १९७ ॥

लोको हि मोहसद्भावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकसद्भावे च सतृष्णत्वादप्रत्यक्षार्थत्वानवच्छिन्नविषयत्वाभ्यां चाभिलषितं जिज्ञासितं संदिग्धं चार्थं ध्यायन् दृष्टः, भगवान् सर्वज्ञस्तु निहतघन-

---

चैतन्यात्मक स्वभावमें समवस्थान (दृढ़तया रहना) होता है। वह स्वभाव समवस्थान तो स्वरूपमें प्रवर्तमान, अनाकुल, एकाग्रसंचेतन होनेसे ध्यान कहा जाता है।

इससे (यह निश्चित हुआ कि—) ध्यान, स्वभाव समवस्थानरूप होनेके कारण आत्मासे अनन्य होनेसे अशुद्धताका कारण नहीं होता ॥ १९६ ॥

अब, सूत्रद्वारा यह प्रश्न करते हैं कि जिनने शुद्धात्माको उपलब्ध किया है ऐसे सकलज्ञानी (सर्वज्ञ) क्या ध्याते हैं?:—

गाथा १९७

अन्वयार्थः—[**निहितघनघातिकर्मा**] जिनने घनघातिकर्मका नाश किया है, [**प्रत्यक्षं सर्वभावतत्त्वज्ञः**] जो सर्व पदार्थोंके स्वरूपको प्रत्यक्ष जानते हैं, और [**ज्ञेयान्तगतः**] जो ज्ञेयोंके पारको प्राप्त हैं, [**असंदेहः श्रमणः**] ऐसे संदेहरहित श्रमण [**कम् अर्थं**] किस पदार्थको [**ध्यायति**] ध्याते हैं?

टीकाः—लोकको (१) मोहका सद्भाव होनेसे तथा (२) ज्ञानशक्तिके प्रतिबंधक[1]का सद्भाव होनेसे, (१) वह तृष्णा सहित है, तथा (२) उसे पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हैं, और वह विषयको अवच्छेदपूर्वक* नहीं जानता, इसलिये वह (लोक) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थका ध्यान करता हुआ दिखाई देता है; परन्तु घनघातिकर्मका नाश किया जानेसे (१) मोहका अभाव होनेके कारण तथा (२) ज्ञानशक्तिके प्रतिबंधकका अभाव होनेसे, (१) तृष्णा नष्ट की गई है, तथा (२) समस्त पदार्थोंका स्वरूप प्रत्यक्ष है, तथा ज्ञेयोंका पार पा लिया है, इसलिये भगवान सर्वज्ञदेव

१—ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानशक्तिका प्रतिबंधक अर्थात् ज्ञानके रुकनेमें निमित्तभूत है।
*अवच्छेदपूर्वक=पृथक्करण करके; सूक्ष्मतासे; विशेषतासे; स्पष्टतासे।

घातिकर्मतया मोहाभावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकाभावे च निरस्ततृष्णत्वात्प्रत्यक्षसर्वभावतत्त्वज्ञेयान्तगतत्वाभ्यां च नाभिलषति न जिज्ञासति न संदिह्यति च कुतोऽभिलषितो जिज्ञासितः संदिग्धश्चार्थः। एवं सति किं ध्यायति ॥ १९७ ॥

अथैतदुपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी ध्यायतीत्युत्तरमासूत्रयति—

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो ।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥ १९८ ॥

सर्वाबाधवियुक्तः समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः ।
भूतोऽक्षातीतो ध्यायत्यनक्षः परं सौख्यम् ॥ १९८ ॥

अभिलाषा नहीं करते, जिज्ञासा नहीं करते, और संदेह नहीं करते; तब फिर (उनके) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ कहाँसे हो सकता है? जबकि ऐसा है तब फिर वे क्या ध्याते हैं?

भावार्थः—लोकके (जगत्के सामान्य जीव समुदायके) मोहकर्मका सद्भाव होनेसे वह तृष्णा सहित है, इसलिये उसे इष्ट पदार्थकी अभिलाषा होती है; और उसके ज्ञानावरणीय कर्मका सद्भाव होनेसे वह बहुतसे पदार्थोंको तो जानता ही नहीं है, तथा जिस पदार्थको जानता है उसे भी पृथक्करण पूर्वक सूक्ष्मतासे—स्पष्टतासे नहीं जानता, इसलिये उसे अज्ञात पदार्थको जाननेकी इच्छा (जिज्ञासा) होती है, और अस्पष्टतया जाने हुये पदार्थके संबंधमें संदेह होता है। ऐसा होनेसे उसके अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थका ध्यान संभवित होता है। परन्तु सर्वज्ञ भगवानके तो मोह कर्मका अभाव होनेसे वे तृष्णारहित हैं, इसलिये उनके अभिलाषा नहीं है; और उनके ज्ञानावरणीय कर्मका अभाव होनेसे वे समस्त पदार्थोंको जानते हैं तथा प्रत्येक पदार्थको अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक परिपूर्णतया जानते हैं, इसलिये उन्हें जिज्ञासा या सन्देह नहीं है। इसप्रकार उन्हें किसी पदार्थके प्रति अभिलाषा, जिज्ञासा या सन्देह नहीं होता; तब फिर उन्हें किस पदार्थका ध्यान होता है? ॥ १९७ ॥

अब, सूत्र द्वारा (उपरोक्त गाथाके प्रश्नका) उत्तर देते हैं कि—जिसने शुद्धात्माको उपलब्ध किया है वह सकलज्ञानी इस (परमसौख्य) का ध्यान करता है:—

गाथा १९८

अन्वयार्थः—[**अनक्षः**] अनिन्द्रिय और [**अक्षातीतः भूतः**] इन्द्रियातीत हुआ आत्मा [**सर्वाबाधवियुक्तः**] सर्व बाधा रहित और [**समंतसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः**] सम्पूर्ण आत्मामें समंत (सर्वप्रकारके, परिपूर्ण) सौख्य तथा ज्ञानसे समृद्ध रहता हुआ [**परं सौख्यं**] परमसौख्यका [**ध्यायति**] ध्यान करता है।

अयमात्मा यदैव सहजसौख्यज्ञानबाधायतनानामसार्वदिकासकलपुरुषसौख्यज्ञानायतनानां चाक्षाणामभावात्स्वयमनक्षत्वेन वर्तते तदैव परेषामक्षातीतो भवन् निराबाधसहजसौख्यज्ञानत्वात् सर्वाबाधवियुक्तः, सार्वदिकसकलपुरुषसौख्यज्ञानपूर्णत्वात्समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यश्च भवति। एवंभूतश्च सर्वाभिलाषजिज्ञासासंदेहासंभवेऽप्यपूर्वमनाकुलत्वलक्षणं परमसौख्यं ध्यायति। अनाकुलत्वसंगतैकाग्रसंचेतनमात्रेणावतिष्ठत इति यावत्। ईदृशमवस्थानं च सहजज्ञानानन्दस्वभावस्य सिद्धत्वस्य सिद्धिरेव ॥ १९८ ॥

अथायमेव शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षस्य मार्ग इत्यवधारयति—

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥ १९९ ॥

टीका:—जब यह आत्मा, जो सहज सुख और ज्ञानकी बाधाके आयतन[1] हैं (ऐसी) तथा जो असकल आत्मामें[2] असर्वप्रकार[3] के सुख और ज्ञानके आयतन हैं ऐसी इन्द्रियोंके अभावके कारण स्वयं 'अतीन्द्रिय'रूपसे वर्तता है, उसी समय वह दूसरोंको 'इन्द्रियातीत' (इन्द्रियअगोचर) वर्तता हुआ निराबाध सहजसुख और ज्ञानवाला होनेसे 'सर्वबाधा रहित' तथा सकल आत्मामें सर्वप्रकारके (परिपूर्ण) सुख और ज्ञानसे परिपूर्ण होनेसे 'समस्त आत्मामें समंत सौख्य और ज्ञानसे समृद्ध' होता है। इसप्रकारका वह आत्मा सर्व अभिलाषा, जिज्ञासा और संदेहका असंभव होनेपर भी अपूर्व और अनाकुलत्व लक्षण परमसौख्यका ध्यान करता है; अर्थात् अनाकुलत्वसंगत एक 'अग्र' के संचेतन मात्ररूपसे अवस्थित रहता है, (अर्थात् अनाकुलताके साथ रहनेवाले एक आत्मारूपी विषयके अनुभवन रूप ही मात्र स्थित रहता है) और ऐसा अवस्थान सहज ज्ञानानन्दस्वभाव सिद्धत्वकी सिद्धि ही है। (अर्थात् इसप्रकार स्थित रहना, सहजज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है ऐसे सिद्धत्वकी प्राप्ति ही है।)

भावार्थ:—१९७ वीं गाथामें प्रश्न उपस्थित किया गया था कि सर्वज्ञभगवानको किसी पदार्थके प्रति अभिलाषा, जिज्ञासा या सन्देह नहीं है तब फिर वे किस पदार्थका ध्यान करते हैं? उसका उत्तर इस गाथा में इसप्रकार दिया गया है कि:—एक अग्र (विषय) का संवेदन ध्यान है। सर्व आत्मप्रदेशोंमें परिपूर्ण आनन्द और ज्ञानसे भरे हुये सर्वज्ञ भगवान परमानन्दसे अभिन्न निजात्मारूपी एक विषयका संवेदन करते हैं इसलिये उनके परमानन्दका ध्यान है, अर्थात् वे परमसौख्यका ध्यान करते हैं ॥ १९८ ॥

अब, यह निश्चित करते हैं कि—'यही (पूर्वोक्त ही) शुद्ध आत्माकी उपलब्धि जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्षका मार्ग है':—

गाथा १९९

अन्वयार्थ:—[जिनाः जिनेन्द्राः श्रमणाः] जिन, जिनेन्द्र और श्रमण (अर्थात्

१–आयतन=निवास; स्थान। २–असकल आत्मामें=आत्माके सर्व प्रदेशोंमें नहीं किन्तु थोड़े ही प्रदेशोंमें। ३–असर्वप्रकारके=सभी प्रकारके नहीं किन्तु अमुक ही प्रकारके; अपूर्ण [यह अपूर्ण सुख परमार्थतः दुःखरूप भाव होने पर भी, उसे 'सुख' कहनेकी व्यवहारमात्र रूढ़ि है।]

एवं जिना जिनेन्द्राः सिद्धा मार्गं समुत्थिताः श्रमणाः ।
जाता नमोऽस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय ॥ १९९ ॥

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः, न पुनरन्यथापि। ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति । अलं च प्रपञ्चेन । तेषां शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तानां सिद्धानां तस्य शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपस्य मोक्षमार्गस्य च प्रत्यस्तमितभाव्य-भावकविभागत्वेन नोआगमभावनमस्कारोऽस्तु । अवधारितो मोक्षमार्गः कृत्यमनुष्ठीयते ॥१९९॥

अथोपसंपद्ये साम्यमिति पूर्वप्रतिज्ञां निर्वहन् मोक्षमार्गभूतां स्वयमपि शुद्धात्मप्रवृत्तिमासूत्रयति—

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण ।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ॥ २०० ॥

तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन ।
परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्वे ॥ २०० ॥

सामान्यकेवली, तीर्थंकर और मुनि) [**एवं**] इस (पूर्वोक्त ही) प्रकारसे [**मार्गं समुत्थिताः**] मार्गमें आरूढ़ होते हुये [**सिद्धाः जाताः**] सिद्ध हुये [**नमोऽस्तु**] नमस्कार हो [**तेभ्यः**] उन्हें [**च**] और [**तस्मै निर्वाण मार्गाय**] उस निर्वाणमार्गको।

टीका:—सभी सामान्य चरमशरीरी, तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्वप्रवृत्तिलक्षण विधिसे प्रवर्तमान मोक्षमार्गको प्राप्त करके सिद्ध हुये; किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधिसे भी सिद्ध हुये हों। इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्षका मार्ग है, दूसरा नहीं। अधिक विस्तारसे पूरा पड़े। उस शुद्धात्मतत्वमें प्रवर्ते हुवे सिद्धोंको तथा उस शुद्धात्मतत्व-प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्गको, जिसमेंसे [1]भाव्य—भावकका विभाग अस्त होगया है ऐसा नोआगमभाव-नमस्कार हो! (इसप्रकार) मोक्षमार्ग निश्चित किया है, (और उसमें) प्रवृत्ति कर रहे हैं ॥ १९९ ॥

अब, 'साम्यको प्राप्त करता हूँ' ऐसी (पांचवीं गाथामें की गई) पूर्वप्रतिज्ञाका निर्वाह करते हुये (आचार्यदेव) स्वयं भी मोक्षमार्गभूत शुद्धात्मप्रवृत्ति करते हैं:—

गाथा २००

अन्वयार्थः—[**तस्मात्**] ऐसा होनेसे (अर्थात् शुद्धात्मामें प्रवृत्तिके द्वारा ही मोक्ष होता होनेसे) [**तथा**] इसप्रकार [**आत्मानं**] आत्माको [**स्वभावेन ज्ञायकं**] स्वभावसे ज्ञायक

१=भाव्य=ध्येय; भावक=ध्याता;

अहमेष मोक्षाधिकारी ज्ञायकस्वभावात्मतत्त्वपरिज्ञानपुरस्सरममत्वनिर्ममत्वहानोपादानविधानेन कृत्यान्तरस्याभावात्सर्वारम्भेण शुद्धात्मनि प्रवर्ते । तथाहि—अहं हि तावत् ज्ञायक एव स्वभावेन, केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहजज्ञेयज्ञायकलक्षण एव संबन्धः न पुनरन्ये स्वस्वामिलक्षणादयः संबन्धाः । ततो मम न क्वचनापि ममत्वं सर्वत्र निर्ममत्वमेव । अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं ज्ञेयज्ञायकलक्षणसंबन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वादुपात्तवैश्वरूप्यमपि सहजानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेनैक्यरूप्यमनुज्झन्तमासंसारमनयैव स्थित्या स्थितं मोहेनान्यथाध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाय यथास्थितमेवातिनिःप्रकम्पः संप्रतिपद्ये । स्वयमेव भवतु चास्यैवं दर्शनविशुद्धिमूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाध-

[**ज्ञात्वा**] जानकर [**निर्ममत्वे उपस्थितः**] मैं निर्ममत्वमें स्थित रहता हुआ [**ममतां परिवर्जयामि**] ममताका परित्याग करता हूँ ।

टीका:—मैं यह मोक्षाधिकारी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्वके परिज्ञानपूर्वक ममत्वकी त्यागरूप और निर्ममत्वकी ग्रहणरूप विधिके द्वारा सर्व आरम्भ (उद्यम) से शुद्धात्मामें प्रवृत्त होता हूँ, क्योंकि अन्य कृत्यका अभाव है । (अर्थात् दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है ।) वह इसप्रकार है (अर्थात् मैं इसप्रकार शुद्धात्मामें प्रवृत्त होता हूँ):—प्रथम तो मैं स्वभावसे ज्ञायक ही हूँ; केवल ज्ञायक होनेसे मेरा विश्व (समस्तपदार्थों) के साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण संबंध ही है, किन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बंध नहीं हैं; इसलिये मेरा किसीके प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है ।

अब, एक ज्ञायकभावका समस्त ज्ञेयोंको जाननेका स्वभाव होनेसे, क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्रपर्यायसमूहवाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर[1] समस्त द्रव्यमात्रको—मानों वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित होगये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समागये हों, प्रतिबिम्बित हुये हों, इसप्रकार—एक क्षणमें ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है, ज्ञेयज्ञायकलक्षण[2] संबंधकी अनिवार्यताके कारण ज्ञेय—ज्ञायकको भिन्न करना अशक्य होनेसे विश्वरूपताको प्राप्त होता हुआ भी जो (शुद्धात्मा) सहज अनन्तशक्तिवाले ज्ञायकस्वभावके द्वारा एकरूपताको नहीं छोड़ता, जो अनादि संसारसे इसी स्थितिमें (ज्ञायकभावरूप ही) रहा है, और जो मोहके द्वारा दूसरे रूपमें जाना—माना जाता है उस शुद्धात्माको यह मैं मोहको उखाड़ फेंककर,

१—जिनका स्वभाव अगाध है और जो गंभीर हैं, ऐसे समस्त द्रव्योंको भूत, वर्तमान तथा भावी कालके क्रमसे होनेवाली, अनेक प्रकारकी अनन्त पर्यायोंसे युक्त एक समयमें ही प्रत्यक्ष जानना आत्माका स्वभाव है । २—ज्ञेयज्ञायकस्वरूप संबंध टाला नहीं जासकता, इसलिये यह अशक्य है कि ज्ञेय ज्ञायकमें ज्ञात न हों, इसलिये आत्मा मानो समस्त द्रव्यरूपताको प्राप्त होता है ।

रतत्वात्साधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य स्वात्मनस्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरायणत्वलक्षणो भावनमस्कारः ॥ २०० ॥

❀ शालिनी छन्द ❀

जैनं ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ
स्फीतं शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य ॥
संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या
नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम् ॥ १० ॥

❀ शालिनी छन्द ❀

ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं
ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम् ।
आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मान्यभासि
स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः ॥ ११ ॥

अतिनिष्कम्प रहता हुआ यथास्थित (जैसाका तैसा) ही प्राप्त करता हूँ।

इसप्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञानमें उपयुक्तताके कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होनेसे, साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत निज आत्माको तथा सिद्धभूत परमात्माओंको, उसीमें[1] एकपरायणता जिसका लक्षण है ऐसा भावनमस्कार सदा ही स्वयमेव[2] हो ॥ २०० ॥

[अब श्लोकद्वारा जिनेन्द्रोक्त शब्दब्रह्मके सम्यक् अभ्यासका फल कहा जाता है]:—

अर्थः—इसप्रकार ज्ञेयतत्वको समझानेवाले जैन ज्ञानमें—विशाल शब्दब्रह्म में—सम्यक्तया अवगाहन करके (डुबकी लगाकर, गहराईमें उतरकर निमग्न होकर) हम मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप एक वृत्तिसे (परिणतिसे) सदा युक्त रहते हैं ॥ १० ॥

[अब श्लोकके द्वारा मुक्तात्माके ज्ञानकी महिमा गाकर ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापनाधिकारकी पूर्णाहुति की जा रही है।]:—

अर्थः—आत्मा ब्रह्मको (परमात्मत्वको, सिद्धत्वको) शीघ्र प्राप्त करके, असीम (अनन्त) विश्वको शीघ्रतासे (एक समयमें) ज्ञेयरूप करता हुआ, भेदोंको प्राप्त ज्ञेयोंको ज्ञानरूप करता हुआ (अनेक प्रकारके ज्ञेयोंको ज्ञानमें जानता हुआ) और स्वपरप्रकाशक ज्ञानको आत्मारूप करता हुआ, प्रगट—देदीप्यमान होता है ॥ ११ ॥

१—उसीमें=नमस्कार करने योग्य पदार्थमें; भाव्यमें। [मात्र भाव्यमें ही परायण, एकाग्र, लीन होना भावनमस्कारका लक्षण है।] २—स्वयमेव=[आचार्यदेव शुद्धात्मामें लीन होते हैं इसलिये स्वयमेव भावनमस्कार हो जाता है।]

❀ वसन्ततिलका छन्द ❀

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम् ।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥ १२ ॥

इति तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनो नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥ २ ॥

[अब श्लोक द्वारा, द्रव्य और चरणका संबंध बतलाकर, ज्ञेयतत्वप्रज्ञापन नामक द्वितीयाधिकार की और चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तृतीयाधिकारकी संधि बतलाई जाती है ।]:—

अर्थः—चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है । इसप्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं; इसलिये या तो द्रव्यका आश्रय लेकर अथवा तो चरणका आश्रय लेकर मुमुक्षु (ज्ञानी, मुनि) मोक्ष मार्गमें आरोहण करो ।

इसप्रकार (श्री भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री प्रवचनसार शास्त्रकी श्रीमदमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित तत्वदीपिकानामक टीकाका यह 'ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन' नामक द्वितीयस्कंध (का भाषानुवाद) समाप्त हुआ ।
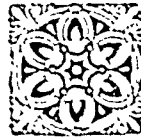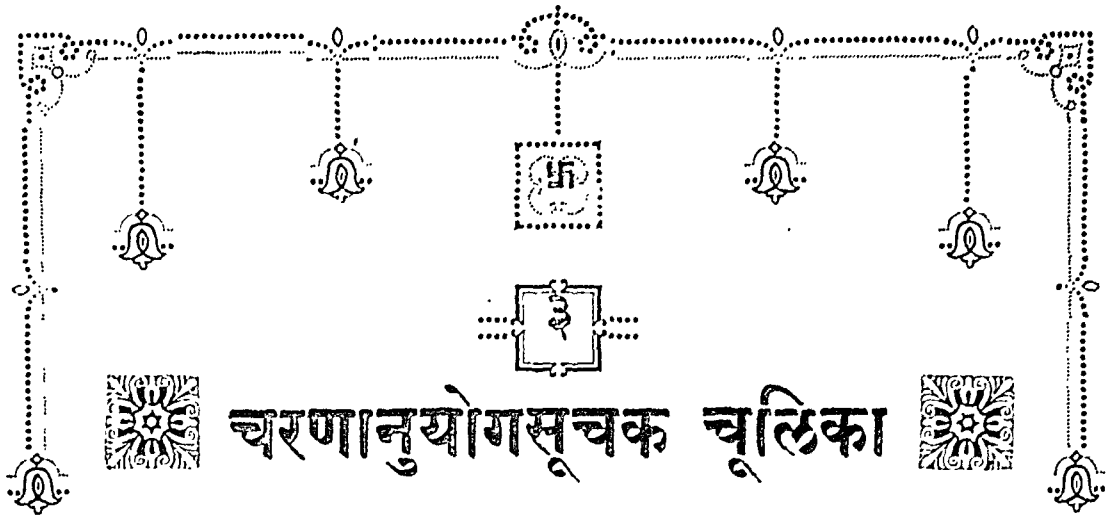
चरणानुयोगसूचक चूलिका

अथ परेषां चरणानुयोगसूचिका चूलिका ।

तत्र—

❀ इन्द्रवज्रा छन्द ❀

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ॥ १३ ॥

इति चरणाचरणे परान् प्रयोजयति—

'एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं। पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स

— ३ —
चरणानुयोगसूचक चूलिका

अब दूसरोंको चरणानुयोगकी सूचक चूलिका[1] है ।

[उसमें, प्रथम श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव श्लोकके द्वारा अब इस-आगामी गाथाकी उत्थानिका करते हैं।]

[अर्थः—] द्रव्यकी सिद्धिमें चरणकी सिद्धि है, और चरणकी सिद्धिमें द्रव्यकी सिद्धि है,— यह जानकर, कर्मोंसे (शुभाशुभ भावोंसे) अविरत दूसरे भी, द्रव्यसे अविरुद्ध चरण (चारित्र) का आचरण करो।

—इसप्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस आगामी गाथाके द्वारा) दूसरोंको चरण (चारित्र) के आचरण करनेमें योजित करते (जोड़ते) हैं।

१—चूलिका=जो शास्त्रमें नहीं कहा गया है, उसका व्याख्यान करना, अथवा कथितका विशेष व्याख्यान करना या दोनोंका यथायोग्य व्याख्यान करना।

कत्तारं ॥ सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे । समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥ ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं । वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥'

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ २०१ ॥

एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुनः पुनः श्रमणान् ।
प्रतिपद्यतां श्रामण्यं यदीच्छति दुःखपरिमोक्षम् ॥ २०१ ॥

यथा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिना, 'किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं । अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेदि सव्वेसिं ॥ तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज । उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥' इति अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां प्रणतिवन्दनात्मक-

[अब गाथाके प्रारंभ करनेसे पूर्व उसकी संधिके लिये श्री अमृतचन्द्राचार्य देवने पंच परमेष्ठीको नमस्कार करनेके लिये निम्नप्रकारसे ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकारकी प्रथम तीन गाथायें लिखी हैं:—

"एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥"

[अब, इस अधिकारकी गाथा प्रारंभ करते हैं:—]

गाथा २०१

अन्वयार्थः—[**यदि दुःखपरिमोक्षम् इच्छति**] यदि दुःखोंसे परिमुक्त होनेकी (छुटकारा पानेकी) इच्छा हो तो, [**एवं**] पूर्वोक्त प्रकारसे (ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापनकी प्रथम तीन गाथाओंके अनुसार) [**पुनः पुनः**] बारंबार [**सिद्धान्**] सिद्धोंको, [**जिनवरवृषभान्**] जिनवरवृषभोंको (अर्हन्तोंको) तथा [**श्रमणान्**] श्रमणोंको [**प्रणम्य**] प्रणाम करके [**श्रामण्यं प्रतिपद्यताम्**] (जीव) श्रामण्यको अंगीकार करो।

टीकाः—जैसे दुःखोंसे मुक्त होनेके अर्थी मेरे आत्माने—* "किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं । अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेदि सव्वेसिं ॥ तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज । उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥"

* यह, ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनकी चौथी और पांचवीं गाथायें हैं।

नमस्कारपुरःसरं विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानं साम्यनाम श्रामण्यमवान्तरग्रन्थसन्दर्भोभयसंभावितसौस्थित्यं स्वयं प्रतिपन्नं परेषामात्मापि यदि दुःखमोक्षार्थी तथा तत्प्रतिपद्यतां यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मनः प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति ॥ २०१ ॥

अथ श्रमणो भवितुमिच्छन् पूर्वं किं किं करोतीत्युपदिशति—

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥ २०२ ॥

आपृच्छ्य बन्धुवर्गं विमोचितो गुरुकलत्रपुत्रैः ।
आसाद्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ॥ २०२ ॥

यो हि नाम श्रमणो भवितुमिच्छति स पूर्वमेव बन्धुवर्गमापृच्छते, गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति । तथाहि—एवं बन्धुवर्गमापृच्छते, अहो

इसप्रकार अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधुओंको प्रणाम[1]—वंदनात्मक नमस्कारपूर्वक [2]विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान साम्यनामक श्रामण्यको—जिसका इस ग्रंथमें कहेहुवे (ज्ञानतत्व—प्रज्ञापन और ज्ञेयतत्व-प्रज्ञापन नामक) दो अधिकारोंकी रचना द्वारा सुस्थितपन हुआ है उसे—स्वयं अंगीकार किया, उसीप्रकार दूसरोंका आत्मा भी, यदि दुःखोंसे मुक्त होनेका अर्थी (इच्छुक) हो तो, उसे अंगीकार करे। उस (श्रामण्य) को अंगीकार करनेका जो [3]यथानुभूत मार्ग है उसके प्रणेता हम यह खड़े हुये हैं ॥ २०१ ॥

अब, श्रमण होनेका इच्छुक पहले क्या क्या करता है उसका उपदेश करते हैं :—

गाथा २०२

अन्वयार्थः—(श्रामण्यार्थी) [**बन्धुवर्गम् आपृच्छ्य**] बंधुवर्गसे विदा मांगकर [**गुरुकलत्रपुत्रैः विमोचितः**] बड़ोंसे तथा स्त्री और पुत्रसे मुक्त होता हुआ [**ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् आसाद्य**] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारको अंगीकार करके ....

टीका:—जो श्रमण होना चाहता है वह पहले ही बंधुवर्गसे (सगे—संबंधियोंसे) विदा मांगता है, गुरुजनों (बड़ों) से तथा स्त्री और पुत्रोंसे अपनेको छुड़ाता है, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारको अंगीकार करता है। वह इसप्रकार है :—

१—नमस्कार प्रणाम-वंदनमय है। (विशेषके लिये देखो पृष्ठ ? का फुटनोट) २—विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान=जिसमें विशुद्ध दर्शन और ज्ञान प्रधान है ऐसा। [साम्य नामक श्रामण्यमें विशुद्ध दर्शन और ज्ञान प्रधान है।] ३—यथानुभूत=जैसा (हमने) अनुभव किया है, वैसा।

इदंजनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः, अस्य जनस्य आत्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत तत आपृष्टा यूयं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति। अहो इदंजनशरीरजनकस्यात्मन्, अहो इदंजनशरीरजनन्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं तत इममात्मानं युवां विमुञ्चतं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति। अहो इदंजनशरीररमण्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मानं न त्वं रमयसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादिरमणीमुपसर्पति। अहो इदंजनशरीरपुत्रस्यात्मन्, अस्य जनस्यात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजन्यमुपसर्पति। एवं गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति। तथा अहोकालविनयोपधानबहुमानानिह्नवार्थ-

बंधुवर्गसे इसप्रकार विदा लेता है:– अहो! इस पुरुषके शरीरके बंधुवर्गमें प्रवर्तमान आत्माओं! इस पुरुषका आत्मा किंचिन्मात्र भी तुम्हारा नहीं है,—इसप्रकार तुम निश्चयसे जानो। इसलिए मैं तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी अपने अनादिबंधुके पास जारहा है।

अहो! इस पुरुषके शरीरके जनक (पिता) के आत्मा! अहो! इस पुरुषके शरीरकी जननी (माता) के आत्मा! इस पुरुषका आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है, ऐसा तुम निश्चयसे जानो। इसलिये तुम इस आत्माको छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनकके पास जारहा है।

अहो! इस पुरुषके शरीरकी रमणी (स्त्री) के आत्मा! तू इस पुरुषके आत्माको रमण नहीं कराता, ऐसा तू निश्चयसे जान। इसलिये तू इस आत्माको छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादि-रमणीके पास जारहा है।

अहो! इस पुरुषके शरीरके पुत्रके आत्मा! तू इस पुरुषके आत्माका जन्य (उत्पन्न किया गया,—पुत्र) नहीं है, ऐसा तू निश्चयसे जान। इसलिये तू इस आत्माको छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि जन्यके पास जारहा है। इसप्रकार बड़ोंसे स्त्रीसे और पुत्रसे अपनेको छुड़ाता है।

(यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जो जीव मुनि होना चाहता है वह कुटुम्बसे सर्वप्रकारसे विरक्त ही होता है। इसलिये कुटुम्बकी सम्मतिसे ही मुनि होनेका नियम नहीं है। इसप्रकार कुटुम्बके भरोसे रहने पर तो,—यदि कुटुम्ब किसीप्रकारसे सम्मति ही नहीं दे तो मुनि ही नहीं हुआ जासकेगा! इसप्रकार कुटुम्बको सम्मत करके ही मुनित्वके धारण करनेका नियम न होने पर भी कुछ जीवोंके मुनि होनेसे पूर्व वैराग्यके कारण कुटुम्बको समझानेकी भावनासे पूर्वोक्त प्रकारके वचन निकलते हैं। ऐसे वैराग्यके वचन सुनकर, कुटुम्बमें यदि कोई अल्पसंसारी जीव हो तो वह भी वैराग्यको प्राप्त होता है।)

व्यञ्जनतदुभयसंपन्नत्वलक्षणज्ञानाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे। अहो निःशङ्कितत्वनिःकाङ्क्षितत्व-निर्विचिकित्सत्वनिर्मूढदृष्टित्वोपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणदर्शनाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत् त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे। अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपण-प्रतिष्ठापनसमितिलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे। अहो अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायध्यानव्युत्सर्गलक्षणतप-आचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसा-

(अब निम्नप्रकारसे पंचाचारको अंगीकार करता है:)

(जिसप्रकार बंधुवर्गसे विदा ली, अपनेको बड़ोंसे और स्त्रीपुत्रसे छुड़ाया) उसीप्रकार–अहो काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन, और तदुभयसंपन्न ज्ञानाचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है; तथापि मैं तुझे तभी तक अंगीकार करता हूँ जबतक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्माको उपलब्ध करलूं। अहो निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावनास्वरूप दर्शनाचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है, तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध करलूं। अहो मोक्षमार्गमें प्रवृत्तिके कारणभूत, पंचमहाव्रतसहित काय-वचन-मनगुप्ति और ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेपण-प्रतिष्ठापन समितिस्वरूप चारित्राचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है, तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूँ जबतक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध करलूं। अहो अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्गस्वरूप तपाचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूँ जबतक तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूँ ! अहो समस्त इतर (वीर्याचारके अतिरिक्त अन्य) आचारमें प्रवृत्ति करानेवाली स्वशक्तिके अगोपनस्वरूप वीर्याचार ! मैं यह निश्चयसे जानता हूँ कि तू शुद्धात्माका नहीं है, तथापि तुझे तबतक अंगीकार करता हूँ जबतक कि तेरे प्रसादसे शुद्धात्माको उपलब्ध कर लूँ।—इसप्रकार ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचारको अंगीकार करता है।

(सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूपको जानता है—अनुभव करता है, और अपनेको अन्य समस्त व्यवहारभावोंसे भिन्न जानता है। जबसे उसे स्व-परका विवेक स्वरूप भेद विज्ञान प्रगट हुआ था तभी से वह समस्त विभावभावोंका त्याग कर चुका है और तभीसे उसने टंकोत्कीर्ण निजभाव अंगीकार किया है। इसलिये उसे न तो त्याग करनेको रहा है और न कुछ ग्रहण करनेको—अंगीकार करनेको रहा है। स्वभावदृष्टिकी अपेक्षासे ऐसा होने पर भी, वह पर्यायमें पूर्वबद्धकर्मोंके उदयके निमित्तसे अनेक प्रकारके

दात् शुद्धमात्मानमुपलभे। अहो समस्तेतराचारप्रवर्तकस्वशक्त्यनिगूहनलक्षणवीर्याचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे। एवं ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति च ॥ २०२ ॥

अथातः कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥ २०३ ॥

श्रमणं गणिनं गुणाढ्यं कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम्।
श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीतः ॥ २०३ ॥

ततो हि श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति। तथाहि—आचरिताचारितसमस्तविरतिप्रवृत्तिसमानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणं, एवंविधश्रामण्याचरणाचारणप्रवीणत्वात् गुणाढ्यं, सकललौकिकजननिःशङ्कसेवनीयत्वात् कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टं, अन्तरङ्ग-

विभावभावरूप परिणमित होता है। इस विभावपरिणतिको पृथक् होती न देखकर वह आकुल-व्याकुल भी नहीं होता, और वह सकल विभाव परिणतिको दूर करनेका पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता। सकल विभाव परिणतिसे रहित स्वभावदृष्टिके बलस्वरूप पुरुषार्थसे गुणस्थानोंकी परिपाटीके सामान्य क्रमानुसार उसके प्रथम अशुभपरिणतिकी हानि होती है, और फिर धीरे धीरे शुभपरिणति भी छूटती जाती है। ऐसा होनेसे वह शुभरागके उदयकी भूमिकामें गृहवासका और कुटुम्बका त्यागी होकर व्यवहाररत्नत्रयरूप पंचाचारको अंगीकार करता है। यद्यपि वह ज्ञानभावसे समस्त शुभाशुभ क्रियाओंका त्यागी है तथापि पर्यायमें शुभराग नहीं छूटनेसे वह पूर्वोक्तप्रकारसे पंचाचारको ग्रहण करता है।) ॥ २०२ ॥

इसके बाद वह कैसा होता है इसका उपदेश करते हैं:—

गाथा २०३

अन्वयार्थः—[**श्रमणं**] जो श्रमण है, [**गुणाढ्यं**] गुणाढ्य है, [**कुलरूपवयो विशिष्टं**] कुल, रूप तथा वयसे विशिष्ट है, और [**श्रमणैः इष्टतरं**] श्रमणोंको अति इष्ट है [**तम् अपि गणिनं**] ऐसे गणीको [**माम् प्रतीच्छ इति**] 'मुझे स्वीकार करो' ऐसा कहकर [**प्रणतः**] प्रणत होता है (प्रणाम करता है) [**च**] और [**अनुगृहीतः**] अनुगृहीत होता है।

टीका:—पश्चात् श्रामण्यार्थी प्रणत और अनुगृहीत होता है। वह इसप्रकारसे है कि—आचरण करनेमें और आचरण करानेमें आनेवाली समस्त विरतिकी प्रवृत्तिके [1]समान आत्मरूप—ऐसे श्रामण्यपनेके

१—समान=तुल्य, बराबर, एकसा, मिलता हुआ। [विरतिकी प्रवृत्तिके तुल्य आत्मरूप अर्थात् विरतिकी प्रवृत्तिसे मिलती हुई—समान जो आत्मदशा है सो श्रामण्य है।]

शुद्धरूपानुमापकबहिरङ्गशुद्धरूपत्वात् रूपविशिष्टं, शैशववार्धक्यकृतबुद्धिविक्लवत्वाभावाद्यौवनोद्रेकविक्रियाविविक्तबुद्धित्वाच्च वयोविशिष्टं, निःशेषितयथोक्तश्रामण्याचरणाचारणविषयपौरुषेयदोषत्वेन मुमुक्षुभिरभ्युपगततरत्वात् श्रमणैरिष्टतरं च गणिनं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकमाचार्यं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्ध्या मामनुगृहाणेत्युपसर्पन् प्रणतो भवति। एवमियं ते शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धिरिति तेन प्रार्थितार्थेन संयुज्यमानोऽनुगृहीतो भवति॥ २०३॥

अथातोऽपि कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो॥ २०४॥

नाहं भवामि परेषां न मे परे नास्ति ममेह किंचित्।
इति निश्चितो जितेन्द्रियः जातो यथाजातरूपधरः॥ २०४॥

के कारण जो 'श्रमण' है; ऐसे श्रामण्यका आचरण करनेमें और आचरण करानेमें प्रवीण होनेसे जो 'गुणाढ्य'[1] है; सर्वलौकिकजनोंके द्वारा निःशंकतया सेवा करने योग्य होनेसे और कुलक्रमागत क्रूरतादि दोषोंसे रहित होनेसे जो 'कुलविशिष्ट' है; अंतरंग शुद्धरूपका अनुमान करानेवाला बहिरंग शुद्धरूप होनेसे जो 'रूपविशिष्ट' है, बालकत्व और वृद्धत्वसे होनेवाली बुद्धिविक्लवता[2] का अभाव होनेसे तथा यौवनोद्रेक[3] की विक्रियासे रहित बुद्धि होनेसे जो 'वय विशिष्ट' है; और यथोक्त श्रामण्यका आचरण करने तथा आचरण कराने संबंधी पौरुषेय[4] दोषोंको निःशेषतया नष्ट करदेनेसे मुमुक्षुओंके द्वारा (प्रायश्चित्तादिके लिये) जिनका बहुआश्रय लिया जाता है इसलिये जो 'श्रमणोंको अतिइष्ट' है, ऐसे गणीके निकट—शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धिके साधक आचार्यके निकट—'शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धिरूप सिद्धिसे मुझे अनुगृहीत करो' ऐसा कहकर (श्रामण्यार्थी) जाता हुआ प्रणत होता है। 'इसप्रकार यह तुझे शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धिरूप सिद्धि' ऐसा (कहकर) उस गणीके द्वारा (वह श्रामण्यार्थी) प्रार्थित[5] अर्थसे संयुक्त कियाजाता हुआ अनुगृहीत होता है॥ २०३॥

और फिर वह कैसा होता है, सो उपदेश करते हैं:—

गाथा २०४

अन्वयार्थः—[**अहं**] मैं [**परेषां**] दूसरोंका [**न भवामि**] नहीं हूँ [**परे मे न**] पर मेरे नहीं हैं, [**इह**] इस लोकमें [**मम**] मेरा [**किंचित्**] कुछ भी [**न अस्ति**] नहीं है,—[**इति निश्चितः**] ऐसा निश्चयवान् और [**जितेन्द्रियः**] जितेन्द्रिय होता हुआ [**यथाजातरूपधरः**] यथाजात रूपधर (सहजरूपधारी) [**जातः**] होता है।

१—गुणाढ्य= गुणोंसे समृद्ध; गुणोंसे परिपूर्ण। २—विक्लवता=अस्थिरता; विकलता। ३—यौवनोद्रेक=यौवनका जोश, यौवनकी अतिशयता। ४—पौरुषेय=मनुष्यके लिये संभवित। ५—प्रार्थित अर्थ=प्रार्थना करके मांगी गई वस्तु।

ततोऽपि श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधरो भवति । तथाहि—अहं तावन्न किंचिदपि परेषां भवामि परेऽपि न किंचिदपि मम भवन्ति, सर्वद्रव्याणां परैः सह तत्त्वतः समस्तसंबन्धशून्यत्वात् । तदिह षड्द्रव्यात्मके लोके न मम किंचिदप्यात्मनोऽन्यदस्तीति निश्चितमतिः परद्रव्यस्वस्वामिसंबन्धनिबंधनानामिन्द्रियनोइन्द्रियाणां जयेन जितेन्द्रियश्च सन् धृतयथानिष्पन्नात्मद्रव्यशुद्धरूपत्वेन यथाजातरूपधरो भवति ॥ २०४ ॥

अथैतस्य यथाजातरूपधरत्वस्यासंसारानभ्यस्तत्वेनात्यन्तमप्रसिद्धस्याभिनवाभ्यासकौशलोपलभ्यमानायाः सिद्धेर्गमकं बहिरङ्गान्तरङ्गलिङ्गद्वैतमुपदिशति—

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥ २०५ ॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥ २०६ ॥ [जुगलं]

टीका:—और फिर तत्पश्चात् श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधर[1] होता है । वह इसप्रकार कि:—'प्रथम तो मैं किंचित्मात्र भी परका नहीं हूँ, पर भी किंचित्मात्र मेरे नहीं हैं, क्योंकि समस्त द्रव्य तत्त्वतः[2] परके साथ समस्त संबंधरहित हैं; इसलिये इस षड्द्रव्यात्मकलोकमें आत्मासे अन्य कुछ भी मेरा नहीं है;'—इसप्रकार निश्चित मतिवाला (वर्तता हुआ) और परद्रव्योंके साथ स्व-स्वामि संबंध जिनका आधार है ऐसी इन्द्रियों और नो इन्द्रियोंके जयसे जितेन्द्रिय होता हुआ वह (श्रामण्यार्थी) आत्मद्रव्यका यथानिष्पन्न[3] शुद्धरूप धारण करनेसे यथाजातरूपधर होता है ॥ २०४ ॥

अब, अनादिसंसारसे अनभ्यस्त होनेसे जो अत्यन्त अप्रसिद्ध है ऐसे इस यथाजातरूपधरत्वके बहिरंग और अंतरंग दो लिंगोंका—जो कि अभिनव[4] अभ्यासमें कुशलतासे उपलब्ध होनेवाली सिद्धिके सूचक हैं उनका उपदेश करते हैं:—

गाथा २०५–२०६

अन्वयार्थः—**[यथाजातरूपजातम्]** जन्म समयके रूप जैसा रूपवाला, **[उत्पाटितकेशश्मश्रुकं]** सिर और डाढ़ी-मूछके बालोंका लोंच किया हुआ, **[शुद्धं]** शुद्ध (अकिंचन), **[हिंसादितः रहितम्]** हिंसादिसे रहित और **[अप्रतिकर्म]** प्रतिकर्म (शारीरिक शृंगार) से रहित—**[लिंगं भवति]** लिंग (श्रामण्यका बहिरंग लिंग) है ।

१—यथाजातरूपधर=(आत्माका) जैसा, मूलभूतरूप है वैसा (सहज, स्वाभाविक) रूप धारण करनेवाला ।
२—तत्त्वतः=वास्तवमें; तत्त्वकी दृष्टिसे; परमार्थतः । ३—यथानिष्पन्न=जैसा बना हुआ है वैसा; जैसा मूलभूत है वैसा, सहज, स्वाभाविक । ४—अभिनव=बिलकुल नवीन [यथाजातरूपधरत्वके बिलकुल नवीन अभ्यासमें प्रवीणताके द्वारा शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप सिद्धि प्राप्त होती है ।]

यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुकं शुद्धम् ।
रहितं हिंसादितोऽप्रतिकर्म भवति लिङ्गम् ॥ २०५ ॥

मूर्च्छारम्भवियुक्तं युक्तमुपयोगयोगशुद्धिभ्याम् ।
लिङ्गं न परापेक्षमपुनर्भवकारणं जैनम् ॥ २०६ ॥ [युगलम्]

आत्मनो हि तावदात्मना यथोदितक्रमेण यथाजातरूपधरस्य जातस्यायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययानां मोहरागद्वेषादिभावानां भवत्येवाभावः, तदभावात्तु तद्भावभाविनो निवसनभूषणधारणस्य मूर्धजव्यञ्जनपालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तत्वस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य चाभावाद्यथाजातरूपत्वमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्वं शुद्धत्वं हिंसादिरहितत्वमप्रतिकर्मत्वं च भवत्येव, तदेतद्बहिरंगं लिंगम् । तथात्मनो यथाजातरूपधरत्वापसारितायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावानामभावादेव तद्भावभाविनोममत्वकर्मप्रक्रमपरिणामस्य शुभाशुभोपरक्तोपयोगतत्पूर्वकतथाविधयोगाशुद्धियुक्त-

---

[**मूर्च्छारम्भवियुक्तम्**] मूर्च्छा (ममत्व) और आरम्भ रहित, [**उपयोगयोगशुद्धिभ्यां युक्तं**] उपयोग और योगकी शुद्धिसे युक्त तथा [**न परापेक्षं**] परकी अपेक्षासे रहित—ऐसा [**जैनं**] जिनेन्द्रदेवकथित [**लिंगम्**] (श्रामण्यका अंतरंग) लिंग है, [**अपुनर्भवकारणम्**] जो कि मोक्षका कारण है ।

टीका:—प्रथम तो अपनेसे, यथोक्तक्रमसे यथाजातरूपधर[1] हुवे आत्माके अयथाजातरूपधरत्व[2] के कारणभूत मोहरागद्वेषादिभावोंका अभाव होता ही है; और उनके अभावके कारण, जो कि उनके सद्भावमें होते हैं ऐसे (१) वस्त्राभूषणका धारण, (२) सिर और डाढ़ी मूछोंके बालोंका रक्षण, (३) सकिंचनत्व[3], (४) सावद्ययोगसे युक्तता तथा (५) शारीरिक संस्कारका करना, इन (पांचों) का अभाव होता है; जिससे (उस आत्माके) (१) जन्म समयके रूप जैसा रूप, (२) सिर और डाढ़ी मूछके बालोंका लोंच, (३) शुद्धत्व, (४) हिंसादिरहितता, तथा (५) अप्रतिकर्मत्व (शारीरिक शृंगार-संस्कारका अभाव) होता ही है । इसलिये यह बहिरंग लिंग है ।

और फिर, आत्माके यथाजातरूपधरत्वसे दूर किया गया जो अयथाजातरूपधरत्व, उसके कारणभूत मोहरागद्वेषादि भावोंका अभाव होनेसे ही, जो उनके सद्भावमें होते हैं ऐसे जो (१) ममत्वके और कर्मप्रक्रम[4] के परिणाम, (२) शुभाशुभ उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक[5] तथाविध योगकी अशुद्धिसे युक्तता, तथा (३) परद्रव्यसे सापेक्षत्व; इस (तीनों) का अभाव होता है; इसलिये (उस आत्माके)

१—यथाजातरूपधर = (आत्माका) सहजरूप धारण करनेवाला । २—अयथाजातरूपधर = (आत्माका) असहजरूप धारण करनेवाला । ३—सकिंचन = जिसके पास कुछ भी (परिग्रह) हो ऐसा; ४—कर्मप्रक्रम = कामको अपने ऊपर लेना; काममें युक्त होना, कामकी व्यवस्था । ५—तत्पूर्वक = उपरक्त (मलिन) उपयोगपूर्वक;

त्वस्य परद्रव्यसापेक्षत्वस्य चाभावान्मूर्च्छारम्भवियुक्तत्वमुपयोगयोगशुद्धियुक्तत्वमपरापेक्षत्वं च भवत्येव, तदेतदन्तरंगं लिंगम् ॥ २०५ । २०६ ॥

अथैतदुभयलिंगमादायैतदेतत्कृत्वा च श्रमणो भवतीति भवतिक्रियायां बन्धुवर्गप्रच्छन-क्रियादिशेषसकलक्रियाणां चैककर्तृकत्वमुद्योतयन्नियता श्रामण्यप्रतिपत्तिर्भवतीत्युपदिशति—

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता ।
सोचा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥ २०७ ॥

आदाय तदपि लिंगं गुरुणा परमेण तं नमस्कृत्य ।
श्रुत्वा सव्रतां क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमणः ॥ २०७ ॥

ततोऽपि श्रमणो भवितुमिच्छन् लिंगद्वैतमादत्ते गुरुं नमस्यति व्रतक्रिये शृणोति अथोपतिष्ठते उपस्थितश्च पर्याप्तश्रामण्यसामग्रीकः श्रमणो भवति । तथाहि—तत इदं यथाजातरूपधरत्वस्य गमकं बहिरंगमन्तरंगमपि लिंगं प्रथममेव गुरुणा परमेणार्हद्भट्टारकेण तदात्वे च दीक्षाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया संभाव्य तन्मयो भवति । ततो भाव्यभावकभावप्रवृत्तेतरेतरसंवलनप्रत्यस्तमितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तर-

---

(१) मूर्च्छा और आरम्भसे रहितता, (२) उपयोग और योगकी शुद्धिसे युक्तता, तथा (३) परकी अपेक्षासे रहितता होती ही है । इसलिये यह अंतरंग लिंग है ॥ २०५—२०६ ॥

अब (श्रामण्यार्थी) इन दोनों लिंगोंको ग्रहण करके, और इतना-इतना करके श्रमण होता है,—इसप्रकार भवतिक्रिया[1] में, बंधुवर्गसे विदा लेनेरूप क्रियासे लेकर शेष सभी क्रियाओंका एक कर्ता दिखलाते हुये, इतनेसे (अर्थात् इतना करनेसे) श्रामण्यकी प्राप्ति होती है, यह उपदेश करते हैं:—

गाथा २०७

अन्वयार्थः—[**परमेण गुरुणा**] परम गुरुके द्वारा प्रदत्त [**तदपि लिंगम्**] उन दोनों लिंगोंको [**आदाय**] ग्रहण करके, [**तं नमस्कृत्य**] उन्हें नमस्कार करके, [**सव्रतां क्रियां श्रुत्वा**] व्रत सहित क्रियाको सुनकर [**उपस्थितः**] उपस्थित (आत्माके समीप स्थित) होता हुआ [**सः**] वह [**श्रमणः भवति**] श्रमण होता है ।

टीका:—तत्पश्चात् श्रमण होनेका इच्छुक दोनों लिंगोंको ग्रहण करता है, गुरुको नमस्कार करता है, व्रत तथा क्रियाको सुनता है और उपस्थित होता है; तथा उपस्थित होता हुआ श्रामण्यकी सामग्री पर्याप्त (परिपूर्ण) होनेसे श्रमण होता है । वह इसप्रकार है कि—

परमगुरु—प्रथम ही अर्हंत भट्टारक और उस समय (दीक्षा कालमें) दीक्षाचार्य—, इस यथाजातरूपधरत्वके सूचक बहिरंग तथा अंतरंग लिंगके ग्रहणकी—विधिके प्रतिपादक होनेसे, व्यवहारसे इस

१—भवतिक्रिया=होनेरूप क्रिया ।

परमगुरुनमस्क्रियया संभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति । ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैक-महाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमधिरोहति । ततः प्रतिक्रमणालोचनप्रत्याख्यानलक्षणक्रियाश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन त्रैकालिककर्मभ्यो विविच्यमानमात्मानं जानन्नतीतप्रत्युपन्नानुपस्थितकायवाङ्मनःकर्मविविक्तत्वमधिरोहति । ततः समस्तावद्य-कर्मायतनं कायमुत्सृज्य यथाजातरूपं स्वरूपमेकमेकाग्रेणालम्ब्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति, उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति ॥ २०७ ॥

अथाविच्छिन्नसामायिकाधिरूढोऽपि श्रमणः कदाचिच्छेदोपस्थापनमर्हतीत्युपदिशति—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥ २०८ ॥

लिंगके देनेवाले हैं । इसप्रकार उनके द्वारा दिये गये उन लिंगोंको ग्रहण क्रियाके द्वारा संभावित-सम्मानित करके (श्रामण्यार्थी) तन्मय होता है । और फिर जिन्होंने सर्वस्व दिया है ऐसे मूल और उत्तर[1] परम-गुरुको, भाव्यभावकता[2] के कारण प्रवर्तित *इतरेतरमिलनके कारण जिसमेंसे स्वपरका विभाग अस्त होगया है ऐसी नमस्कार क्रियाके द्वारा संभावित करके-सम्मानित करके भावस्तुति[3] वन्दनामय होता है । पश्चात् सर्व सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रतको सुननेरूप श्रुतज्ञानके द्वारा समयमें[4] परिणमित होते हुये आत्माको जानता हुआ सामायिकमें आरूढ़ होता है । पश्चात् प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानस्वरूप क्रिया[5]को सुननेरूप श्रुतज्ञानके द्वारा त्रैकालिक कर्मोंसे भिन्न किये जानेवाले आत्माको जानता हुआ, अतीत-अनागत-वर्तमान, मन-वचन-काय संबंधी कर्मोंसे विविक्तता (भिन्नता) में आरूढ़ होता है । पश्चात् समस्त सावद्य कर्मोंके आयतनभूत[6] कायका उत्सर्ग (उपेक्षा) करके यथाजात-रूपवाले स्वरूपको, एकको एकाग्रतया अवलम्बित करके रहता हुआ उपस्थित होता है । और उपस्थित होता हुआ, सर्वत्र समदृष्टित्वके कारण साक्षात् श्रमण होता है ॥ २०७ ॥

अविच्छिन्न सामायिकमें आरूढ़ हुआ होने पर भी श्रमण कदाचित् छेदोपस्थापनाके योग्य है, सो यह कहते हैं:—

गाथा २०८-२०९

अन्वयार्थः—[व्रतसमितीन्द्रियरोधः] व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, **[लोचावश्यकम्]**

१—मूल परमगुरु अर्हन्तदेव तथा उत्तरपरमगुरु दीक्षाचार्यके प्रति अत्यन्त आराध्यभावके कारण आराध्य परमगुरु और आराधक निजका भेद अस्त होजाता है । २—भाव्य और भावकके अर्थके लिये देखो पृष्ट का पाद टिप्पण । ३—भावस्तुतिवन्दनामय = भावस्तुतिमय और भाववन्दनामय । ४—समयमें (आत्म-द्रव्यमें, निजद्रव्य स्वभावमें) परिणमित होना सो सामायिक है । ५—अतीत वर्तमान अनागत काय वचन मन संबंधी कर्मोंसे भिन्न निजशुद्धात्मपरिणति वो प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानरूप क्रिया है । ६—आयतन = स्थान, निवास;

*इसका स्पष्टीकरण प्रथमकी ५ गाथाओंके टिप्पण पत्र में देखिये;

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥ २०९ ॥ [जुम्मं]

व्रतसमितीन्द्रियरोधो लोचावश्यकमचेलमस्नानम् ।
क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तं च ॥ २०८ ॥

एते खलु मूलगुणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः ।
तेषु प्रमत्तः श्रमणः छेदोपस्थापको भवति ॥ २०९ ॥ [युग्मम्]

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तिवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं तत्परिकरश्च पञ्चतयी समितिः पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः षट्तयमावश्यकमचेलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैवं एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव । तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयांगुलीयादिपरिग्रहः किल श्रेयान्, न पुनः सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति

लोच, आवश्यक, [**अचेलम्**] अचेलत्व, [**अस्नानं**] अस्नान, [**क्षितिशयनम्**] भूमिशयन, [**अदंतधावनं**] अदंतधावन, [**स्थितिभोजनम्**] खड़े खड़े भोजन, [**च**] और [**एकभक्तं**] एकबार आहार - [**एते**] यह [**खलु**] वास्तवमें [**श्रमणानां मूलगुणाः**] श्रमणोंके मूलगुण [**जिनवरैः प्रज्ञप्ताः**] जिनवरोंने कहे हैं; [**तेषु**] उनमें [**प्रमत्तः**] प्रमत्त होता हुआ [**श्रमणः**] श्रमण [**छेदोपस्थापकः भवति**] छेदोपस्थापक होता है।

टीका:—सर्व सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रतकी व्यक्तियें (विशेषों, प्रगटताएँ) होनेसे हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहकी विरतिस्वरूप पांचप्रकारके व्रत तथा उसकी परिकरभूत[1] पांच प्रकारकी समिति, पांचप्रकारका इन्द्रियरोध, लोच, छहप्रकारके आवश्यक, अचेलकत्व[2], अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन (दातुन न करना), खड़े खड़े भोजन, और एकबार आहार लेना; इसप्रकार यह (अट्ठाईस) निर्विकल्प सामायिकसंयमके विकल्प (भेद) होनेसे श्रमणोंके मूलगुण ही हैं। जब (श्रमण) निर्विकल्प सामायिकसंयममें आरूढ़ताके कारण जिसमें विकल्पोंका अभ्यास (सेवन) नहीं है ऐसी दशामें से च्युत होता है, तब 'केवल सुवर्णमात्रके अर्थीको कुण्डल, कंकण, अंगूठी आदि को ग्रहण करना (भी) श्रेय है, किन्तु ऐसा नहीं है कि (कुण्डल इत्यादिका ग्रहण कभी न करके) सर्वथा स्वर्णकी ही प्राप्ति करना ही श्रेय है' ऐसा विचार करके वह मूलगुणोंमें विकल्परूपसे (भेदरूपसे)

१—परिकर=अनुसरण करनेवाला समुदाय; अनुचरसमूह; [समिति, इन्द्रियरोध, इत्यादि गुण पांच व्रतोंके पीछे पीछे होते ही हैं, इसलिये समिति इत्यादि गुण पांच व्रतोंके परिकर अर्थात् अनुचर समूह हैं।] २—अचेलकत्व =वस्त्र रहितपना, दिगम्बरपना;

॥ २०८ । २०९ ॥

अथास्य प्रव्रज्यादायक इव छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्तीत्याचार्यविकल्पप्रज्ञापनद्वारेणोपदिशति—

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥ २१० ॥
लिङ्गग्रहणे तेषां गुरुरिति प्रव्रज्यादायको भवति ।
छेदयोरुपस्थापकाः शेषा निर्यापकाः श्रमणाः ॥ २१० ॥

यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसंयमप्रतिपादकत्वेन यः किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः स गुरुः, यः पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसंयमप्रतिपादकत्वेन छेदं प्रत्युपस्थापकः स निर्यापकः, योऽपि छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि

अपनेको स्थापित करता हुआ छेदोपस्थापक होता है ॥ २०८ । २०९ ॥

अब इनके (श्रमणके) प्रव्रज्यादायककी भांति छेदोपस्थापक पर (दूसरा) भी होता है यह, आचार्यके भेदोंके प्रज्ञापन द्वारा उपदेश करते हैं :—

गाथा २१०

अन्वयार्थः—[**लिंगग्रहणे**] लिंगग्रहणके समय [**प्रव्रज्यादायकः भवति**] जो प्रव्रज्या (दीक्षा) दायक हैं वह [**तेषां गुरुः इति**] उनके गुरु हैं, और [**छेदयोः उपस्थापकाः**] जो छेदद्वय[1]में उपस्थापक हैं (अर्थात् १—जो भेदोंमें स्थापित करते हैं तथा २—जो संयममें छेद होनेपर पुनः स्थापित करते हैं) [**शेषाः श्रमणाः**] वे शेष श्रमण [**निर्यापकाः**] निर्यापक[2] हैं ।

टीका:—जो आचार्य लिंगग्रहणके समय निर्विकल्प सामायिकसंयमके प्रतिपादक होनेसे प्रव्रज्यादायक हैं वे गुरु हैं; और तत्पश्चात् तत्काल ही जो (आचार्य) सविकल्प छेदोपस्थापना संयमके प्रतिपादक होनेसे 'छेदके प्रति उपस्थापक (भेदमें स्थापित करनेवाले)' हैं वे निर्यापक हैं; उसीप्रकार जो (आचार्य) छिन्न[3] संयमके प्रतिसंधानकी[4] विधिके प्रतिपादक होनेसे 'छेद होनेपर उपस्थापक (संयममें छेद होनेपर उसमें पुनः स्थापित करनेवाले)' हैं, वे भी निर्यापक ही हैं । इसलिये छेदोपस्थापक[5], पर

१—छेदद्वय=दो प्रकारके छेद । [यहां, (१) संयममें जो २८ मूलगुणरूप भेद होते हैं उसे भी छेद कहा है और (२) खण्डन अथवा दोषको भी छेद कहा है ।] २—निर्यापक=निर्वाह करनेवाला; सदुपदेशसे दृढ़ करने वाला; शिक्षागुरु, श्रुतगुरु । ३—छिन्न=छेदको प्राप्त; खण्डित; त्रुटित; दोष प्राप्त । ४—प्रतिसंधान=पुनः जोड़ देना वह; दोषोंको दूर करके एकसा (दोष रहित) कर देना वह । ५—छेदोपस्थापकके दो अर्थ हैं: (१) जो 'छेद (भेद) के प्रति उपस्थापक' है, अर्थात् जो २८ मूलगुणरूप भेदोंको समझाकर उसमें स्थापित करता है वह छेदोपस्थापक है; तथा (२) जो 'छेदके होनेपर उपस्थापक' है, अर्थात् संयमके छिन्न (खण्डित) होनेपर उसमें पुनः स्थापित करता है, वह भी छेदोपस्थापक है ।

निर्यापक एव । ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति ॥ २१० ॥

अथ छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानमुपदिशति—

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥ २११ ॥

छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥ २१२ ॥ [जुगलं]

प्रयतायां समारब्धायां छेदः श्रमणस्य कायचेष्टायाम् ।
जायते यदि तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया ॥ २११ ॥

छेदोपयुक्तः श्रमणः श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते ।
आसाद्यालोच्योपदिष्टं तेन कर्तव्यम् ॥ २१२ ॥ [युगलम्]

द्विविधः किल संयमस्य छेदः, बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च । तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरङ्गः,

---

भी होते हैं ॥ २१० ॥

अब छिन्नसंयमके प्रतिसंधानकी विधिका उपदेश करते हैं :—

गाथा २११–२१२

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**श्रमणस्य**] श्रमणके [**प्रयतायां**] प्रयत्नपूर्वक [**समारब्धायां**] की जानेवाली [**कायचेष्टायां**] कायचेष्टामें [**छेदः जायते**] छेद होता है तो [**तस्य पुनः**] उसे तो [**आलोचनापूर्विका क्रिया**] आलोचनापूर्वक क्रिया करना चाहिये ।

[**श्रमणः छेदोपयुक्तः**] (किन्तु) यदि श्रमण छेदमें उपयुक्त हुआ हो तो उसे [**जिनमते**] जैनमतमें [**व्यवहारिणं**] व्यवहारकुशल [**श्रमणं आसाद्य**] श्रमणके पास जाकर [**आलोच्य**] आलोचना* करके (अपने दोषका निवेदन करके), [**तेन उपदिष्टं**] वे जैसा उपदेश दें वह [**कर्तव्यम्**] करना चाहिये ।

टीकाः—संयमका छेद दो प्रकारका है; बहिरंग और अन्तरंग । उसमें मात्र कायचेष्टा संबंधी बहि-

१–मुनिके (मुनित्वोचित) शुद्धोपयोग अन्तरंग अथवा निश्चयप्राण है, और उस शुद्धोपयोगदशाके प्रवर्तमान (हठ रहित) देहचेष्टादि संबंधी शुभोपयोग बहिरंग अथवा व्यवहारप्राण है । जहां शुद्धोपयोगदशा नहीं होती वहां शुभोपयोग हठसहित होता है; वह शुभोपयोग व्यवहार-प्राणको भी प्राप्त नहीं होता ।]

*आलोचना=(१) सूक्ष्मतासे देख लेना वह, सूक्ष्मतासे विचारना वह, ठीक ध्यानमें लेना वह; (२) निवेदन; कथन । [२११ वीं गाथामें आलोचनाका प्रथम अर्थ घटित होता है और २१२ वीं में दूसरा ।]

उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरंगः। तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः कायचेष्टायाः कथंचिद्बहिरंगच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरंगच्छेदवर्जितत्वादालोचनपूर्विकया क्रियथैव प्रतीकारः। यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोदितव्यवहारविधिविदग्धश्रमणाश्रययालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम् ॥२११।२१२॥

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् परद्रव्यप्रतिबन्धाः प्रतिषेध्या इत्युपदिशति—

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥ २१३ ॥

अधिवासे वा विवासे छेदविहीनो भूत्वा श्रामण्ये।
श्रमणो विहरतु नित्यं परिहरमाणो निबन्धान् ॥ २१३ ॥

रंग है और उपयोग संबंधी अन्तरंग। उसमें, यदि भलीभांति उपयुक्त श्रमणके प्रयत्नकृत कायचेष्टाका कथंचित् बहिरंग छेद होता है, तो वह सर्वथा अन्तरंग छेदसे रहित है इसलिये आलोचनापूर्वक क्रियासे ही उसका प्रतीकार (इलाज) होता है। किन्तु यदि वही श्रमण उपयोगसंबंधी छेद होनेसे साक्षात् छेदमें ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहारविधिमें कुशल श्रमणके आश्रयसे, आलोचनापूर्वक, उनसे उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा (संयमका) प्रतिसंधान होता है।

भावार्थः—यदि मुनिके स्वस्थभावलक्षण प्रयत्नसहित की जानेवाली अशन-शयन-गमनादिक शारीरिक चेष्टासंबंधी छेद होता है तो उस तपोधनके स्वस्थभावकी बहिरंग सहकारीकारणभूत प्रतिक्रमणस्वरूप आलोचनापूर्वक क्रियासे ही उसका प्रतीकार-प्रायश्चित्त होजाता है, क्योंकि वह स्वस्थभाव से चलित नहीं हुआ है। किन्तु यदि उसके निर्विकार स्वसंवेदनभावनासे च्युतिस्वरूप छेद होता है, तो (उसे जिनमतमें व्यवहारज्ञ-प्रायश्चित्तकुशल-आचार्यके निकट जाकर, निष्प्रपंचभावसे दोषका निवेदन करके, वे आचार्य निर्विकार स्वसंवेदन भावनाके अनुकूल जो कुछ भी प्रायश्चित्त उपदिष्ट करें वह करना चाहिये ॥ २११-२१२ ॥

अब, श्रामण्यके छेदके आयतन होनेसे परद्रव्य-प्रतिबंध[1] निषेध करने योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं:—

गाथा २१३

अन्वयार्थः—[अधिवासे] अधिवासमें (आत्मवासमें अथवा गुरुओंके सहवासमें) बसते हुये **[वा]** या **[विवासे]** विवासमें (गुरुओंसे भिन्न वासमें) बसते हुये, **[नित्यं]** सदा **[निबंधान्]** (परद्रव्यसंबंधी) प्रतिबंधोंको **[परिहरमाणः]** परिहरण करता हुआ

[1]—परद्रव्यप्रतिबंध=परद्रव्योंमें रागादिपूर्वक संबंध करना; परद्रव्योंमें बंधना—रुकना; लीन होना; परद्रव्योंमें रुकावट।

सर्व एव हि परद्रव्यप्रतिबन्धा उपयोगोपरञ्जकत्वेन निरुपरागोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदायतनानि तदभावादेवाछिन्नश्रामण्यम् । अत आत्मन्येवात्मनो नित्याधिकृत्य वासे वा गुरुत्वेन गुरूनधिकृत्य वासे वा गुरुभ्यो विशिष्टे वासे वा नित्यमेव प्रतिषेधयन् परद्रव्यप्रतिबन्धान् श्रामण्ये छेदविहीनो भूत्वा श्रमणो वर्तताम् ॥ २१३ ॥

अथ श्रामण्यस्य परिपूर्णतायतनत्वात् स्वद्रव्य एव प्रतिबन्धो विधेय इत्युपदिशति—

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥ २१४ ॥

चरति निबद्धो नित्यं श्रमणो ज्ञाने दर्शनमुखे ।
प्रयतो मूलगुणेषु च यः स परिपूर्णश्रामण्यः ॥ २१४ ॥

एक एव हि स्वद्रव्यप्रतिबन्ध उपयोगमार्जकत्वेन मार्जितोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य परि-

[**श्रामण्ये**] श्रामण्यमें [**छेद विहीनः भूत्वा**] छेद विहीन होकर [**श्रमणः विहरतु**] श्रमण विहरो ।

टीका:—वास्तवमें सभी परद्रव्य-प्रतिबंध उपयोगके उपरंजक[1] होनेसे निरुपराग[2] उपयोगरूप श्रामण्यके छेदके आयतन हैं; उनके अभावसे ही अछिन्न श्रामण्य होता है । इसलिये आत्मामें ही आत्माको सदा अधिकृत[3] करके (आत्माके भीतर) बसते हुये अथवा गुरुरूपसे गुरुओंको अधिकृत[4] करके (गुरुओंके सहवासमें) निवास करते हुये या गुरुओंसे विशिष्ट—भिन्नवासमें वसते हुये, सदा ही परद्रव्य-प्रतिबंधोंको निषेधता (परिहरण करता) हुआ श्रामण्यमें छेदविहीन होकर श्रमण वर्तो ॥ २१३ ॥

अब, श्रामण्यकी परिपूर्णताका आयतन होनेसे स्वद्रव्यमें ही प्रतिबंध (संबंध लीनता) करने योग्य है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

गाथा २१४

अन्वयार्थ:—[**यः श्रमणः**] जो श्रमण [**नित्यं**] सदा [**ज्ञानदर्शनमुखे**] ज्ञानमें और दर्शनादिमें [**निबद्धः**] प्रतिबद्ध [**च**] तथा [**मूलगुणेषु प्रयतः**] मूलगुणोंमें प्रयत (प्रयत्नशील) [**चरति**] विचरण करता है, [**सः**] वह [**परिपूर्णश्रामण्यः**] परिपूर्ण श्रामण्यवान् है ।

टीका:—एक स्वद्रव्य-प्रतिबंध ही, उपयोगका मार्जन (शुद्धत्व) करनेवाला होनेसे, मार्जित (शुद्ध) उपयोगरूप श्रामण्यकी परिपूर्णताका आयतन है; उसके सद्भावसे ही परिपूर्ण श्रामण्य होता

१—उपरंजक=उपराग करनेवाले, मलिनता-विकार करनेवाले । २—निरुपराग=उपराग-रहित; निर्विकार; मल-रहित । ३—अधिकृत करके=स्थापित करके; रखकर । ४—अधिकृत करके=आश्रय लेकर; आश्रित करके; अंगीकृत करके ।

पूर्णतायतनं, तत्सद्भावादेव परिपूर्णं श्रामण्यम् । अतो नित्यमेव ज्ञाने दर्शनादौ च प्रतिबद्धेन मूलगुणप्रयततया चरितव्यं ज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मद्रव्यप्रतिबद्धशुद्धास्तित्वमात्रेण वर्तितव्यमिति तात्पर्यम् ॥ २१४ ॥

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् यतिजनासन्नः सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबन्धोऽपि प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा ।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥ २१५ ॥

भक्ते वा क्षपणे वा आवसथे वा पुनर्विहारे वा ।
उपधौ वा निबद्धं नेच्छति श्रमणे विकथायाम् ॥ २१५ ॥

श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुमात्रत्वेनादीयमाने भक्ते तथाविधशरीरवृत्त्यविरोधेन शुद्धात्मद्रव्यनीरंगनिस्तरंगविश्रान्तिसूत्रणानुसारेण प्रवर्तमाने क्षपणे नीरंगनिस्तरंगान्त-

है । इसलिये सदा ज्ञानमें और दर्शनादिकमें प्रतिबद्ध[1] रहकर मूलगुणोंमें प्रयत्नशीलतासे विचरना,—ज्ञानदर्शनस्वभाव शुद्धात्मद्रव्यमें प्रतिबद्ध-शुद्ध अस्तित्वमात्ररूपसे वर्तना, यह तात्पर्य है ॥ २१४ ॥

अब, मुनिजनको निकटका[2] सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबंध[3] भी, श्रामण्यके छेदका आयतन होनेसे निषेध्य है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

गाथा २१५

अन्वयार्थः—[**भक्ते वा**] मुनि आहारमें, [**क्षपणे वा**] क्षपणमें (उपवासमें), [**आवसथे वा**] आवासमें (निवासस्थानमें), [**पुनः विहारे वा**] और विहारमें, [**उपधौ**] उपधिमें (परिग्रहमें), [**श्रमणे**] श्रमणमें (अन्य मुनिमें) [**वा**] अथवा [**विकथायाम्**] विकथा[4] में [**निबद्धं**] प्रतिबन्ध [**न इच्छति**] नहीं चाहता ।

टीकाः—(१)श्रामण्य पर्यायके सहकारी कारणभूत शरीरकी वृत्ति[5] के हेतुमात्ररूपसे ग्रहण किये जानेवाले आहारमें (२) तथाविध[6] शरीरकी वृत्तिके साथ विरोधरहित, शुद्धात्मद्रव्यमें नीरंग[7] और निस्तरंग विश्रांतिकी रचनानुसार प्रवर्तमान क्षपणमें (अर्थात् शरीरके टिकनेके साथ विरोध न आये

१—प्रतिबद्ध=संबद्ध; रुका हुआ; बंधा हुआ; स्थित; स्थिर; लीन । २—आगम विरुद्ध आहारविहारादि तो मुनिके छूटा ही हुवा होनेसे उनमें प्रतिबंध होना तो मुनिके लिये दूर है; किन्तु आगमकथित आहार विहारादिमें मुनि प्रवर्तमान है इसलिये उसमें प्रतिबंध हो जाना संभवित होनेसे वह प्रतिबन्ध निकटका है । ३—सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबन्ध=परद्रव्यमें सूक्ष्म प्रतिबन्ध । ४—छद्मस्थ मुनिके धार्मिक कथा-वार्ता करते हुये भी निर्मल चैतन्य विकल्पमुक्त होता है इसलिये अंशतः मलिन होता है, अतः उस धार्मिक कथाको भी विकथा अर्थात् शुद्धात्मद्रव्यसे विरुद्ध कथा कहा है । ५—वृत्ति=निर्वाह; टिकना । ६—तथाविध=वैसा (श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारणभूत) ७—नीरंग=नीराग; निर्विकार ।

रंगद्रव्यप्रसिद्ध्यर्थमध्यास्यमाने गिरीन्द्रकन्दरप्रभृतावावसथे यथोक्तशरीरवृत्तिहेतुमार्गणार्थमारभ्यमाणे विहारकर्मणि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिपिध्यमाने केवलदेहमात्रे उपधौ अन्योन्यबोध्यबोधकभावमात्रेण कथंचित्परिचिते श्रमणे शब्दपुद्गलोल्लाससंवलनकश्मलितचिद्भित्तिभागायां शुद्धात्मद्रव्यविरुद्धायां कथायां चैतेष्वपि तद्विकल्पाचित्रितचित्तभित्तितया प्रतिषेध्यः प्रतिबन्धः ॥ २१५ ॥

अथ को नाम छेद इत्युपदिशति—

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु ।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा ॥ २१६ ॥

इसप्रकार, शुद्धात्मद्रव्यमें विकाररहित और तरंगरहित स्थिरताकी रचना की जाय, तदनुसार प्रवर्तमान अनशनमें), (३) नीरंग और निस्तरंग-अन्तरंग द्रव्यकी प्रसिद्धि (प्रकृष्टसिद्धि) के लिये सेव्यमान गिरीन्द्रकन्दरादिक आवसथमें (उच्च पर्वतकी गुफा इत्यादि निवासस्थानमें), (४) यथोक्त शरीरकी वृत्तिकी कारणभूत भिक्षाके लिये किये जानेवाले विहारकार्यमें, (५) श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारण होनेसे जिसका निषेध नहीं है ऐसे केवल देहमात्र परिग्रहमें, (६) मात्र अन्योन्य बोध्यबोधकरूपसे[१] जिनका कथंचित् परिचय पाया जाता है ऐसे श्रमण (अन्य मुनि) में, और (७) शब्दरूप पुद्गलोल्लास (पुद्गलपर्याय) के साथ संबंधसे जिसमें चैतन्यरूपी भित्तिका भाग मलिन होता है, ऐसी शुद्धात्मद्रव्यसे विरुद्ध कथामें भी प्रतिबंध निषेध्य-त्यागने योग्य है अर्थात् उनके विकल्पोंसे भी चित्तभूमिको चित्रित होने देना योग्य नहीं है।

भावार्थः—आगमविरुद्ध आहारविहारादि तो मुनिने पहले ही छोड़ दिये हैं। अब संयमके निमित्तत्वकी बुद्धिसे मुनिके जो आगमोक्त आहार, अनशन, गुफादिमें निवास, विहार, देहमात्र परिग्रह, अन्य मुनियोंका परिचय और धार्मिक चर्चा वार्ता पाये जाते हैं, उनके प्रति भी रागादि करना योग्य नहीं है,—उनके विकल्पोंसे भी मनको रंगने देना योग्य नहीं है; इसप्रकार आगमोक्त आहार-विहारादिमें भी प्रतिबंध पाना योग्य नहीं है, क्योंकि उससे संयममें छेद होता है ॥ २१५ ॥

अब, छेद क्या है, इसका उपदेश करते हैं:—

गाथा २१६

अन्वयार्थः—[**श्रमणस्य**] श्रमणके [**शयनासनस्थानचंक्रमणादिषु**] शयन, आसन (बैठना), स्थान (खड़े रहना), गमन इत्यादिमें [**अप्रयता वा चर्या**] जो अप्रयत

१—बोध्य वह है जिसे समझाया जाता है अथवा जिसे उपदेश दिया जाता है। और बोधक वह है जो समझाता है, अर्थात् जो उपदेश देता है। मात्र अन्य श्रमणोंसे स्वयं बोध ग्रहण करनेके लिये अथवा अन्य श्रमणों को बोध देनेके लिये मुनिका अन्य श्रमणके साथ परिचय होता है।

अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिषु ।
श्रमणस्य सर्वकाले हिंसा सा संततेति मता ॥ २१६ ॥

अशुद्धोपयोगो हि छेदः शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्, तस्य हिंसनात् स एव च हिंसा । अतः श्रमणस्याशुद्धोपयोगाविनाभाविनी शयनासनस्थानचंक्रमणादिष्वप्रयता या चर्या सा खलु तस्य सर्वकालमेव संतानवाहिनी छेदानर्थान्तरभूता हिंसैव ॥ २१६ ॥

अथान्तरंगबहिरंगत्वेन छेदस्य द्वैविध्यमुपदिशति—

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥ २१७ ॥

चर्या है [**सा**] वह [**सर्वकाले**] सदा [**संतना हिंसा इति मता**] सतत हिंसा मानी गई है ।

टीका:—अशुद्धोपयोग वास्तवमें छेद है, क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्यका छेदन होता है; और वही (अशुद्धोपयोग ही) हिंसा है, क्योंकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्यका हिंसन (हनन) होता है । इसलिये श्रमणके, जो अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होती ऐसी शयन-आसन-स्थान गमन-इत्यादिमें अप्रयत[1] चर्या (आचरण) वास्तवमें उसके लिये सर्वकालमें (सदा) ही संतानवाहिनी[2] हिंसा ही है,—जो कि छेदसे अनन्यभूत है (अर्थात् छेदसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है ।)

भावार्थ—अशुद्धोपयोगसे शुद्धोपयोगरूप मुनित्व (१) छिदता है, (२) हनन होता है इसलिये अशुद्धोपयोग (१) छेद ही है, (२) हिंसा ही है । और जहाँ सोने, बैठने, खड़े होने, चलने इत्यादिमें अप्रयत आचरण होता है वहाँ नियमसे अशुद्धोपयोग तो होता ही है, इसलिये अप्रयत आचरण छेद ही है, हिंसा ही है ॥ २१६ ॥

अब, छेदके अन्तरंग और बहिरंग, ऐसे दो प्रकार बतलाते हैं:—

गाथा २१७

अन्वयार्थः—[**जीवः**] जीव [**म्रियतां वा जीवतु वा**] मरे या जिये, [**अयताचारस्य**] अप्रयत आचारवालेके [**हिंसा**] (अंतरंग) हिंसा [**निश्चिता**] निश्चित है; [**प्रयतस्य समितस्य**] प्रयतके[3], समितिवान्[4]के [**हिंसामात्रेण**] (बहिरंग) हिंसामात्रसे

१—अप्रयत—प्रयत्न रहित, असावधान, असंयमी, निरंकुश, स्वच्छन्दी । [अप्रयतचर्या अशुद्धोपयोगके बिना कभी नहीं होती ।] २—संतानवाहिनी=संतत, सतत, निरंतर, धारावाही, अटूट; [जबतक अप्रयत चर्या है तब तक सदा ही हिंसा सततरूपसे चालू रहती है] ३—प्रयत=प्रयत्नशील, सावधान, संयमी [प्रयत्नके अर्थके लिये देखो गाथा २११ का फुटनोट ।] ४—शुद्धात्मस्वरूपमें (मुनित्वोचित) सम्यक् 'इति' अर्थात् परिणति निश्चय समिति है । और उस दशामें होनेवाली (हठ रहित) ईर्या-भाषादि संबन्धी शुभ परिणति व्यवहारसमिति है । [जहां शुद्धात्मस्वरूपमें सम्यक्परिणतिरूप दशा नहीं होती वहाँ शुभ परिणति हठ सहित होती है; वह शुभपरिणति व्यवहारसमिति भी नहीं है ।]

म्रियतां वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा ।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिंसामात्रेण समितस्य ॥ २१७ ॥

अशुद्धोपयोगोऽन्तरंगच्छेदः, परप्राणव्यपरोपो बहिरंगः । तत्र परप्राणव्यपरोपसद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितहिंसाभावप्रसिद्धेस्तथा तद्विनाभाविना प्रयताचारेण प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्ध्या सुनिश्चितहिंसाऽभावप्रसिद्धेश्चान्तरंग एव छेदो बलीयान् न पुनर्बहिरंगः । एवमप्यन्तरंगच्छेदायतनमात्रत्वाद्बहिरंगच्छेदोऽभ्युपगम्येतैव ॥ २१७ ॥

अथ सर्वथान्तरंगच्छेदः प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

[बन्धः] बंध [नास्ति] नहीं है ।

टीकाः—अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है; परप्राणोंका व्यपरोप (विच्छेद) बहिरंगछेद है । इनमेंसे अन्तरंगछेद ही विशेष बलवान है, बहिरंगछेद नहीं; क्योंकि—परप्राणोंके व्यपरोपका सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता ऐसे अप्रयत[1] आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला (जाननेमें आनेवाला) अशुद्धोपयोगका सद्भाव जिसके पाया जाता है उसके हिंसाके सद्भावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है; और इसप्रकार जो अशुद्धोपयोगके बिना होता है ऐसे प्रयत[2] आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगका असद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके, परप्राणोंके व्यपरोपके सद्भावमें भी बंधकी अप्रसिद्धि होनेसे, हिंसाके अभावकी प्रसिद्धि सुनिश्चित है । ऐसा होने पर भी (अर्थात् अंतरंग छेद ही विशेष बलवान है बहिरंगछेद नहीं, ऐसा होने पर भी) बहिरंग छेद अंतरंगछेदका आयतनमात्र है, इसलिये उसे (बहिरंगछेदको) स्वीकार तो करना ही चाहिये अर्थात् उसे मानना ही चाहिये ।

भावार्थः—शुद्धोपयोगका हनन होना अन्तरंगहिंसा-अन्तरंग छेद है, और दूसरेके प्राणोंका विच्छेद होना बहिरंग हिंसा-बहिरंगछेद है ।

जीव मरे या न मरे, जिसके अप्रयत आचरण है उसके शुद्धोपयोगका हनन होनेसे अन्तरंग हिंसा होती ही है, और इसलिये अन्तरंग छेद होता ही है । जिसके प्रयत आचरण है उसके, परप्राणोंके व्यपरोपरूप बहिरंग हिंसाके—बहिरंग छेदके—सद्भावमें भी, शुद्धोपयोगका हनन नहीं होनेसे अन्तरंग हिंसा नहीं होती, और इसलिये अन्तरंग छेद नहीं होता ॥ २१७ ॥

अब, सर्वथा अन्तरंग छेद निषेध्य-त्याज्य है, ऐसा उपदेश करते हैं :—

१—अशुद्धोपयोगके बिना अप्रयत आचार कभी नहीं होता, इसलिये जिसके अप्रयत आचार पाया जाता है उसके अशुद्धउपयोग अवश्यमेव होता है । इसप्रकार अप्रयत आचारके द्वारा अशुद्ध उपयोग प्रसिद्ध (ज्ञात) होता है । २—जहां अशुद्ध उपयोग नहीं होता वहां प्रयत आचार पाया जाता है, इसलिये प्रयत आचारके द्वारा अशुद्ध उपयोगका असद्भाव सिद्ध (ज्ञात) होता है ।

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥ २१८ ॥

अयताचारः श्रमणः षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मतः ।
चरति यतं यदि नित्यं कमलमिव जले निरुपलेपः ॥ २१८ ॥

यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्कायप्राणव्यपरोपप्रत्ययबन्धप्रसिद्ध्या हिंसक एव स्यात् । यतश्च तद्विनाभाविना प्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगासद्भावः परप्रत्ययबन्धलेशस्याप्यभावाज्जलदुर्ललितं कमलमिव निरुपलेपत्वप्रसिद्धेरहिंसक एव स्यात् । ततस्तैस्तैः सर्वैः प्रकारैरशुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्यो यैर्यैस्तदायतनमात्रभूतः परप्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो दूरादेव प्रतिषिद्धः स्यात् ॥ २१८ ॥

अथैकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वादुपधिस्तद्वत्प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

गाथा २१८

अन्वयार्थः—[**अयताचारः श्रमणः**] अप्रयत आचारवाला श्रमण [**षट्सु अपि कायेषु**] छहों काय संबंधी [**वधकरः**] वधका करनेवाला [**इति मतः**] माननेमें–कहनेमें आया है; [**यदि**] यदि [**नित्यं**] सदा [**यतं चरति**] प्रयतरूपसे आचरण करे तो [**जले कमलम् इव**] जलमें कमलकी भांति [**निरुपलेपः**] निर्लेप कहा गया है ।

टीकाः—जो अशुद्धोपयोगके विना नहीं होता ऐसे अप्रयत आचारके द्वारा प्रसिद्ध (ज्ञात) होनेवाला अशुद्धोपयोगका सद्भाव हिंसक ही है, क्योंकि छहकायके प्राणोंके व्यपरोपके आश्रयसे होनेवाले बंधकी प्रसिद्धि है । और जो अशुद्धोपयोगके विना होता है ऐसे प्रयत आचारसे प्रसिद्ध होनेवाला अशुद्धोपयोगका असद्भाव अहिंसक ही है, क्योंकि परके आश्रयसे होनेवाले लेशमात्र भी बंधका अभाव होनेसे जलमें झूलते हुये कमलकी भांति निर्लेपत्वकी प्रसिद्धि है । इसलिये उन उन सर्वप्रकारसे अशुद्धोपयोग रूप अन्तरंग छेद निषेध्य है—त्यागने योग्य है, जिन-जिन प्रकारोंसे उसका आयतनमात्रभूत परप्राणव्यपरोपरूप बहिरंग छेद अत्यन्त निषिद्ध हो ।

भावार्थः—शास्त्रोंमें अप्रयत-आचारवान् अशुद्धोपयोगीको छह कायका हिंसक कहा है, और प्रयत-आचारवान् शुद्धोपयोगीको अहिंसक कहा है, इसलिये शास्त्रोंमें जिस जिसप्रकारसे छह कायकी हिंसाका निषेध किया गया हो, उस उस समस्त प्रकारसे अशुद्धोपयोगका निषेध समझना चाहिये ॥ २१८ ॥

अब, उपधि (परिग्रह) को ऐकान्तिक अन्तरंग-छेदत्व होनेसे उपधि अन्तरंग छेदकी भांति त्याज्य है, यह उपदेश करते हैं:—

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥ २१९ ॥

भवति वा न भवति बन्धो मृते जीवेऽथ कायचेष्टायाम्।
बन्धो ध्रुवमुपधेरिति श्रमणास्त्यक्तवन्तः सर्वम् ॥ २१९ ॥

यथा हि कायव्यापारपूर्वकस्य परप्राणव्यपरोपस्याशुद्धोपयोगसद्भावासद्भावाभ्यामनैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमनैकान्तिकमिष्टं, न खलु तथोपधेः, तस्य सर्वथा तदविनाभावित्वप्रसिद्ध्यदैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिकमेव। अत एव भग-

गाथा २१९

अन्वयार्थः—[**अथ**] अब (उपधिके संबंधमें ऐसा है कि), [**कायचेष्टायाम्**] कायचेष्टापूर्वक [**जीवे मृते**] जीवके मरने पर [**बन्धः**] बंध [**भवति**] होता है, [**वा**] अथवा [**न भवति**] नहीं होता; (किन्तु) [**उपधेः**] उपधिसे-परिग्रहसे [**ध्रुवम् बंधः**] निश्चय ही बंध होता है; [**इति**] इसलिये [**श्रमणाः**] श्रमणों (अर्हन्तदेवों) ने [**सर्वं**] सर्व परिग्रहको [**त्यक्तवन्तः**] छोड़ा है।

टीका:—जैसे कायव्यापारपूर्वक परप्राणव्यपरोपको अशुद्धोपयोगके सद्भाव और असद्भावके द्वारा अनैकांतिक[1] बंधरूप होनेसे छेदत्व अनैकांतिक माना गया है, वैसा उपधि (परिग्रह) का नहीं है। परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता, ऐसा जो परिग्रहका सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविनाभावित्व है उससे प्रसिद्ध होनेवाले ऐकान्तिक[2] अशुद्धोपयोगके सद्भावके कारण परिग्रह तो ऐकान्तिक बंधरूप है, इसलिये उसे (परिग्रह को) छेदत्व ऐकान्तिक ही है। इसीलिये भगवन्त अर्हन्तोंने-परम श्रमणोंने स्वयं ही पहले ही सभी परिग्रहको छोड़ा है; और इसीलिये दूसरोंको भी, अन्तरंग छेदकी भाँति प्रथम ही सभी परिग्रह छोड़ने योग्य है, क्योंकि वह (परिग्रह) अन्तरंगछेदके बिना नहीं होता।

भावार्थ:—अशुद्धोपयोगका अभाव हो, फिर भी कायकी हलनचलनादि क्रिया होने पर पर-जीवोंके प्राणोंका घात होजाता है। इसलिये कायचेष्टापूर्वक पर-प्राणोंके घातसे बंध होनेका नियम नहीं है;—अशुद्धोपयोगके सद्भावमें होनेवाले कायचेष्टापूर्वक परप्राणोंके घातसे तो बंध होता है और अशुद्धोपयोगके असद्भावमें होनेवाले कायचेष्टापूर्वक परप्राणोंके घातसे बंध नहीं होता, इसप्रकार कायचेष्टापूर्वक होनेवाले परप्राणोंके घातसे बंधका होना अनैकान्तिक होनेसे उसके छेदत्व अनैकान्तिक है,—नियमरूप नहीं है।

जैसे भावके बिना भी परप्राणोंका घात हो जाता है, उसीप्रकार भाव न हो फिर भी परिग्रहका ग्रहण हो जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता। जहाँ परिग्रहका ग्रहण होता है वहाँ अशुद्धोपयोगका सद्भाव अवश्य होता ही है। इसलिये परिग्रहसे बंधका होना ऐकान्तिक-निश्चित-नियमरूप है। इसलिये [illegible]

१—अनैकान्तिक = अनिश्चित; नियमरूप नहीं; [illegible] २—ऐकान्तिक = निश्चित; [illegible]

वन्तोऽर्हन्तः परमाः श्रमणाः स्वयमेव प्रागेव सर्वमेवोपधिं प्रतिषिद्धवन्तः। अत एव चापरैरप्यन्तरङ्गच्छेदवत्तदनान्तरीयकत्वात्प्रागेव सर्व एवोपधिः प्रतिषेध्यः॥ २१९॥

*वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त-
मेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि।
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नूनं
निश्चेतनस्य वचसामतिविस्तरेऽपि॥ १४॥

अथान्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एवायमुपधिप्रतिषेध इत्युपदिशति—

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ॥ २२०॥

न हि निरपेक्षस्त्यागो न भवति भिक्षोराशयविशुद्धिः।
अविशुद्धस्य च चित्ते कथं नु कर्मक्षयो विहितः॥ २२०॥

न खलु बहिरङ्गसंगसद्भावे तुषसद्भावे तण्डुलगताशुद्धत्वस्येवाशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधस्तद्भावे च न शुद्धोपयोगमूलस्य कैवल्यस्योपलम्भः। अतोऽशुद्धोपयोगरूपस्यान्त-

---

के छेदत्व ऐकान्तिक है। ऐसा होनेसे ही परमश्रमण-अर्हन्त भगवन्तोंने पहलेसे ही सर्वपरिग्रहका त्याग किया है, और अन्य श्रमणोंको भी पहलेसे ही सर्व परिग्रहका त्याग करना चाहिये॥ २१९॥

[अब, 'कहने योग्य सब कहा गया है' इत्यादि कथन श्लोक द्वारा किया जाता है।]

[**अर्थः**—] जो कहने योग्य ही था वह सम्पूर्णतया कह दिया गया है, इतने मात्रसे ही यदि यहां कोई चेतजाय—समझले तो, (अन्यथा) वाणीका अतिविस्तार किया जाय तथापि निश्चेतन (जड़वत्—नासमझ) को व्यामोहका जाल वास्तवमें अति दुस्तर है।

अब, इस उपधि (परिग्रह) का निषेध अंतरंग छेदका ही निषेध है, यह उपदेश करते हैं:—

गाथा २२०

अन्वयार्थः—[**निरपेक्षः त्यागः न हि**] यदि निरपेक्ष (किसी भी वस्तुकी अपेक्षासे-रहित) त्याग न हो तो [**भिक्षोः**] भिक्षुके [**आशयविशुद्धिः**] भावकी विशुद्धि [**न भवति**] नहीं होती; [**च**] और [**चित्ते अविशुद्धस्य**] जो भावमें अविशुद्ध है उसके [**कर्मक्षयः**] कर्मक्षय [**कथं नु**] कैसे [**विहितः**] हो सकता है?

टीका:—जैसे छिलकेके सद्भावमें चावलोंमें पाई जानेवाली (रक्ततारूप) अशुद्धताका त्याग (नाश-अभाव) नहीं होता, उसीप्रकार बहिरंग संगके सद्भावमें अशुद्धोपयोगरूप अंतरंगछेदका त्याग

---

*वसन्ततिलका छन्द।

रंगच्छेदस्य प्रतिषेधं प्रयोजनमपेक्ष्योपधेर्विधीयमानः प्रतिषेधोऽन्तरंगच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ।२२०।

अथैकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेर्विस्तरेणोपदिशति—

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स ।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ २२१ ॥

कथं तस्मिन्नास्ति मूर्च्छा आरम्भो वा असंयमस्तस्य ।
तथा परद्रव्ये रतः कथमात्मानं प्रसाधयति ॥ २२१ ॥

उपधिसद्भावे हि ममत्वपरिणामलक्षणाया मूर्च्छायास्तद्विषयकर्मप्रक्रमपरिणामलक्षणस्यारम्भस्य शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामलक्षणस्यासंयमस्य चावश्यंभावित्वात्तथोपधिद्वितीयस्य परद्रव्यरतत्वेन शुद्धात्मद्रव्यप्रसाधकत्वाभावाच्च ऐकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेरवधार्यत एव । इदमत्र तात्पर्यमेवंविधत्वमुपधेरवधार्य स सर्वथा संन्यस्तव्यः ॥ २२१ ॥

अथ कस्यचित्क्वचित्कदाचित्कथंचित्कश्चिदुपधिरप्रतिषिद्धोऽप्यस्तीत्यपवादमुपदिशति—

नहीं होता और उसके सद्भावमें शुद्धोपयोगमूलक कैवल्य (मोक्ष) की उपलब्धि नहीं होती। इससे (यह कहा गया है कि) अशुद्धोपयोगरूप अंतरंग छेदके निषेधरूप प्रयोजनकी अपेक्षा रखकर विहित (आदेश) किया जानेवाला उपधिका निषेध अन्तरंग छेदका ही निषेध है ॥ २२० ॥

अब, 'उपधि ऐकान्तिक अन्तरंग छेद है' यह विस्तारसे उपदेश करते हैं:--

गाथा २२१

अन्वयार्थः—[**तस्मिन्**] उपधिके सद्भावमें [**तस्य**] उस (भिक्षु) के [**मूर्च्छा**] मूर्छा, [**आरम्भः**] आरंभ [**वा**] या [**असंयमः**] असंयम [**नास्ति**] न हो [**कथं**] यह कैसे हो सकता है? (कदापि नहीं हो सकता); [**तथा**] तथा [**परद्रव्ये रतः**] जो परद्रव्यमें रत हो वह [**आत्मानं**] आत्माको [**कथं**] कैसे [**प्रसाधयति**] साध सकता है?

टीका:—उपधिके सद्भावमें (१) ममत्वपरिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मूर्छा, (२) उपधि संबंधी कर्मप्रक्रम[1] के परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा आरम्भ, अथवा (३) शुद्धात्मस्वरूपकी हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा असंयम अवश्यमेव होता ही है। तथा उपधि जिसका द्वितीय हो (अर्थात् आत्मासे अन्य-परिग्रह जिसने ग्रहण किया हो) उसके परद्रव्यमें रतपना होनेसे शुद्धात्मद्रव्यकी साधकताका अभाव होता है; इससे उपधिके ऐकान्तिक अन्तरंगछेदत्व निश्चित होता ही है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि—'उपधि ऐसा है (परिग्रह अन्तरंग छेद ही है) [illegible] ऐसा निश्चय करके उसे सर्वथा छोड़ना चाहिये ॥ २२१ ॥

अब, 'किसीके कहीं कभी किसी प्रकार कोई उपधि अनिषिद्ध भी है' [illegible] (बतलाते) हैं:—

[1]—कर्मप्रक्रम=काममें युक्त होना; कामकी व्यवस्था।

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥ २२२ ॥

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य ।
श्रमणस्तेनेह वर्ततां कालं क्षेत्रं विज्ञाय ॥ २२२ ॥

आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्व एवोपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः । अयं तु विशिष्टकालक्षेत्रवशात्कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवादः । यदा हि श्रमणः सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परममुपेक्षासंयमं प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवशावसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तुं क्षमते तदापकृष्य संयमं प्रतिपद्यमानस्तद्बहिरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते । स तु तथा स्थीयमानो न खलूपधित्वाच्छेदः, प्रत्युत छेदप्रतिषेध एव । यः किलाशुद्धोपयोगाविनाभावी स छेदः । अयं तु श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुभूताहारनिर्हारादिग्रहणविसर्जनविषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वाच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ॥ २२२ ॥

गाथा २२२

अन्वयार्थः--[ग्रहणविसर्गेषु] जिस उपधिके (आहार-नीहारादिके) ग्रहण विसर्जनमें सेवन करनेमें [येन] जिससे [सेवमानस्य] सेवन करनेवालेके [छेदः] छेद [न विद्यते] नहीं होता [तेन] उस उपधियुक्त, [कालं क्षेत्रं विज्ञाय] काल क्षेत्रको जानकर, [इह] इसलोकमें [श्रमणः] श्रमण [वर्तताम्] भले वर्ते ।

टीकाः—आत्मद्रव्यके द्वितीय पुद्गलद्रव्यका अभाव होनेसे समस्त ही उपधि निषिद्ध है —ऐसा उत्सर्ग (सामान्य नियम है) ; और विशिष्ट कालक्षेत्रके वश कोई उपधि अनिषिद्ध है-ऐसा अपवाद है। जब श्रमण सर्व उपधिके निषेधका आश्रय लेकर परमोपेक्षा संयम[1] को प्राप्त करनेका इच्छुक होने पर भी विशिष्ट कालक्षेत्रके वश हीन शक्तिवाला होनेसे उसे प्राप्त करनेमें असमर्थ होता है, तब उसमें अपकर्षण[2] करके (अनुत्कृष्ट) संयम प्राप्त करता हुआ उसकी बहिरंग साधनमात्र उपधिका आश्रय लेता है। इसप्रकार जिसका आश्रय लिया जाता है ऐसी वह उपधि उपधिपनके कारण वास्तवमें छेदरूप नहीं है, प्रत्युत छेदको निषेधरूप (त्यागरूप) ही है। जो उपधि अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होती वह छेद है। किन्तु यह (संयमकी बाह्य साधनमात्रभूत उपधि) तो श्रामण्यपर्यायकी सहकारी कारणभूत शरीरकी वृत्तिके हेतुभूत आहार-नीहारादिके ग्रहण-विसर्जन (त्याग) संबंधी छेदके निषेधार्थ ग्रहण की जानेसे सर्वथा शुद्धोपयोग सहित है, इसलिये छेदके निषेधरूप ही है ॥ २२२ ॥

१—पर-उपेक्षा संयम = परम-उपेक्षा संयम [उत्सर्ग, निश्चयनय, सर्वपरित्याग परमोपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र, और शुद्धोपयोग;—यह सब एकार्थवाची हैं ।]　२—अपकर्षण = हीनता [अपवाद, व्यवहारनय, एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम (अल्पता-हीनतावाला संयम) सरागचारित्र, और शुभोपयोग यह सब एकार्थवाची हैं ।]

अथाप्रतिषिद्धोपधिस्वरूपमुपदिशति—

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥ २२३ ॥

अप्रतिकुष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसंयतजनैः।
मूर्च्छादिजननरहितं गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥ २२३ ॥

यः किलोपधिः सर्वथा बन्धासाधकत्वादप्रतिक्रुष्टः संयमादन्यत्रानुचितत्वादसंयतजना-प्रार्थनीयो रागादिपरिणाममन्तरेण धार्यमाणत्वान्मूर्च्छादिजननरहितश्च भवति स खल्वप्रतिषिद्धः। अतो यथोदितस्वरूप एवोपधिरुपादेयो न पुनरल्पोऽपि यथोदितविपर्यस्तस्वरूपः ॥ २२३ ॥

अथोत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवाद इत्युपदिशति—

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥ २२४ ॥

किं किंचनमिति तर्कः अपुनर्भवकामिनोऽथ देहेऽपि।
संग इति जिनवरेन्द्रा निःप्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्तः ॥ २२४ ॥

अब अनिषिद्ध उपधिका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा २२३

अन्वयार्थः—[**यद्यपि अल्पम्**] भले ही अल्प हो तथापि [**अप्रतिकुष्टम्**] जो अनिंदित हो, [**असंयतजनैः अप्रार्थनीयं**] असंयतजनोंसे अप्रार्थनीय हो, और [**मूर्च्छादिजनन रहितं**] जो मूर्च्छादिकी जननरहित हो [**उपधिं**] ऐसी ही उपधिको [**श्रमणः**] श्रमण [**गृह्णातु**] ग्रहण करो।

टीका:—जो उपधि सर्वथा बंधकी असाधक होनेसे अनिंदित है, संयमके अतिरिक्त अन्यत्र अनुचित होनेसे असंयतजनोंके द्वारा अप्रार्थनीय (अनिच्छनीय) है, और रागादिपरिणामके बिना धारण की जानेसे मूर्च्छादिके उत्पादनसे रहित है, वह वास्तवमें अनिषिद्ध है। इससे यथोक्त स्वरूपवाली उपधि ही उपादेय है, किन्तु किंचित्मात्र भी यथोक्त स्वरूपसे विपरीत स्वरूपवाली उपधि उपादेय नहीं है ॥ २२३ ॥

अब, 'उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं' ऐसा उपदेश करते हैं:—

गाथा २२४

अन्वयार्थः—[**अथ**] जब कि [**जिनवरेन्द्राः**] जिनवरेन्द्रोंने [**अपुनर्भवकामिनः**] मोक्षाभिलाषीके, [**संगः इति**] 'देह परिग्रह है' ऐसा कहकर [**देहे अपि**] देहमें भी [**निःप्रतिकर्मत्वम्**] अप्रतिकर्मत्व (संस्काररहितत्व) [**उद्दिष्टवन्तः**] कहा (उपदेशा) है,

अत्र श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमानेऽत्यन्तमुपात्तदेहेऽपि परद्रव्यत्वात्परिग्रहोऽयं न नामानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेत्यप्रतिकर्मत्वमुपदिष्टवन्तो भगवन्तोऽर्हद्देवाः । अथ तत्र शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसंभावनरसिकस्य पुंसः शेषोऽन्योऽनुपात्तः परिग्रहो वराकः किं नाम स्यादिति व्यक्त एव हि तेषामाकूतः । अतोऽवधार्यते उत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवादः । इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मत्वात्परमनैर्ग्रन्थ्यमेवावलम्ब्यम् ॥ २२४ ॥

अथ केऽपवादविशेषा इत्युपदिशति—

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं ।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥ २२५ ॥

उपकरणं जिनमार्गे लिङ्गं यथाजातरूपमिति भणितम् ।
गुरुवचनमपि च विनयः सूत्राध्ययनं च निर्दिष्टम् ॥ २२५ ॥

यो हि नामाप्रतिषिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः स खलु निखिलोऽपि श्रामण्यपर्यायसह-

---

तब [**किं किंचनम् इति तर्कः**] उनका यह (स्पष्ट) आशय है कि उसके अन्य परिग्रह तो कैसे हो सकता है ?

टीका:—यहाँ, श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारण होनेसे जिसका निषेध नहीं किया गया है ऐसे अत्यन्त उपात्त[1] शरीरमें भी, 'यह (शरीर) परद्रव्य होनेसे परिग्रह है, वास्तवमें यह अनुग्रहयोग्य नहीं, किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' ऐसा कहकर, भगवन्त अर्हन्तदेवोंने अप्रतिकर्मत्व कहा (उपदेश) है, तब फिर वहाँ शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिकी संभावनाके रसिक पुरुषोंके शेष—अन्य अनुपात्त[2] परिग्रह बेचारा कैसे (अनुग्रह योग्य) हो सकता है ?—ऐसा उनका (अर्हन्त देवोंका) आशय व्यक्त ही है । इससे निश्चित होता है कि—उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं । तात्पर्य यह है कि वस्तुधर्म होनेसे परम निर्ग्रंथत्व ही अवलम्बन योग्य है ॥ २२४ ॥

अब, अपवादके कौन से विशेष (भेद) हैं, सो कहते हैं:—

गाथा २२५

अन्वयार्थः—[**यथाजातरूपं लिंगं**] यथाजातरूप (जन्मजात-नग्न) लिंग [**जिनमार्गे**] जिनमार्ग में [**उपकरणं इति भणितम्**] उपकरण कहा गया है, [**गुरुवचनं**] गुरु के वचन, [**सूत्राध्ययनं च**] सूत्रों का अध्ययन [**च**] और [**विनयः अपि**] विनय भी [**निर्दिष्टम्**] उपकरण कही गई है ।

टीका:—इसमें जो अनिषिद्ध उपधि अपवाद है, वह सभी वास्तवमें ऐसा ही है कि जो श्रामण्यपर्यायके सहकारी कारणके रूपमें उपकार करनेवाला होनेसे उपकरणभूत है, दूसरा नहीं । उसके विशेष

१—उपात्त=प्राप्त, मिला हुआ । २—अनुपात्त=अप्राप्त ।

कारिकारणत्वेनोपकारकारकत्वादुपकरणभूत एव न पुनरन्यः। तस्य तु विशेषाः सर्वाहार्यवर्जितसहजरूपापेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरंगलिंगभूताः कायपुद्गलाः श्रूयमाणतत्कालबोधकगुरुगीर्यमाणात्मतत्त्वद्योतकसिद्धोपदेशवचनपुद्गलास्तथाधीयमाननित्यबोधकानादिनिधनशुद्धात्मतत्त्वद्योतनसमर्थश्रुतज्ञानसाधनीभूतशब्दात्मकसूत्रपुद्गलाश्च शुद्धात्मतत्त्वव्यञ्जकदर्शनादिपर्यायतत्परिणतपुरुषविनीतताभिप्रायप्रवर्तकचित्तपुद्गलाश्च भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यं, कायवद्वचनमनसी अपि न वस्तुधर्मः ॥ २२५ ॥

अथाप्रतिषिद्धशरीरमात्रोपधिपालनविधानमुपदिशति—

(भेद) इस प्रकार हैं:— (१) सर्व आहार्य[1] रहित सहजरूपसे अपेक्षित यथाजातरूपत्वके कारण जो बहिरंग लिंगभूत हैं ऐसे कायपुद्गल; (२) जिनका श्रवण किया जाता है ऐसे तत्कालबोधक[2], गुरुद्वारा कहे जाने पर आत्मतत्व-द्योतक[3], सिद्ध[4] उपदेश रूप वचनपुद्गल; तथा (३) जिनका अध्ययन किया जाता है ऐसे, नित्यबोधक, अनादिनिधन शुद्ध आत्मतत्व को प्रकाशित करनेमें समर्थ श्रुतज्ञानके साधनभूत शब्दात्मक सूत्रपुद्गल; और (४) शुद्ध आत्मतत्वको व्यक्त करनेवाली जो दर्शनादिक पर्यायें, उन रूपसे परिणमित पुरुषके प्रति विनीतता[5] का अभिप्राय प्रवर्तित करनेवाले चित्त पुद्गल। (अपवाद मार्गमें जिस उपकरणभूत उपधिका निषेध नहीं है उसके उपरोक्त चार भेद हैं।)

यहां यह तात्पर्य है कि कायकी भांति वचन और मन भी वस्तुधर्म नहीं है।

भावार्थ:—जिस श्रमणकी श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारणभूत, सर्व कृत्रिमताओंसे रहित यथाजातरूपके सम्मुख वृत्ति जाये, उसे कायका परिग्रह है; जिस श्रमणकी गुरु उपदेशके श्रवणमें वृत्ति रुके, उसे वचनपुद्गलोंका परिग्रह है; जिस श्रमणकी सूत्राध्ययनमें वृत्ति रुके उसके सूत्रपुद्गलोंका परिग्रह है; और जिस श्रमणके योग्य पुरुषके प्रति विनयरूप परिणाम हों उसके मनके पुद्गलोंका परिग्रह है। यद्यपि यह परिग्रह उपकरणभूत है, इस लिये अपवादमार्गमें उनका निषेध नहीं है, तथापि वे वस्तु धर्म नहीं हैं ॥ २२५ ॥

अब, अनिषिद्ध शरीर मात्र उपधिके पालनकी विधिका उपदेश करते हैं:—

१—आहार्य=बाहरसे लाया जानेवाला; कृत्रिम; औपाधिक, (सर्वकृत्रिम–औपाधिक भावोंसे रहित मुनिके आत्माका सहजरूप वस्त्राभूषणादि सर्व कृत्रिमताओंसे रहित यथाजातरूपत्वकी अपेक्षा रखता है अर्थात् मुनिके आत्माका रूप–दशा–सहज होनेसे शरीर भी यथाजात ही होना चाहिये; इसलिये यथाजातरूपत्व मुनिका बाह्यलिंग है।] २—तत्कालबोधक=उसी (उपदेशके) समय ही बोध देनेवाले। [शास्त्र सदा बोधके निमित्तभूत होनेसे नित्यबोधक कहे गये हैं; गुरुवचन उपदेशकालमें ही बोधके निमित्तभूत होनेसे तत्कालबोधक कहे गये हैं।] ३—आत्मतत्त्वद्योतक=आत्मतत्त्वको समझानेवाले–प्रकाशित करनेवाले। ४—सिद्ध=सफल; रामबाण; अमोघ; अचूक; [गुरुका उपदेश सिद्ध–सफल–रामबाण है। ५—विनीतता=विनय; नम्रता; [सम्यग्दर्शनादिपर्यायमें परिणमित पुरुषके प्रति विनयभावसे प्रवृत्त होनेमें मनके पुद्गल निमित्तभूत हैं।]

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥ २२६ ॥

इहलोकनिरपेक्षः अप्रतिबद्धः परस्मिन् लोके ।
युक्ताहारविहारो रहितकषायो भवेत् श्रमणः ॥ २२६ ॥

अनादिनिधनैकरूपशुद्धात्मतत्त्वपरिणतत्वादखिलकर्मपुद्गलविपाकात्यन्तविविक्तस्वभावत्वेन रहितकषायत्वात्तदात्वमनुष्यत्वेऽपि समस्तमनुष्यव्यवहारबहिर्भूतत्वेनेहलोकनिरपेक्षत्वात्तथाभविष्यदमर्त्यादिभावानुभूतितृष्णाशून्यत्वेन परलोकाप्रतिबद्धत्वाच्च परिच्छेद्यार्थोपलम्भप्रसिद्ध्यर्थप्रदीपपूरणोत्सर्पणस्थानीयाभ्यां शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भप्रसिद्ध्यर्थतच्छरीरसंभोजनसंचलनाभ्यां युक्ताहारविहारो हि स्यात् श्रमणः । इदमत्र तात्पर्यम्—यतो हि रहितकषायः ततो न तच्छरीरानुरागेण दिव्यशरीरानुरागेण वाहारविहारयोरयुक्त्या प्रवर्तेत । शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकश्रामण्यपर्यायपालनायैव केवलं युक्ताहारविहारः स्यात् ॥ २२६ ॥

गाथा २२६

अन्वयार्थः—[**श्रमणः**] श्रमण [**रहितकषायः**] कषाय रहित होता हुआ [**इहलोकनिरपेक्षः**] इस लोकमें निरपेक्ष और [**परस्मिन् लोके**] परलोकमें [**अप्रतिबद्धः**] अप्रतिबद्ध होनेसे [**युक्ताहारविहारः भवेत्**] युक्ताहार-विहारी[1] होता है ।

टीका:—अनादिनिधन एकरूप शुद्ध आत्मतत्वमें परिणत होनेसे श्रमण समस्त कर्मपुद्गलके विपाकसे अत्यन्त विविक्त (भिन्न) स्वभावके द्वारा कषायरहित होनेसे, उस (वर्तमान) कालमें मनुष्यत्वके होते हुये भी (स्वयं) समस्त मनुष्य व्यवहारसे बहिर्भूत[2] होनेके कारण इस लोकके प्रति निरपेक्ष (निस्पृह) है; तथा भविष्यमें होनेवाले देवादि भावोंके अनुभवकी तृष्णासे शून्य होनेके कारण परलोकके प्रति अप्रतिबद्ध है; इसलिये, जैसे ज्ञेयपदार्थोंके ज्ञानकी सिद्धिके लिये (घटपटादि पदार्थोंको देखनेके लिये ही) दीपकमें तेल डाला जाता है और दीपकको हटाया जाता है, उसीप्रकार श्रमण शुद्ध आत्मतत्वकी उपलब्धिकी सिद्धिके लिये (शुद्धात्माको प्राप्त करनेके लिये ही) शरीरको खिलाता और चलाता है, इसलिये युक्ताहारविहारी होता है ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि:—श्रमण कषायरहित है इसलिये वह शरीरके (वर्तमान मनुष्य शरीरके) अनुरागसे या दिव्य शरीरके (भावी देव शरीरके) अनुरागसे आहार विहारमें अयुक्तरूपसे प्रवृत्त नहीं होता; (किन्तु) शुद्धात्मतत्वकी उपलब्धिकी साधकभूत श्रामण्यपर्यायके पालनके लिये ही केवल युक्ताहारविहारी होता है ॥ २२६ ॥

१–युक्ताहार विहारी=(१) योग्य (उचित) आहार-विहारवाला; (२) युक्त अर्थात् योगीके आहार विहारवाला; योग पूर्वक (आत्मस्वभावमें युक्तता पूर्वक) आहार विहारवाला । २–बहिर्भूत=बाहर, रहित, उदासीन;

अथ युक्ताहारविहारः साक्षादनाहारविहार एवेत्युपदिशति—

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥ २२७ ॥

यस्यानेषण आत्मा तदपि तपः तत्प्रत्येषकाः श्रमणाः।
अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहाराः ॥ २२७ ॥

स्वयमनशनस्वभावत्वादेषणादोषशून्यभैक्ष्यत्वाच्च युक्ताहारः साक्षादनाहार एव स्यात्। तथाहि—यस्य सकलकालमेव सकलपुद्गलाहरणशून्यमात्मानमवबुध्यमानस्य सकलाशनतृष्णाशून्यत्वात्स्वयमनशन एव स्वभावः। तदेव तस्यानशनं नाम तपोऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात् इति कृत्वा ये तं स्वयमनशनस्वभावं भावयन्ति श्रमणाः, तत्प्रतिषिद्धये चैषणादोषशून्यमन्यद्भैक्षं चरन्ति, ते किलाहरन्तोऽप्यनाहरन्त इव युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययबन्धाभावात्साक्षाद-

---

अब, युक्ताहारविहारी साक्षात् अनाहारविहारी ही है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

गाथा २२७

अन्वयार्थः—[**यस्य आत्मा अनेषणः**] जिसका आत्मा एषणारहित है (अर्थात् जो अनशनस्वभावी आत्माका ज्ञाता होनेसे स्वभावसे ही आहारकी इच्छासे रहित है) [**तत् अपि तपः**] उसे वह भी तप है; (और) [**तत्प्रत्येषकाः**] उसे प्राप्त करनेके लिये (अनशनस्वभाववाले आत्माको परिपूर्णतया प्राप्त करनेके लिये) प्रयत्न करनेवाले [**श्रमणाः**] श्रमणोंके [**अन्यत् भैक्षम्**] अन्य (स्वरूपसे पृथक्) भिक्षा [**अनेषणम्**] एषणारहित (एषण दोषसे रहित) होती है; [**अथ**] इसलिये [**ते श्रमणाः**] वे श्रमण [**अनाहाराः**] अनाहारी हैं।

टीकाः—(१) स्वयं अनशनस्वभाववाला होनेसे (अपने आत्माको स्वयं अनशनस्वभाव वाला जाननेसे) और (२) एषणादोषशून्यभिक्षावाला होनेसे, युक्ताहारी (श्रमण) साक्षात् अनाहारी ही है। यथा-सदा ही समस्त पुद्गलाहारसे शून्य आत्माको जानता हुआ समस्त अनशनतृष्णारहित होनेसे जिसका स्वयं अनशन ही स्वभाव है, वही उसके अनशन नामक तप है, क्योंकि अंतरंगकी विशेष बलवत्ता है। यह समझकर जो श्रमण (१) आत्माको स्वयं अनशनस्वभाव भाते हैं (समझते हैं, अनुभव करते हैं) और (२) उसकी सिद्धिके लिये (पूर्ण प्राप्तिके लिये) एषणादोषशून्य अन्य (पर-रूप) भिक्षा आचरते हैं; वे आहार करते हैं, फिर भी मानों आहार नहीं करते हों—ऐसे होनेसे साक्षात् अनाहारी ही हैं, क्योंकि युक्ताहारित्वके कारण उनके स्वभाव तथा परभाव के निमित्तसे बन्ध नहीं होता।

इसप्रकार (जैसे युक्ताहारी साक्षात् अनाहारी ही है, [illegible]) स्वयं अविहारस्वभाववाला होनेसे और (२) समितिशुद्ध (ईर्यासमितिसे शुद्ध) विहारवाला होनेसे

नाहारा एव भवन्ति । एवं स्वयमविहारस्वभावत्वात्समितिशुद्धविहारत्वाच्च युक्तविहारः साक्षादविहार एव स्यात् इत्यनुक्तमपि गम्येतेति ॥ २२७ ॥

अथ कुतो युक्ताहारत्वं सिद्ध्यतीत्युपदिशति—

केवलदेहो समणो देहे ण मम त्ति रहिदपरिकम्मो ।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥ २२८ ॥

केवलदेहः श्रमणो देहे न ममेति रहितपरिकर्मा ।
आयुक्तवांस्तं तपसा अनिगूह्यात्मनः शक्तिम् ॥ २२८ ॥

यतो हि श्रमणः श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेन केवलदेहमात्रस्योपधेः प्रसह्याप्रतिषेधकत्वात्केवलदेहत्वे सत्यपि देहे 'किं किंचण' इत्यादिप्राक्तनसूत्रद्योतितपरमेश्वराभिप्रायपरिग्रहेण न नाम ममायं ततो नानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेति परित्यक्तसमस्तसंस्कारत्वाद्रहितपरिकर्मा स्यात् । ततस्तन्ममत्वपूर्वकानुचिताहारग्रहणाभावाद्युक्ताहारत्वं सिद्ध्येत् । यतश्च समस्तामप्यात्म-

---

युक्तविहारी (श्रमण) साक्षात् अविहारी ही है—इसप्रकार, अनुक्त होनेपर भी (गाथामें नहीं कहने पर भी) समझना चाहिये ॥ २२७ ॥

अब, (श्रमणके) युक्ताहारित्व कैसे सिद्ध होता है सो उपदेश करते हैं:—

गाथा २२८

अन्वयार्थः—[**केवलदेहः श्रमणः**] केवलदेही (जिसके देहमात्रपरिग्रह विद्यमान है, ऐसे) श्रमणने [**देहे**] शरीरमें भी [**न मम इति**] 'मेरा नहीं है' यह समझकर [**रहितपरिकर्मा**] परिकर्म[1] रहित होते हुये, [**आत्मनः**] अपने आत्माकी [**शक्तिं**] शक्ति को [**अनिगूह्य**] छुपाये विना [**तपसा**] तपके साथ [**तं**] उसे (शरीर को) [**आयुक्तवान्**] युक्त किया (जोड़ा) है ।

टीका:—श्रामण्यपर्यायके सहकारी कारणके रूपमें केवल देहमात्र उपधिको श्रमण बलपूर्वक-हठसे निषेध नहीं करता इसलिये वह केवल देहवान् है; ऐसा (देहवान्) होने पर भी, 'किं किंचण' इत्यादि पूर्वसूत्र (गाथा २२४) द्वारा प्रकाशित किये गये परमेश्वरके अभिप्रायका ग्रहण करके 'यह (शरीर) वास्तवमें मेरा नहीं है इसलिये यह अनुग्रह योग्य नहीं है किन्तु उपेक्षा योग्य ही है' इसप्रकार समस्त शारीरिक संस्कारको छोड़ा हुआ होनेसे परिकर्मरहित है। इसलिये उसके देहके ममत्वपूर्वक अनुचित आहारग्रहणका अभाव होनेसे युक्ताहारित्व सिद्ध होता है। और प्रकारान्तरसे उसने (आत्मशक्तिको किंचित्मात्र भी छुपाये विना) समस्त ही आत्मशक्तिको प्रगट करके, अन्तिम (गाथा २२७) सूत्र द्वारा

१—परिकर्म = शोभा; श्रृङ्गार; संस्कार; प्रतिकर्म ।

शक्तिं प्रकटयन्ननन्तरसूत्रोदितेनानशनस्वभावलक्षणेन तपसा तं देहं सर्वारम्भेणाभियुक्तवान् स्यात् । तत आहारग्रहणपरिणामात्मकयोगध्वंसाभावाद्युक्तस्यैवाहारेण च युक्ताहारत्वं सिद्ध्येत् ॥ २२८ ॥

अथ युक्ताहारस्वरूपं विस्तरेणोपदिशति—

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं ।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥ २२९ ॥

एकः खलु स भक्तः अप्रतिपूर्णोदरो यथालब्धः ।
भैक्षाचरणेन दिवा न रसापेक्षो न मधुमांसः ॥ २२९ ॥

एककाल एवाहारो युक्ताहारः, तावतैव श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरस्य धारणत्वात् । अनेककालस्तु शरीरानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः । शरीरानुराग-

कथित अनशनस्वभावलक्षण[1] तपके साथ उस शरीरको सर्वारम्भ (उद्यम) से युक्त किया है (जोड़ा है); इसलिये आहारग्रहणके परिणामस्वरूप योगध्वंसका[2] अभाव होनेसे उसका आहार युक्त (योगी) का आहार है; इसलिये उसके युक्ताहारित्व सिद्ध होता है ।

भावार्थः—श्रमण दोप्रकारसे युक्ताहारी सिद्ध होता है; (१) शरीर पर ममत्व न होनेसे उसके उचित ही आहार होता है, इसलिये वह युक्ताहारी अर्थात् उचित आहारवाला है । और (२) 'आहार-ग्रहण आत्माका स्वभाव नहीं है' ऐसा परिणाम स्वरूप योग श्रमणके वर्तित होनेसे वह श्रमण युक्त अर्थात योगी है, और इसलिये उसका आहार युक्ताहार अर्थात् योगीका आहार है ॥ २२८ ॥

अब युक्ताहारका स्वरूप विस्तारसे उपदेश करते हैं :—

गाथा २२९

अन्वयार्थः—[**खलु**] वास्तवमें [**सः भक्तः**] वह आहार (युक्ताहार) [**एकः**] एक बार [**अप्रतिपूर्णोदरः**] ऊनोदर [**यथालब्धः**] यथालब्ध (जैसा प्राप्त हो वैसा), [**भैक्षाचरणेन**] भिक्षाचरणसे, [**दिवा**] दिनमें [**न रसापेक्षः**] रसकी अपेक्षासे रहित, और [**न मधुमांसः**] मधु मांस रहित होता है ।

टीकाः—एकबार आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उतनेसे ही श्रामण्य पर्यायका सहकारी कारण-भूत शरीर टिका रहता है । [एकसे अधिकबार आहार लेना युक्ताहार नहीं है, यह निम्नलिखित दोप्रकारसे

१—अनशनस्वभावलक्षणतप=अनशनस्वभाव जिसका लक्षण है ऐसा तप । [जो आत्माके अनशन स्वभावको जानता है उसके अनशनस्वभावलक्षण तप पाया जाता है ।] २—योगध्वंस=योगका नाश ['आहार ग्रहण करना आत्माका स्वभाव है' ऐसे परिणामसे परिणमित होना योगध्वंस है । श्रमणके ऐसा योगध्वंस नहीं होता, इसलिये वह युक्त अर्थात् योगी है, और इसलिये उसका आहार युक्ताहार अर्थात् योगीका आहार है ।]

सेवकत्वेन न च युक्तस्य । अप्रतिपूर्णोदर एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाप्रतिहतयोगत्वात् । प्रतिपूर्णोदरस्तु प्रतिहतयोगत्वेन कथंचित् हिंसायतनीभवन् न युक्तः । प्रतिहतयोगत्वेन न च युक्तस्य । यथालब्ध एवाहारो युक्ताहारः तस्यैव विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागशून्यत्वात् । अयथालब्धस्तु विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः । विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य । भिक्षाचरणेनैवाहारो युक्ताहारः तस्यैवारम्भशून्यत्वात् । अभैक्षाचरणेन त्वारम्भसंभवात्प्रसिद्धहिंसायतनत्वेन न युक्तः । एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य । दिवस एवाहारो युक्ताहारः तदेव सम्यगवलोकनात् । अदिवसे तु सम्यगवलोकनाभावादनिवार्यहिंसायतनत्वेन न युक्तः । एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य । अरसापेक्ष एवाहारो युक्ताहारस्तस्यैवान्तःशुद्धिसुन्दरत्वात् । रसापेक्षस्तु अन्तरशुद्ध्या प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः । अन्तरशुद्धिसेवकत्वेन न च युक्तस्य । अमधुमांस एवाहारो

सिद्ध होता है:—] (१) शरीरके अनुरागसे ही अनेकवार आहारका सेवन किया जाता है, इसलिये अत्यन्ततया हिंसायतन[1] किया जाता हुआ युक्त (योग्य) नहीं है; (अर्थात् वह युक्ताहार नहीं है); और (२) अनेकवार आहारका सेवन करनेवाला शरीरानुरागसे सेवन करनेवाला होता है इसलिये वह आहारयुक्त[2] (योगी) का नहीं है; (अर्थात् वह युक्ताहार नहीं है।)

अपूर्णोदर[3] आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही प्रतिहत[4] योगरहित[5] है। [पूर्णोदर आहार युक्ताहार नहीं है, यह निम्नलिखित दोप्रकारसे सिद्ध होता है:] (१) पूर्णोदर आहार प्रतिहत योगवाला होनेसे कथंचित् हिंसायतन होता हुआ युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) पूर्णोदर आहार करने वाला प्रतिहत योगवाला होनेसे वह युक्त (योगी) का आहार नहीं है।

यथालब्ध आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही (आहार) विशेषप्रियतास्वरूप अनुरागसे शून्य है। (१) अयथालब्ध[6] आहार विशेषप्रियतास्वरूप अनुरागसे सेवन किया जाता है, इसलिये आत्यंतिक हिंसायतन किया जाता हुआ युक्त (योग्य) नहीं है; और अयथालब्ध आहारका सेवन करनेवाला विशेष प्रियतास्वरूप अनुरागके द्वारा सेवन करने वाला होनेसे, वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

भिक्षाचरणसे आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आरंभशून्य है। (१) अभिक्षाचरणसे (भिक्षाचरण रहित) आहारमें आरम्भका सम्भव होनेसे हिंसायतनत्व प्रसिद्ध है, अतः वह आहार युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) ऐसे आहारके सेवनमें (सेवन करनेवाले की) अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त (प्रगट) होनेसे वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

१—हिंसायतन=हिंसाका स्थान [एकसे अधिकवार आहार करनेमें शरीरका अनुराग होता है, इसलिये वह आहार आत्यंतिक हिंसाका स्थान होता है, क्योंकि शरीरका अनुराग ही स्व-हिंसा है।] २—युक्त=आत्मस्वभावमें लगा हुआ; योगी। ३—अपूर्णोदर=पूरा पेट न भरकर; ऊनोदर। ४—प्रतिहत=हनित, नष्ट, रुका हुआ, विघ्नको प्राप्त। ५—योग=आत्मस्वभावमें जुड़ना। ६—अयथालब्ध=जैसा मिल जाय वैसा नहीं, किन्तु अपनी पसंदगीका; स्वेच्छालब्ध।

युक्ताहारः तस्यैवाहिंसायतनत्वात् । समधुमांसस्तु हिंसायतनत्वान्न युक्तः । एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य । मधुमांसमत्र हिंसायतनोपलक्षणं तेन समस्तहिंसायतनशून्य एवाहारो युक्ताहारः ॥ २२९ ॥

अथोत्सर्गापवादमैत्रीसौस्थित्यमाचरणस्योपदिशति—

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥ २३० ॥

बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतो वा पुनर्ग्लानो वा ।
चर्यां चरतु स्वयोग्यां मूलच्छेदो यथा न भवति ॥ २३० ॥

दिनका आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही भलीभांति देखा जा सकता है। (१) अदिवस (दिनके अतिरिक्त समयमें) आहार भलीभांति नहीं देखा जा सकता, इसलिये उसके हिंसायतनत्व अनिवार्य होनेसे वह आहार युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) ऐसे आहारके सेवनमें अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होनेसे वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

रसकी अपेक्षासे रहित आहार ही युक्ताहार है। क्योंकि वही अन्तरंग शुद्धिसे सुन्दर है। (१) रसकी अपेक्षासे युक्त आहार अन्तरंग अशुद्धिके द्वारा आत्यंतिक हिंसायतन किया जाता हुआ युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) उसका सेवन करनेवाला अन्तरंग अशुद्धि पूर्वक सेवन करता है इसलिये वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है।

मधु मांस रहित आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उसके ही हिंसायतनत्वका अभाव है। (१) मधु-मांस सहित आहार हिंसायतन होनेसे युक्त (योग्य) नहीं है; और (२) ऐसे आहारके सेवनमें अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होनेसे वह आहार युक्त (योगी) का नहीं है। यहाँ मधु-मांस हिंसायतनका उपलक्षण है इसलिये ('मधु-मांस रहित आहार युक्ताहार है' इस कथनसे यह समझना चाहिये कि) समस्त हिंसायतनशून्य आहार ही युक्ताहार है ॥ २२९ ॥

अब उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री द्वारा आचरणकी सुस्थितताका उपदेश करते हैं :—

गाथा २३०

अन्वयार्थः—[बालः वा] बाल [वृद्धः वा] वृद्ध [श्रमाभिहतः वा] श्रांत[1] [पुनः ग्लानः वा] या ग्लान[2] श्रमण [मूलच्छेदः] मूलका छेद [यथा न भवति] जैसे न हो उसप्रकारसे [स्वयोग्यां] अपने योग्य [चर्यां चरतु] आचरण आचरो।

१—श्रांत = थकित; थका हुआ।

२—ग्लान = व्याधिग्रस्त; रोगी; दुर्बल।

बालवृद्धश्रान्तग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः। बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः। बालवृद्धश्रान्तग्लानेन संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्गः। बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वाचरणमाचरता संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः। अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम् ॥ २३० ॥

टीका:—बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान (श्रमण) को भी संयमका जो कि शुद्धात्मतत्वका साधन होनेसे मूलभूत है, उसका—छेद जैसे न हो उसप्रकार संयत—अपने योग्य अति कर्कश (कठोर) आचरण ही आचरना; इसप्रकार उत्सर्ग है।

बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान (श्रमण) को शरीरका—जो कि शुद्धात्मतत्वके साधनभूत संयमका साधन होनेसे मूलभूत है उसका—छेद जैसे न हो उसप्रकार बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानको अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना; इसप्रकार अपवाद है।

बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानके, संयमका—जो कि शुद्धात्मतत्वका साधन होनेसे मूलभूत है उसका-छेद जैसे न हो उसप्रकारका संयत ऐसा अपने योग्य अति कठोर आचरण आचरते हुये, (उसके) शरीरका—जो कि शुद्धात्मतत्वके साधनभूत संयमका साधन होनेसे मूलभूत है उसका (भी) छेद जैसे न हो उस प्रकार बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानके (अपने) योग्य मृदु आचरण भी आचरना। इसप्रकार अपवादसापेक्ष[1] उत्सर्ग है।

बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानको शरीरका—जो कि शुद्धात्मतत्वके साधनभूत संयमका साधन होनेसे मूलभूत है, उसका—छेद जैसे न हो उसप्रकारसे बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान ऐसे अपने योग्य मृदु आचरण आचरते हुये, (उसके) संयमका—जो कि शुद्धात्मतत्वका साधन होनेसे मूलभूत है उसका (भी)—छेद जैसे न हो, उसप्रकारसे संयत ऐसा अपने योग्य अतिकर्कश आचरण भी आचरना; इसप्रकार उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद है।

इससे (यह कहा है कि) सर्वथा उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण की सुस्थितता करनी चाहिये ॥ २३० ॥

1—अपवादसापेक्ष = अपवादकी अपेक्षा सहित।

अथोत्सर्गापवादविरोधदौःस्थमाचरणस्योपदिशति—

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥ २३१ ॥

आहारे वा विहारे देशं कालं श्रमं क्षमामुपधिम् ।
ज्ञात्वा तान् श्रमणो वर्तते यद्यल्पलेपी सः ॥ २३१ ॥

अत्र क्षमाग्लानत्वहेतुरुपवासः । बालवृद्धत्वाधिष्ठानं शरीरमुपधिः, ततो बालवृद्धश्रान्तग्लाना एव त्वाकृष्यन्ते । अथ देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः

अब, उत्सर्ग और अपवादके विरोध (अमैत्री) से आचरणकी दुःस्थितता[1] होती है, यह उपदेश करते हैं:—

गाथा २३१

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [श्रमणः] श्रमण [आहारे वा विहारे] आहार अथवा विहारमें [देशं] देश, [कालं] काल, [श्रमं] श्रम, [क्षमां] क्षमता[2] तथा [उपधिं] उपधि, [तान् ज्ञात्वा] इनको जानकर [वर्तते] प्रवर्ते [सः अल्पलेपः] तो वह अल्पलेपी होता है ।

टीका:—क्षमता तथा ग्लानताका हेतु उपवास है और बाल तथा वृद्धत्वका अधिष्ठान उपधि-शरीर है, इसलिये यहाँ (टीकामें) बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान ही लिये गये हैं । (अर्थात् मूल गाथामें जो क्षमा, उपधि इत्यादि शब्द हैं उनका आशय खेंचकर टीकामें 'बाल, वृद्ध, श्रांत, ग्लान' शब्द ही प्रयुक्त किये गये हैं ।

देशकालज्ञको भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत ग्लानत्वके अनुरोधसे (अर्थात् बालत्व, वृद्धत्व, श्रांतत्व अथवा ग्लानत्वका अनुसरण करके) आहार-विहारमें प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरणमें प्रवृत्त होनेसे अल्प लेप होता ही है, (लेपका सर्वथा अभाव नहीं होता) . इसलिये उत्सर्ग अच्छा है ।

देशकालज्ञको भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्वके अनुरोधसे आहार-विहारमें प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरणमें प्रवृत्त होनेसे अल्प ही लेप होता है । (विशेष लेप नहीं होता) . इसलिये अपवाद अच्छा है ।

देशकालज्ञको भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्वके अनुरोधसे, जो आहार-विहार है, उससे होनेवाले अल्पलेपके भयसे उसमें प्रवृत्ति न करे तो (अर्थात् अपवादके आश्रयसे होनेवाले अल्पबंधके

१—दुःस्थित = खराब स्थितिवाला; नष्ट । २—क्षमता = शक्ति; सहनशक्ति; धैर्य ।

प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्गः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्ध-श्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरण प्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वरमपवादः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेना-प्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृत-भारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति। तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपत्वं विगणय्य यथेष्टं प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाश-क्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः। अतः सर्वथोत्सर्गापवादवि-रोधदौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्यं तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भित-वृत्तिः स्याद्वादः॥ २३१॥

भयसे उत्सर्गका हठ करके अपवादमें प्रवृत्त न हो तो), अति कर्कश आचरणरूप होकर अक्रमसे शरीर-पात करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त संयमामृतका समूह वमन कर डाला है उसे तपका अव-काश न रहनेसे, जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसा महान लेप होता है, इसलिये अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं है।

देशकालज्ञको भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्वके अनुरोधसे जो आहार-विहार है, उससे होनेवाले अल्पलेपको न गिनकर उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करे तो (अर्थात् अपवादसे होनेवाले अल्पबन्धके प्रति असावधान होकर उत्सर्गरूप ध्येयको चूककर अपवादमें स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करे तो), मृदुआचरण रूप होकर संयम विरोधीको-असंयतजनके समान हुये उसको-उस समय तपका अवकाश न रहनेसे, जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसा महान् लेप होता है। इसलिये उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद श्रेयस्कर नहीं है।

इससे (यह कहा गया है कि) उत्सर्ग और अपवादके विरोधसे होनेवाले आचरणकी दुःस्थितता सर्वथा निषेध्य (त्याज्य) है, और इसीलिये परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिसकी वृत्ति (अ-स्तित्व, कार्य) प्रगट होती है ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुगम्य (अनुसरण करने योग्य) है।

भावार्थः—जबतक शुद्धोपयोगमें ही लीन न हो जाया जाय तबतक श्रमणको आचरणकी सुस्थि-तिके लिये उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री साधनी चाहिये। उसे अपनी निर्बलताका लक्ष रखे बिना मात्र उत्सर्गका आग्रह रखकर केवल अति कर्कश आचरणका हठ नहीं करना चाहिये; तथा उत्सर्गरूप ध्येयको चूककर मात्र अपवादके आश्रयसे केवल मृदु आचरणरूप शिथिलताका भी सेवन नहीं करना चाहिये। किन्तु इसप्रकारका वर्तन करना चाहिये जिसमें हठ भी न हो और शिथिलताका भी सेवन न हो। सर्वज्ञ भगवानका मार्ग अनेकान्त है। अपनी दशाकी जांच करके जैसे भी योगतः लाभ हो उस प्रकारसे वर्तन करनेका भगवानका उपदेश है।

अपनी चाहे जो (सबल या निर्बल) स्थिति हो, तथापि एक ही प्रकारसे वर्तनां, ऐसा जिनमार्ग नहीं है॥ २३१॥

*इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वीः पृथग्भूमिकाः ।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वत-
श्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम् ॥ १५ ॥

—इत्याचरणप्रज्ञापनं समाप्तम् ।

अथ श्रामण्यापरनाम्नो मोक्षमार्गस्यैकाग्र्यलक्षणस्य प्रज्ञापनं तत्र तन्मूलसाधनभूते प्रथममागम एव व्यापारयति—

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु ।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥ २३२ ॥

एकाग्र्यगतः श्रमणः ऐकाग्र्यं निश्चितस्य अर्थेषु ।
निश्चितिरागमत आगमचेष्टा ततो ज्येष्ठा ॥ २३२ ॥

श्रमणो हि तावदैकाग्र्यगत एव भवति । ऐकाग्र्यं तु निश्चितार्थस्यैव भवति । अर्थ-

अब श्लोक द्वारा आत्मद्रव्यमें स्थिर होनेकी बात कहकर 'आचरणप्रज्ञापन' पूर्ण किया जाता है ।

अर्थः—इसप्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषोंके द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक् पृथक् भूमिकाओंमें व्याप्त चारित्रको यति प्राप्त करके, क्रमशः अतुल निवृत्ति करके, चैतन्य सामान्य और चैतन्य विशेषरूप जिसका प्रकाश है ऐसे निज द्रव्यमें सर्वतः स्थिति करो ।

इसप्रकार 'आचरण प्रज्ञापन' समाप्त हुआ ।

अब, श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ऐसे एकाग्रतालक्षणवाले मोक्षमार्गका प्रज्ञापन है । उसमें प्रथम उस (मोक्षमार्ग) के मूल साधनभूत आगममें व्यापार (प्रवृत्ति) कराते हैं:—

गाथा २३२

अन्वयार्थः—[श्रमणः] श्रमण **[एकाग्र्यगतः]** एकाग्रताको प्राप्त होता है; **[ऐकाग्र्यं]** एकाग्रता **[अर्थेषु निश्चितस्य]** पदार्थोंके निश्चयवान्के होती है; **[निश्चितिः]** (पदार्थोंका) निश्चय **[आगमतः]** आगम द्वारा होता है; **[ततः]** इसलिये **[आगमचेष्टा]** आगममें व्यापार **[ज्येष्ठा]** मुख्य है ।

टीकाः—प्रथम तो श्रमण वास्तवमें एकाग्रताको प्राप्त ही होता है; एकाग्रता पदार्थोंके निश्चयवान्के ही होती है; और पदार्थोंका निश्चय आगम द्वारा ही होता है; इसलिये आगममें ही व्यापार प्रधानतर (विशेष प्रधान) है; दूसरी गति (अन्यमार्ग) नहीं है । इसका कारण यह है कि:—

*शार्दूल विक्रीडित छन्द ।

निश्चयस्त्वागमादेव भवति। तत आगम एव व्यापारः प्रधानतरः, न चान्या गतिरस्ति। यतो न खल्वागममन्तरेणार्था निश्चेतुं शक्यन्ते तस्यैव हि त्रिसमयप्रवृत्तत्रिलक्षणसकलपदार्थसार्थयाथात्म्यावगमसुस्थितान्तरङ्गगम्भीरत्वात्। न चार्थनिश्चयमन्तरेणैकाग्र्यं सिद्ध्येत् यतोऽनिश्चितार्थस्य कदाचिन्निश्चिकीर्षाकुलितचेतसः समन्ततो दोलायमानस्यात्यन्ततरलतया कदाचिच्चिकीर्षाज्वरपरवशस्य विश्वं स्वयं सिसृक्षोर्विश्वव्यापारपरिणतस्य प्रतिक्षणविजृम्भमाणक्षोभतया कदाचिद्बुभुक्षाभावितस्य विश्वं स्वयं भोग्यतयोपादाय रागद्वेषदोषकल्माषितचित्तवृत्तेरिष्टानिष्टविभागेन प्रवर्तितद्वैतस्य प्रतिवस्तुपरिणममानस्यात्यन्तविसंस्थुलतया कृतनिश्चयनिःक्रियनिर्भोगं युगपदापीतविश्वमप्यविश्वतयैकं भगवन्तमात्मानमपश्यतः सततं वैयग्र्यमेव स्यात्। न चैकाग्र्यमन्तरेण श्रामण्यं सिद्ध्येत्, यतो नैकाग्र्यस्यानेकमेवेदमिति पश्यतस्तथाप्रत्ययाभिनिविष्टस्यानेकमेवेदमिति जानतस्तथानुभूतिभावितस्यानेकमेवेदमितिप्रत्यर्थविकल्पव्या-

वास्तवमें आगमके विना पदार्थोंका निश्चय नहीं किया जा सकता; क्योंकि आगम ही, जिसके त्रिकाल (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप) तीन लक्षण प्रवर्तते हैं ऐसे सकलपदार्थसार्थके यथातथ्य ज्ञान द्वारा सुस्थित अंतरंगसे गंभीर है (अर्थात् आगमका ही अंतरंग, सर्व पदार्थोंके समूहके यथार्थज्ञान द्वारा सुस्थित है इसलिये आगम ही समस्त पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानसे गंभीर है।)

और, पदार्थोंके निश्चयके विना एकाग्रता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि, जिसे पदार्थोंका निश्चय नहीं है वह (१) कदाचित् निश्चय करनेकी इच्छासे आकुलताप्राप्त चित्तके कारण सर्वतः दोलायमान (डगमगडोल) होनेसे अत्यन्त तरलता प्राप्त करता है, (२) कदाचित् करनेकी इच्छारूप ज्वरसे परवश होता हुआ विश्वको (समस्त पदार्थोंको) स्वयं सर्जन करनेकी इच्छा करता हुआ विश्वव्यापाररूप (समस्त पदार्थोंकी प्रवृत्तिरूप) परिणमित होनेसे प्रतिक्षण क्षोभकी प्रगटताको प्राप्त होता है, और (३) कदाचित् भोगनेकी इच्छासे भावित होता हुआ विश्वको स्वयं भोग्यरूप ग्रहणकरके, रागद्वेषरूप दोषसे कलुषित चित्तवृत्तिके कारण (वस्तुओंमें) इष्ट अनिष्ट विभागके द्वारा द्वैतको प्रवर्तित करता हुआ प्रत्येक वस्तुरूप परिणमित होनेसे अत्यन्त अस्थिरताको प्राप्त होता है, इसलिये (उपरोक्त तीन कारणोंसे) उस अनिश्चयी जीवके (१) कृत निश्चय, (२) निष्क्रिय और (३) निर्भोग ऐसे भगवान आत्माको—जो कि युगपत् विश्वको पी जानेवाला होने पर भी विश्वरूप न होनेसे एक है उसे—नहीं देखनेसे सतत व्यग्रता ही होती है, (एकाग्रता नहीं होती)।

और एकाग्रताके विना श्रामण्य सिद्ध नहीं होता; क्योंकि जिसके एकाग्रता नहीं है वह जीव (१) 'यह अनेक ही है' ऐसा देखता (श्रद्धान करता) हुआ उसप्रकारकी प्रतीतिमें [1]अभिनिविष्ट' होता है; (२) 'यह अनेक ही है' ऐसा जानता हुआ उसप्रकारकी अनुभूतिसे भावित होता है, और (३) 'यह अनेक ही है' इसप्रकार प्रत्येक पदार्थके विकल्पसे खण्डित (छिन्नभिन्न) चित्त सहित सतत प्रवृत्त होता हुआ उसप्रकारकी वृत्तिसे दुःस्थित होता है, इसलिये उसे एक आत्माकी

१—अभिनिविष्ट = आग्रही, दृढ़।

वृत्तचेतसा सततं प्रवर्तमानस्य तथावृत्तिदुःस्थितस्य चैकात्मप्रतीत्यनुभूतिवृत्तिस्वरूपसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतिप्रवृत्तदृशिज्ञप्तिवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकाग्र्याभावात् शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपं श्रामण्यमेव न स्यात्। अतः सर्वथा मोक्षमार्गापरनाम्नः श्रामण्यस्य सिद्धये भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञे प्रकटानेकान्तकेतने शब्दब्रह्मणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम् ॥ २३२ ॥

अथागमहीनस्य मोक्षाख्यं कर्मक्षपणं न संभवतीति प्रतिपादयति—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥ २३३ ॥

आगमहीनः श्रमणो नैवात्मानं परं विजानाति।
अविजानन्नर्थान् क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुः ॥ २३३ ॥

प्रतीति–अनुभूति–वृत्तिस्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणतिरूप प्रवर्तमान जो दृशि (दर्शन)–ज्ञप्ति-वृत्तिरूप आत्मतत्त्वमें एकाग्रता है उसका अभाव होनेसे शुद्धात्मतत्त्व प्रवृत्तिरूप श्रामण्य ही (शुद्धात्म-तत्त्वमें प्रवृत्तिरूप मुनित्व ही) नहीं होता।

इससे (यह कहा गया है कि) मोक्षमार्ग जिसका दूसरा नाम है ऐसे श्रामण्यकी सर्वप्रकारसे सिद्धि करनेके लिये मुमुक्षु को भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञसे उपज्ञ (स्वयं जानकर कथित) शब्दब्रह्ममें—जिसका कि अनेकान्तरूपी केतन (चिन्ह–ध्वज–लक्षण) प्रगट है उसमें–निष्णात होना चाहिये।

भावार्थ:—आगमके विना पदार्थोंका निश्चय नहीं होता, पदार्थोंके निश्चयके विना अश्रद्धाजनित तरलता, परकर्तृत्वाभिलाषाजनित क्षोभ और परभोक्तृत्वाभिलाषाजनित अस्थिरताके कारण एकाग्रता नहीं होती; और एकाग्रताके विना एक आत्मामें श्रद्धान-ज्ञान-वर्तनरूप प्रवर्तमान शुद्धात्मप्रवृत्ति न होनेसे मुनित्व नहीं होता, इसलिये मोक्षार्थीका प्रधान कर्तव्य शब्दब्रह्म[1] रूप आगममें प्रवीणता प्राप्त करना है ॥ २३२ ॥

अब, आगमहीनके मोक्ष नामसे कहा जानेवाला कर्मक्षय नहीं होता, यह प्रतिपादन करते हैं:—

गाथा २३३

अन्वयार्थः—[**आगमहीनः**] आगमहीन [**श्रमणः**] श्रमण [**आत्मानं**] आत्मा को (निज को) और [**परं**] परको [**न एव विजानाति**] नहीं जानता; [**अर्थान् अविजानन्**] पदार्थों को नहीं जानता हुआ [**भिक्षुः**] भिक्षु [**कर्माणि**] कर्मों को [**कथं**] किसप्रकार [**क्षपयति**] क्षय करे ?

१—शब्दब्रह्म=परमब्रह्मरूप वाच्यका वाचक द्रव्यश्रुत। [इस गाथामें सर्वज्ञोपज्ञ समस्त द्रव्यश्रुत को सामान्यतया आगम कहा गया है। कभी-कभी उसके 'आगम' और 'परमागम' ऐसे दो भेद भी किये जाते हैं; वहां जीवभेदों और कर्मभेदोंके प्रतिपादक द्रव्यश्रुतको 'आगम' कहा जाता है, और समस्त द्रव्यश्रुतके सारभूत चिदानन्द एक परमात्मतत्त्वके प्रकाशक अध्यात्मद्रव्यश्रुतको 'परमागम' कहा जाता है।]

न खल्वागममन्तरेण परात्मज्ञानं परमात्मज्ञानं वा स्यात्, न च परात्मज्ञानशून्यस्य परमात्मज्ञानशून्यस्य वा मोहादिद्रव्यभावकर्मणां ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां वा क्षपणं स्यात्। तथाहि—न तावन्निरागमस्य निरवधिभवापगाप्रवाहवाहिमहामोहमलमलीमसस्यास्य जगतः पीतोन्मत्तकस्येवावकीर्णविवेकस्याविविक्तेन ज्ञानज्योतिषा निरूपयतोऽप्यात्मात्मप्रदेशनिश्चितशरीरादिद्रव्येषूपयोगमिश्रितमोहरागद्वेषादिभावेषु च स्वपरनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावादयं परोऽयमात्मेति ज्ञानं सिद्ध्येत्। तथा च त्रिसमयपरिपाटीप्रकटितविचित्रपर्यायप्राग्भारागाधगम्भीरस्वभावं विश्वमेव ज्ञेयीकृत्य प्रतपतः परमात्मनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावात्

टीका:—वास्तवमें आगमके बिना परात्मज्ञान[1] या परमात्मज्ञान[2] नहीं होता; और परात्मज्ञानशून्यके या परमात्मज्ञानशून्यके मोहादि द्रव्यभाव कर्मोंका या ज्ञप्तिपरिवर्तन[3] रूप कर्मोंका क्षय नहीं होता। वह इसप्रकार है कि—

प्रथम तो, आगमहीन यह जगत—कि जो निरवधि (अनादि) भवसरिताके प्रवाहको बहाने वाले महामोहमलसे मलिन है वह—धतूरा पिये हुये मनुष्य की भांति विवेकके नाशको प्राप्त होनेसे अविविक्त[4] ज्ञानज्योतिसे यद्यपि देखता है तथापि, उसे स्वपर निश्चायक[5] आगमोपदेश पूर्वक स्वानुभवके अभाव के कारण, आत्मामें और आत्मप्रदेशस्थित शरीरादि द्रव्योंमें तथा उपयोगमिश्रित मोहरागद्वेषादि भावोंमें 'यह पर है और यह आत्मा (स्व) है' ऐसा ज्ञान सिद्ध नहीं होता; तथा उसे, परमात्मनिश्चायक[6] आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभवके अभावके कारण, जिसके त्रिकाल परिपाटीमें विचित्र पर्यायोंका समूह प्रगट होता है ऐसे अगाध-गम्भीरस्वभाव विश्व को ज्ञेयरूप करके प्रतपित[7] ज्ञानस्वभावी एक परमात्माका ज्ञान भी सिद्ध नहीं होता।

और (इसप्रकार) जो (१) परात्मज्ञानसे तथा (२) परमात्मज्ञानसे शून्य है उसे, (१) द्रव्यकर्मसे होने वाले शरीरादिके साथ तथा तत्प्रत्ययी[8] मोहरागद्वेषादि भावोंके साथ एकताका अनुभव करनेसे वध्यघातक[9] के विभागका अभाव होनेसे मोहादि द्रव्य-भाव कर्मोंका क्षय सिद्ध नहीं होता, तथा

१—परात्मज्ञान=परका और आत्माका ज्ञान; स्व-परका भेदज्ञान। २—परमात्मज्ञान=परमात्माका ज्ञान, 'मैं समस्त लोकालोकके ज्ञायक ज्ञान स्वभाववाला परम आत्मा हूँ' ऐसा ज्ञान। ३—ज्ञप्तिपरिवर्तन=ज्ञप्ति का बदलना, जाननेकी क्रियाका परिवर्तन (ज्ञान का एक ज्ञेयसे दूसरे ज्ञेयमें बदलना सो ज्ञप्ति परिवर्तनरूप कर्म है) ४—अविविक्त=अविवेकवाली; विवेकशून्य, भेद हीन; अभिन्न, एकमेक। ५—स्वपरनिश्चायक=स्वपरका निश्चय करानेवाला (आगमोपदेश स्वपरका निश्चय कराने वाला है अर्थात् स्वपरका निश्चय करानेमें निमित्तभूत है।) ६—परमात्म निश्चायक=परमात्माका निश्चय कराने वाला (अर्थात् ज्ञानस्वभाव परमात्माका निश्चय करानेमें निमित्त भूत।) ७—प्रतपित=प्रतापवान् (ज्ञानस्वभाव परमात्मा विश्व को ज्ञेयरूप करके तपता है—प्रतापवान् वर्तता है।) ८—तत्प्रत्ययी=तत्संबंधी, वह जिसका निमित्त है ऐसे। ९—वध्यघातक=हनन योग्य और हननकर्ता [आत्मा वध्य है और मोहादिभावकर्म घातक हैं। मोहादि द्रव्यकर्म भी आत्माके घातमें निमित्तभूत होनेसे घातक कहलाते हैं।]

ज्ञानस्वभावस्यैकस्य परमात्मनो ज्ञानमपि न सिद्ध्येत् । परात्मपरमात्मज्ञानशून्यस्य तु द्रव्यकर्मारब्धैः शरीरादिभिस्तत्प्रत्ययैर्मोहरागद्वेषादिभावैश्च सहैक्यमाकलयतो वध्यघातकविभागाभावान्मोहादिद्रव्यभावकर्मणां क्षपणं न सिद्ध्येत् । तथा च ज्ञेयनिष्ठतया प्रतिवस्तु पातोत्पातपरिणतत्वेन ज्ञप्तेरासंसारात्परिवर्तमानायाः परमात्मनिष्ठत्वमन्तरेणानिवार्यपरिवर्ततया ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां क्षपणमपि न सिद्ध्येत् । अतः कर्मक्षपणार्थिभिः सर्वथागमः पर्युपास्यः ॥२३३॥

अथागम एवैकश्चक्षुर्मोक्षमार्गमुपसर्पतामित्यनुशास्ति—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥ २३४ ॥

(२) ज्ञेयनिष्ठता[1] से प्रत्येक वस्तुके उत्पाद विनाशरूप परिणमित होनेके कारण अनादि संसारसे परिवर्तनको पानेवाली जो ज्ञप्ति, उसका परिवर्तन परमात्मनिष्ठताके अतिरिक्त अनिवार्य होनेसे, ज्ञप्ति परिवर्तनरूप कर्मोंका क्षय भी सिद्ध नहीं होता ।

इसलिये कर्मक्षयार्थियोंको सर्वप्रकारसे आगमकी पर्युपासना करना योग्य है ।

भावार्थः—आगमकी पर्युपासनासे रहित जगत को आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव न होनेसे इसप्रकार स्व-परका भेद ज्ञान नहीं होता कि—'यह जो अमूर्तिक आत्मा है सो मैं हूं, और ये समान क्षेत्रावगाही शरीरादिक पर हैं' इसीप्रकार 'ये जो उपयोग है सो मैं हूं और ये उपयोगमिश्रित मोहरागद्वेषादि भाव हैं सो पर हैं' तथा उसे आगमोपदेशपूर्वक स्वानुभव न होनेसे ऐसा परमात्मज्ञान भी नहीं होता कि—'मैं ज्ञानस्वभावी एक परमात्मा हूं ।'

इसप्रकार जिसे (१) स्व-पर ज्ञान तथा (२) परमात्मज्ञान नहीं है उसे, (१) हनन होने योग्य स्व का और हनने वाले मोहादिद्रव्यभावकर्मरूप परका भेद ज्ञान न होनेसे मोहादिद्रव्यभाव कर्मों का क्षय नहीं होता, तथा (२) परमात्मनिष्ठताके अभावके कारण ज्ञप्तिका परिवर्तन नहीं टलनेसे ज्ञप्ति-परिवर्तनरूप कर्मोंका भी क्षय नहीं होता ।

इसलिये मोक्षार्थी सर्वप्रकारसे सर्वज्ञकथित आगमका सेवन करें ॥ २३३ ॥

इसलिये मोक्षार्थियोंको सर्वप्रकारसे सर्वज्ञकथित आगमका सेवन करना चाहिये ॥ २३३ ॥

अब, मोक्षमार्गपर चलनेवालों को आगम ही एक चक्षु है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

गाथा २३४

अन्वयार्थः—[**साधुः**] साधु [**आगमचक्षुः**] आगमचक्षु (आगमरूप चक्षुवाले) हैं, [**सर्वभूतानि**] सर्वप्राणी [**इन्द्रियचक्षूंषि**] इन्द्रिय चक्षुवाले हैं, [**देवाः च**] देव

[1]—ज्ञेयनिष्ठ=ज्ञेयोंमें निष्ठावाला; ज्ञेयपरायण; ज्ञेय सन्मुख [अनादि संसारसे ज्ञप्ति ज्ञेयनिष्ठ होनेसे वह प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति विनाशरूप परिणमित होनेसे परिवर्तन को प्राप्त होती रहती है । परमात्मनिष्ठताके बिना ज्ञप्तिका यह परिवर्तन अनिवार्य है ।]

आगमचक्षुः साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि ।
देवाश्चावधिचक्षुषः सिद्धाः पुनः सर्वतश्चक्षुषः ॥ २३४ ॥

इह तावद्भगवन्तः सिद्धा एव शुद्धज्ञानमयत्वात्सर्वतश्चक्षुषः शेषाणि तु सर्वाण्यपि भूतानि मूर्तद्रव्यावसक्तदृष्टित्वादिन्द्रियचक्षूंषि, देवास्तु सूक्ष्मत्वविशिष्टमूर्तद्रव्यग्राहित्वादवधिचक्षुषः । अथ च तेऽपि रूपिद्रव्यमात्रदृष्टत्वेनेन्द्रियचक्षुर्भ्योऽविशिष्यमाणा इन्द्रियचक्षुष एव । एवममीषु समस्तेष्वपि संसारिषु मोहोपहततया ज्ञेयनिष्ठेषु सत्सु ज्ञाननिष्ठत्वमूलशुद्धात्मतत्त्वसंवेदनसाध्यं सर्वतश्चक्षुस्त्वं न सिद्ध्येत् । अथ तत्सिद्धये भगवन्तः श्रमणा आगमचक्षुषो भवन्ति । तेन ज्ञेयज्ञानयोरन्योन्यसंवलनेनाशक्यविवेचनत्वे सत्यपि स्वपरविभागमारचय्य निर्भिन्नमहामोहाः सन्तः परमात्मानमवाप्य सततं ज्ञाननिष्ठा एवावतिष्ठन्ते । अतः सर्वमप्यागमचक्षुषैव मुमुक्षूणां द्रष्टव्यम् ॥ २३४ ॥

अथागमचक्षुषा सर्वमेव दृश्यत एवेति समर्थयति—

[अवधिचक्षुषः] अवधिचक्षु वाले हैं [पुनः] और [सिद्धाः] सिद्ध [सर्वतः चक्षुषः] सर्वतःचक्षु (सर्व ओरसे चक्षुवाले अर्थात् सर्वात्मप्रदेशोंसे चक्षुवान्) हैं ।

टीका:—प्रथम तो, इस लोकमें भगवन्त सिद्ध ही शुद्धज्ञानमय होनेसे सर्वतः चक्षु हैं, और शेष सभी जीव इन्द्रिय चक्षु हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि मूर्त द्रव्योंमें ही लगी होती है । देव सूक्ष्मत्वविशिष्ट मूर्त द्रव्योंको ग्रहण करते हैं इसलिये वे अवधिचक्षु हैं; अथवा वे भी, मात्र रूपी द्रव्योंको देखते हैं इसलिये उन्हें इन्द्रिय चक्षुवालोंसे अलग न किया जाय तो, इन्द्रियचक्षु ही हैं । इसप्रकार इन सभी संसारी जीवोंके मोहसे उपहत[1] होनेके कारण ज्ञेयनिष्ठ होनेसे, ज्ञाननिष्ठताका मूल जो शुद्धात्मतत्त्वका संवेदन उससे साध्य ऐसा सर्वतःचक्षुत्व सिद्ध नहीं होता ।

अब, उस (सर्वतःचक्षुत्व) की सिद्धिके लिये भगवंत श्रमण आगमचक्षु होते हैं । यद्यपि ज्ञेय और ज्ञानका पारस्परिक मिलन हो जानेसे उन्हें भिन्न करना अशक्य है (अर्थात् ज्ञेय ज्ञानमें ज्ञात न हों ऐसा करना अशक्य है) तथापि वे उस आगमचक्षुसे स्वपरका विभाग करके, जिनने महामोहको भेद डाला है ऐसे वर्तते हुये, परमात्माको पाकर, सतत ज्ञान निष्ठ ही रहते हैं ।

इससे (यह कहा है कि) मुमुक्षुओंको सब कुछ आगमरूप चक्षु द्वारा ही देखना चाहिये ॥ २३४ ॥

अब, यह समर्थन करते हैं कि आगमरूपचक्षुसे सब कुछ दिखाई देता ही है:—

गाथा २३५

1—उपहत=घायल, अशुद्ध, मलिन, भ्रष्ट ।

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं !
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥ २३५ ॥

सर्वे आगमसिद्धा अर्था गुणपर्यायैश्चित्रैः ।
जानन्त्यागमेन हि दृष्ट्वा तानपि ते श्रमणाः ॥ २३५ ॥

आगमेन तावत्सर्वाण्यपि द्रव्याणि प्रमीयन्ते, विस्पष्टतर्कणस्य सर्वद्रव्याणामविरुद्धत्वात् । विचित्रगुणपर्यायविशिष्टानि च प्रतीयन्ते, सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकानेकान्तमयत्वेनैवागमस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः । अतः सर्वेऽर्था आगमसिद्धा एव भवन्ति । अथ ते श्रमणानां ज्ञेयत्वमापद्यन्ते स्वयमेव, विचित्रगुणपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्यव्यापकानेकान्तात्मकश्रुतज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमनात् । अतो न किंचिदप्यागमचक्षुषामदृश्यं स्यात् ॥ २३५ ॥

अथागमज्ञानतत्पूर्वतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वसंयतत्वानां यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति—

अन्वयार्थः—[सर्वे अर्थाः] समस्त पदार्थ **[चित्रैः गुणपर्यायैः]** विचित्र (अनेक प्रकारकी) गुणपर्यायों सहित **[आगमसिद्धाः]** आगमसिद्ध हैं । **[तान् अपि]** उन्हें भी **[ते श्रमणाः]** वे श्रमण **[आगमेन हि दृष्ट्वा]** आगम द्वारा वास्तवमें देखकर **[जानन्ति]** जानते हैं ।

टीकाः—प्रथम तो, आगम द्वारा सभी द्रव्य प्रमेय (ज्ञेय) होते हैं, क्योंकि सर्वद्रव्य विस्पष्ट तर्कणासे अविरुद्ध हैं, (-सर्व द्रव्य आगमानुसार जो विशेष स्पष्ट तर्क उसके साथ मेलवाले हैं, अर्थात् वे आगमानुसार विस्पष्ट विचारसे ज्ञात हों ऐसे हैं) । और फिर, आगमसे वे द्रव्य विचित्र गुणपर्यायवाले प्रतीत होते हैं, क्योंकि आगम को सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मोंमें व्यापक (अनेक धर्मोंको कहनेवाला) अनेकान्तमय[1] होनेसे प्रमाणताकी उपपत्ति है (अर्थात् आगम प्रमाणभूत सिद्ध होता है) । इससे सभी पदार्थ आगम सिद्ध ही हैं । और वे श्रमणोंको स्वयमेव ज्ञेयभूत होते हैं, क्योंकि श्रमण विचित्रगुणपर्यायवाले सर्वद्रव्योंमें व्यापक (सर्वद्रव्योंको जाननेवाले) अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोगरूप[2] होकर परिणमित होते हैं ।

इससे (यह कहा है कि) आगमचक्षुओंको (आगमरूप चक्षुवालोंको) कुछ भी अदृश्य नहीं है ॥ २३५ ॥

अब, आगमज्ञान, तत्पूर्वक तत्त्वार्थश्रद्धान और तदुभयपूर्वक संयतत्वकी युगपतताको मोक्षमार्ग- [illegible]

१—अनेकान्त=अनेक अंत-धर्म । [द्रव्यश्रुत अनेकान्तमय है; सर्वद्रव्योंके [illegible] क्रमशः प्रवर्तमान अनेक धर्मोंमें व्यापक (उन्हें कहनेवाले) अनेक धर्म द्रव्यश्रुतमें हैं ।] २—[illegible] अनेकान्तात्मक है । सर्व द्रव्योंके अनेक धर्मोंमें व्यापक (उन्हें जाननेवाले) [illegible] ।

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स ।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥ २३६ ॥

आगमपूर्वा दृष्टिर्न भवति यस्येह संयमस्तस्य ।
नास्तीति भणति सूत्रमसंयतो भवति कथं श्रमणः ॥ २३६ ॥

इह हि सर्वस्यापि स्यात्कारकेतनागमपूर्विकया तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्ट्या शून्यस्य स्वपरविभागाभावात् कायकषायैः सहैक्यमध्यवसतोऽनिरुद्धविषयाभिलापतया षड्जीवनिकायघातिनो भूत्वा सर्वतोऽपि कृतप्रवृत्तेः सर्वतो निवृत्त्यभावात्तथा परमात्मज्ञानाभावाद् ज्ञेयचक्रक्रमाक्रमणनिरर्गलज्ञप्तितया ज्ञानरूपात्मतत्त्वैकाग्र्यप्रवृत्त्यभावाच्च संयम एव न तावत् सिद्ध्येत् ।

त्व होनेका नियम करते हैं । [अर्थात् ऐसा नियम सिद्ध करते हैं कि—१-आगमज्ञान, २-तत्पूर्वकतत्वार्थश्रद्धान और ३-उन दोनों पूर्वक संयतत्व—इन तीनों—का एक साथ होना ही मोक्षमार्ग है ।]:—

गाथा २३६

अन्वयार्थः—[**इह**] इस लोकमें [**यस्य**] जिसकी [**आगमपूर्वा दृष्टिः**] आगम पूर्वक दृष्टि (दर्शन) [**न भवति**] नहीं है [**तस्य**] उसके [**संयमः**] संयम [**नास्ति**] नहीं है, [**इति**] इसप्रकार [**सूत्रं भणति**] सूत्र कहता है; और [**असंयतः**] असंयत वह [**श्रमणः**] श्रमण [**कथं भवति**] कैसे हो सकता है ?

टीका:—इस लोकमें वास्तवमें, स्यात्कार चिन्हवाले आगमपूर्वक तत्वार्थश्रद्धानलक्षणवाली[1] दृष्टिसे जो शून्य हैं उन सभीको प्रथम तो संयम ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (१) स्वपरके विभागके अभावके कारण काया और कषायोंके साथ एकताका अध्यवसाय करनेवाले वे जीव, विषयों[2] की अभिलाषाका निरोध नहीं होनेसे छह जीवनिकायके घाती होकर सर्वतः प्रवृत्ति करते हैं, इसलिये उनके सर्वतः निवृत्तिका अभाव है । (अर्थात् किसी भी ओरसे किंचितमात्र भी निवृत्ति नहीं है), तथापि (२) उनके परमात्मज्ञानके अभावके कारण ज्ञेयसमूहको क्रमशः जाननेवाली निरर्गल[3] ज्ञप्ति होनेसे ज्ञानरूप आत्मतत्वमें एकाग्रताकी प्रवृत्तिका अभाव है । (इसप्रकार उनके संयम सिद्ध नहीं होता) और (इसप्रकार) जिनके संयम सिद्ध नहीं होता उन्हें सुनिश्चित[4] ऐकाग्र्यपरिणततारूप श्रामण्य ही—जिसका कि

१—तत्वार्थश्रद्धानलक्षणवाली=तत्वार्थका श्रद्धान जिसका लक्षण है ऐसी । [सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्वार्थश्रद्धान है । वह आगमपूर्वक होता है । आगमका चिह्न 'स्यात्' कार है ।] २—जिन जीवोंको स्वपरका भेदज्ञान नहीं है उनके भले ही कदाचित पंचेन्द्रियोंके विषयोंका संयोग दिखाई न देता हो, छह जीवनिकायकी द्रव्यहिंसा न दिखाई देती हो, और इसप्रकार संयोगसे निवृत्ति दिखाई देती हो, तथापि काया और कषायके साथ एकत्व माननेवाले उन जीवोंके वास्तवमें पंचेन्द्रियके विषयोंकी अभिलाषाका निरोध नहीं है, हिंसाका किंचित्मात्र अभाव नहीं है, और इसप्रकार परभावसे किंचित्मात्र निवृत्ति नहीं है । ३—निरर्गल=निरंकुश; संयमरहित; स्वच्छन्दी । ४—सुनिश्चित=दृढ़ (दृढ़तापूर्वक एकाग्रतामें परिणमित होना सो श्रामण्य है ।)

असिद्धसंयमस्य तु सुनिश्चितैकाग्र्यगतत्वरूपं मोक्षमार्गापरनामश्रामण्यमेव न सिद्ध्येत्। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं नियम्येत ॥ २३६ ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥ २३७ ॥

न ह्यागमेन सिद्ध्यति श्रद्धानं यद्यपि नास्त्यर्थेषु।
श्रद्दधान अर्थानसंयतो वा न निर्वाति ॥ २३७ ॥

श्रद्धानशून्येनागमजनितेन ज्ञानेन तदविनाभाविना श्रद्धानेन च संयमशून्येन न तावत्सिद्ध्यति। तथाहि—आगमबलेन सकलपदार्थान् विस्पष्टं तर्कयन्नपि यदि सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं न तथा प्रत्येति तदा यथोदितात्मनः श्रद्धानशून्यतया यथो-

दूसरा नाम मोक्षमार्ग है वही—सिद्ध नहीं होता।

इससे आगमज्ञान—तत्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपतताको ही मोक्षमार्गत्व होनेका नियम (सिद्ध) होता है ॥ २३६ ॥

अब, यह सिद्ध करते हैं कि—आगमज्ञान—तत्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी अयुगपतताको मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता:—

गाथा २३७

अन्वयार्थः—[**आगमेन**] आगमसे [**यदि अपि**] यदि [**अर्थेषु श्रद्धानं नास्ति**] पदार्थोंका श्रद्धान न हो तो, [**न हि सिद्ध्यति**] सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती, [**अर्थान् श्रद्दधानः**] पदार्थोंका श्रद्धान करनेवाला भी [**असंयतः वा**] यदि असंयत हो तो [**न निर्वाति**] निर्वाणको प्राप्त नहीं होता।

टीका:—आगमजनित ज्ञानसे, यदि वह श्रद्धानशून्य हो तो सिद्धि नहीं होती; और जो उस (आगमज्ञान) के बिना नहीं होता ऐसे श्रद्धानसे भी, यदि वह (श्रद्धान) संयमशून्य हो तो सिद्धि नहीं होती। यथा:—

आगमबलसे सकल पदार्थोंकी विस्पष्ट तर्कणा[1] करता हुआ भी यदि जीव सकल पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके साथ मिलित होनेवाला[2] विशद एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्माको उसरूपसे प्रतीत

१—तर्कणा= विचारणा; युक्ति इत्यादिके आश्रयवाला ज्ञान। २—मिलित होनेवाला = मिश्रित होनेवाला; संबंधको प्राप्त; अर्थात् उन्हें जाननेवाला। [सकल पदार्थोंके ज्ञेयाकार जिसके प्रतिबिम्बित होते हैं अर्थात् जो उन्हें जानता है ऐसा स्पष्ट एक ज्ञान ही आत्माका रूप है।]

दितमात्मानमननुभवन् कथं नाम ज्ञेयनिमग्नो ज्ञानविमूढो ज्ञानी स्यात् । अज्ञानिनश्च ज्ञेयद्योतको भवन्नप्यागमः किं कुर्यात् । ततः श्रद्धानशून्यादागमान्नास्ति सिद्धिः । किंच—सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि यदि स्वस्मिन्नेव संयम्य न वर्तयति तदानादिमोहरागद्वेषवासनोपजनितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्वैरिण्याश्चिद्वृत्तेः स्वस्मिन्नेव स्थानान्निर्वासननिःकम्पैकतत्त्वमूर्च्छितचिद्वृत्त्यभावात्कथं नाम संयतः स्यात् । असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् । ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव ॥ २३७ ॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽप्यात्मज्ञानस्य मोक्षमार्गसाधकतमत्वं द्योतयति—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥ २३८ ॥

यदज्ञानी कर्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभिः ।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ २३८ ॥

नहीं करता तो यथोक्त आत्माके श्रद्धानसे शून्य होनेके कारण जो यथोक्त आत्माका अनुभव नहीं करता ऐसा वह ज्ञेयनिमग्न ज्ञान विमूढ़ जीव कैसे ज्ञानी होगा ? (नहीं होगा, वह अज्ञानी ही होगा ।) और अज्ञानीको, ज्ञेयद्योतक होनेपर भी, आगम क्या करेगा ? (आगम ज्ञेयोंका प्रकाशक होनेपर भी वह अज्ञानीके लिये क्या कर सकता है ?) इसलिये श्रद्धानशून्य आगमसे सिद्धि नहीं होती ।

और, सकल पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके साथ मिलित होता हुआ एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्माका श्रद्धान करता हुआ भी, अनुभव करता हुआ भी यदि जीव अपनेमें ही संयमित होकर नहीं रहता, तो अनादि मोह राग द्वेषकी वासनासे जनित जो परद्रव्यमें भ्रमण उसके कारण जो स्वैरिणी (स्वेच्छाचारिणी-व्यभिचारिणी) है ऐसी चिद्वृत्ति (चैतन्यकी परिणति) अपनेमें ही रहनेसे, वासनारहित निष्कंप एक तत्वमें लीन चिद्वृत्तिका अभाव होनेसे, वह कैसे संयत होगा ? (नहीं होगा, असंयत ही होगा) और असंयतको, यथोक्त आत्मतत्वकी प्रतीतिरूप श्रद्धान या यथोक्त आत्मतत्वकी अनुभूतिरूप ज्ञान क्या करेगा ? इसलिये संयमशून्य श्रद्धानसे या ज्ञानसे सिद्धि नहीं होती ।

इससे आगमज्ञान-तत्वार्थश्रद्धान-संयतत्वके अयुगपदत्वके मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता ॥२३७॥

अब, आगमज्ञान-तत्वार्थश्रद्धान-संयतत्वका युगपदत्व होनेपर भी, आत्मज्ञान मोक्षमार्गका साधकतम (उत्कृष्ट साधक) है यह बतलाते हैं:—

गाथा २३८

अन्वयार्थः—[यत् कर्म] जो कर्म **[अज्ञानी]** अज्ञानी **[भवशतसहस्रको-**

यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाट्या बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुखदुःखादिविकारभावपरिणतः पुनरारोपितसंतानं भवशतसहस्रकोटीभिः कथंचन निस्तरति, तदेव ज्ञानी स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञानमयात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्वसद्भावात्कायवाङ्मनःकर्मोपरमप्रवृत्तत्रिगुप्तत्वात् प्रचण्डोपक्रमपच्यमानमपहस्तितरागद्वेषतया दूरनिरस्तसमस्तसुखदुःखादिविकारः पुनरनारोपितसंतानमुच्छ्वासमात्रेणैव लीलयैव पातयति। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम् ॥ २३८ ॥

टिभिः] लक्षकोटिभवोंमें [**क्षपयति**] खपाता है, [**तत्**] वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**त्रिभिः गुप्तः**] तीन प्रकार (मन वचन काय) से गुप्त होनेसे [**उच्छ्वासमात्रेण**] उच्छ्वासमात्रमें [**क्षपयति**] खपा देता है।

टीका:—जो कर्म (अज्ञानीको) क्रमपरिपाटीसे तथा अनेक प्रकारके बालतपादिरूप उद्यमसे पकते हुये, रागद्वेषको ग्रहण किया होनेसे सुखदुःखादिविकार भावरूप परिणमित होनेसे पुनः संतानको आरोपित करता जाय इसप्रकार, लक्षकोटिभवोंमें, ज्यों त्यों करके (महा कष्टसे) अज्ञानी पार कर जाता है, वही कर्म, (ज्ञानीको स्यात्कारकेतन आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपत्ताके अतिशयप्रसादसे प्राप्त शुद्ध आत्मतत्त्वकी अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञानीपनके सद्भावके कारण कायवचन-मनके कर्मोंके उपरम[1] से त्रिगुप्तिता प्रवर्तमान होनेसे प्रचण्ड उद्यमसे पकता हुआ, रागद्वेषके छोड़नेसे समस्त सुखदुःखादिविकार अत्यन्त निरस्त हुआ होनेसे पुनः संतानको आरोपित न करता जाय इसप्रकार उच्छ्वासमात्रमें ही, लीलामात्रसे ही ज्ञानी नष्ट कर देता है।

इससे, आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपत्ता होनेपर भी आत्मज्ञानको ही मोक्षमार्गका साधकतम संमत करना।

भावार्थ:—अज्ञानीके क्रमशः तथा बालतपादिरूप उद्यमसे कर्म पकते हैं, और ज्ञानीके ज्ञानीपनके[2] कारण होनेवाले त्रिगुप्ततारूप प्रचण्ड उद्यमसे कर्म पकते हैं; इसलिये अज्ञानी जिन कर्मोंको अनेक शतसहस्र-कोटि[3] भवोंमें महाकष्टसे उल्लंघन (पार) कर पाता है वही कर्म ज्ञानी उच्छ्वासमात्रमें ही, [illegible]मात्र में ही नष्ट कर डालता है। और अज्ञानीके वह कर्म, सुखदुःखादिविकाररूप परिणमनके कारण, पुनः नूतनकर्मरूप संततिको छोड़ता जाता है, तथा ज्ञानीके सुखदुःखादिविकाररूप परिणमन न होनेसे वह कर्म पुनः नूतनकर्मरूप संततिको नहीं छोड़ता जाता।

इसलिये आत्मज्ञान ही मोक्षमार्गका साधकतम है ॥ २३८ ॥

१—उपरम=विराम, अटक जाना वह, रुक जाना वह; [ज्ञानीके [illegible] कार्य रुक जानेसे त्रिगुप्तिता प्रवर्तती है।] २—ज्ञानीपन=आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ताके अतिशय प्रसादसे प्राप्त शुद्धज्ञानमय आत्मतत्त्वकी अनुभूति ज्ञानीपनका लक्षण है। ३—[illegible] × १००० × १०००००००

अथात्मज्ञानशून्यस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्कर-मित्यनुशास्ति—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥ २३९ ॥

परमाणुप्रमाणं वा मूर्च्छा देहादिकेषु यस्य पुनः ।
विद्यते यदि स सिद्धिं न लभते सर्वागमधरोऽपि ॥ २३९ ॥

यदि करतलामलकीकृतसकलागमसारतया भूतभवद्भावि च स्वोचितपर्यायविशिष्टमशेष-द्रव्यजातं जानन्तमात्मानं जानन् श्रद्दधानः संयमयंश्चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽपि मनाङ्मोहमलोपलिप्तत्वात् यदा शरीरादिमूर्च्छोपरक्ततया निरुपरागोपयोग-परिणतं कृत्वा ज्ञानात्मानमात्मानं नानुभवति तदा तावन्मात्रमोहमलकलङ्ककीलिकाकीलितैः कर्मभिरविमुच्यमानो न सिद्ध्यति । अत आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगप-द्यमप्यकिंचित्करमेव ॥ २३९ ॥

अब, यह उपदेश करते हैं कि- आत्मज्ञानशून्यके सर्व आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्व की युगपत्ता भी अकिंचित्कर है, अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकती:—

गाथा २३९

अन्वयार्थः—[**पुनः**] और [**यदि**] यदि [**यस्य**] जिसके [**देहादिकेषु**] शरीरादिके प्रति [**परमाणुप्रमाणं वा**] परमाणुमात्र भी [**मूर्च्छा**] मूर्च्छा [**विद्यते**] पाई जाय तो [**सः**] वह [**सर्वागमधरः अपि**] भले ही सर्वागमका धारी हो तो भी [**सिद्धिं न लभते**] सिद्धिको प्राप्त नहीं होता ।

टीकाः—सकल आगमके सारको हस्तामलकवत् करनेसे (हथेलीमें रक्खे हुये आंवलेके समान स्पष्ट ज्ञान होनेसे) जो पुरुष भूत-वर्तमान-भावी स्वोचित[1] पर्यायोंके साथ अशेष द्रव्यसमूहको जानने-वाले आत्माको जानता है, श्रद्धान करता है और संयमित रखता है, उस पुरुषके आगमज्ञान-तत्त्वार्थ-श्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ता होनेपर भी, यदि वह किंचित्मात्र भी मोहमलसे लिप्त होनेसे शरीरादिके प्रति (तत्संबंधी) मूर्च्छासे उपरक्त[2] रहनेसे, निरुपराग[3] उपयोगमें परिणत करके ज्ञानात्मक आत्माका अनुभव नहीं करता, तो वह पुरुष मात्र उतने (कुछ) मोहमलकलंकरूप कीलेके साथ बंधे हुये कर्मोंसे न छूटता हुआ सिद्ध नहीं होता ।

इसलिये आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान-तत्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ता भी अकिंचित्कर ही है ॥२३९॥

१—स्वोचित=अपनेको उचित, अपने२ योग्य । [आत्माका स्वभाव त्रिकालकी स्वोचितपर्यायों सहित समस्त द्रव्योंको जानना है ।] २—उपरक्त=मलिन; विकारी । ३—निरुपराग=उपराग रहित; निर्मल; निर्विकार; शुद्ध ।

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं साधयति—

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥ २४० ॥

पञ्चसमितस्त्रिगुप्तः पंचेन्द्रियसंवृतो जितकषायः ।
दर्शनज्ञानसमग्रः श्रमणः स संयतो भणितः ॥ २४० ॥

यः खल्वनेकान्तकेतनागमज्ञानबलेन सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽनुभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चलां वृत्तिमिच्छन् समितिपञ्चकाङ्कुशितप्रवृत्तिप्रवर्तितसंयमसाधनीकृतशरीरपात्रः क्रमेण निश्चलनिरुद्धपंचेन्द्रियद्वारतया समुपरतकायवाङ्मनोव्यापारो भूत्वा चिद्वृत्तेः परद्रव्यचङ्क्रमणनिमित्तमत्यन्तमात्मना सममन्योन्यसंवलनादेकीभूतमपि स्वभावभेदात्परत्वेन निश्चित्यात्मनैव कुशलो मल्ल इव सुनिर्भरं निष्पीड्य निष्पीड्य कषायचक्रमक्रमेण जीवं त्याजयति, स खलु सकलपरद्रव्यशून्योऽपि विशुद्धदृशिज्ञप्तिमात्रस्वभावभूतावस्थापितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात्संयत एव स्यात् । तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थ-

अब आगमज्ञान-तत्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ताको साधित करते हैं; (अर्थात् आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, और संयतत्व इस त्रिक (तीनों) के साथ आत्मज्ञानके युगपत्त्वको सिद्ध करते हैं):—

गाथा २४०

अन्वयार्थः—[**पंचसमितः**] पांचसमितियुक्त, [**पंचेन्द्रियसंवृतः**] पांच इन्द्रियोंका संवरवाला [**त्रिगुप्तः**] तीन गुप्ति सहित, [**जितकषायः**] कषायोंको जीतनेवाला, [**दर्शनज्ञानसमग्रः**] दर्शनज्ञानसे परिपूर्ण [**श्रमणः**] जो श्रमण [**सः**] वह [**संयतः**] संयत [**भणितः**] कहा गया है ।

टीका:—जो पुरुष अनेकान्तकेतन आगमज्ञानके बलसे, सकल पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके साथ मिलित होता हुआ, विशद एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्माका श्रद्धान और अनुभव करता हुआ आत्मामें ही नित्यनिश्चल वृत्तिको इच्छता हुआ, संयमके साधनरूप बनाये हुये शरीरपात्रको पांचसमितियोंसे अंकुशित प्रवृत्ति द्वारा प्रवर्तित करता हुआ, क्रमशः पंचेन्द्रियोंके निश्चल निरोध द्वारा जिसके काय-वचन-मनका व्यापार विरामको प्राप्त हुआ है, ऐसा होकर, चिद्वृत्तिके लिये परद्रव्यमें भ्रमणका निमित्त जो कषायसमूह वह आत्माके साथ अन्योन्य मिलनके कारण अत्यन्त एकरूप हो जाने पर भी स्वभावभेदके कारण उसे पररूपसे निश्चित करके आत्मासे ही कुशल मल्लकी भांति अत्यन्त मर्दन कर-करके अक्रमसे उसे मार डालता है, वह पुरुष वास्तवमें, सकल परद्रव्यसे शून्य होने पर भी विशुद्ध-दर्शन ज्ञानमात्र स्वभावरूपसे रहनेवाले आत्मतत्त्व (स्वद्रव्य) में नित्यनिश्चल परिणति उत्पन्न होनेसे,

१ = आत्मतत्त्वका स्वभाव विशुद्ध दर्शन-ज्ञान मात्र है ।

श्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं सिद्ध्यति ॥ २४० ॥

अथास्य सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतस्य कीदृग्लक्षणमित्यनुशास्ति—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥ २४१ ॥

समशत्रुबन्धुवर्गः समसुखदुःखः प्रशंसानिन्दासमः ।
समलोष्टकाञ्चनः पुनर्जीवितमरणे समः श्रमणः ॥ २४१ ॥

संयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसरं चारित्रं, चारित्रं धर्मः, धर्मः साम्यं, साम्यं मोहक्षोभविहीनः आत्मपरिणामः । ततः संयतस्य साम्यं लक्षणम् । तत्र शत्रुबन्धुवर्गयोः सुखदुःखयोः प्रशंसानिन्दयोः लोष्टकाञ्चनयोर्जीवितमरणयोश्च समम् अयं मम परोऽयं स्वः, अयमाह्लादोऽयं परितापः, इदं ममोत्कर्षणमिदमपकर्षणमयं ममाकिञ्चित्कर इदमुपकारकमिदं ममात्मधारणमयमत्यन्तविनाश इति मोहाभावात् सर्वत्राप्यनुदितरागद्वेषद्वैतस्य सततमपि विशुद्धदृष्टिज्ञप्तिस्वभाव-

साक्षात् संयत ही है । और उसे ही आगमज्ञान–तत्वार्थश्रद्धान–संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ता सिद्ध होती है ॥ २४० ॥

अब, आगमज्ञान-तत्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ता जिसे सिद्ध हुई है ऐसे इस संयतका क्या लक्षण है सो कहते हैं:—

गाथा २४१

अन्वयार्थः—[**समशत्रुबन्धुवर्गः**] जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, [**समसुखदुःखः**] सुख दुख समान है, [**प्रशंसानिन्दासमः**] प्रशंसा और निन्दाके प्रति जिसको समता है. [**समलोष्टकाञ्चनः**] जिसे लोष्ट (मिट्टीका ढेला) और सुवर्ण समान है, [**पुनः**] तथा [**जीवितमरणेसमः**] जीवन-मरणके प्रति जिसको समता है, वह [**श्रमणः**] श्रमण है ।

टीका:—संयम सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक चारित्र है; चारित्रधर्म है; धर्म साम्य है; साम्य मोहक्षोभ रहित आत्मपरिणाम है । इसलिये संयतका साम्यलक्षण है ।

वहाँ, (१) शत्रु-बंधुवर्गमें, (२) सुख-दुखमें, (३) प्रशंसा-निन्दामें, (४) मिट्टी के ढेले और सोनेमें, (५) जीवित-मरणमें एकही साथ (१)'यह मेरा पर (शत्रु) है, यह स्व (स्वजन) है;' (२) 'यह आह्लाद है, यह परिताप है,' (३) 'यह मेरा उत्कर्षण (कीर्ति) है, यह अपकर्षण (अकीर्ति) है,' (४) 'यह मुझे अकिंचित्कर है, यह उपकारक (उपयोगी) है,' (५) 'यह मेरा स्थायित्व है, यह अत्यन्त विनाश है' इसप्रकार मोहके अभावके कारण सर्वत्र जिससे रागद्वेषका द्वैत प्रगट नहीं होता, जो सतत विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्माका अनुभव करता है, और (इसप्रकार) शत्रु-बंधु, सुख-दुख, प्रशंसा-निन्दा, लोष्टकां-

मात्मानमनुभवतः शत्रुबन्धुसुखदुःखप्रशंसानिन्दालोष्टकाञ्चनजीवितमरणानि निर्विशेषमेव ज्ञेयत्वेनाक्रम्य ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किल सर्वतः साम्यं तत्सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यस्य संयतस्य लक्षणमालक्षणीयम् ॥ २४१ ॥

अथेदमेव सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतत्वमैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनाम मोक्षमार्गत्वेन समर्थयति—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥ २४२ ॥

दर्शनज्ञानचरित्रेषु त्रिषु युगपत्समुत्थितो यस्तु।
एकाग्रगत इति मतः श्रामण्यं तस्य परिपूर्णम् ॥ २४२ ॥

ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण

चन और जीवित-मरणको निर्विशेषतया ही (अन्तरके विना ही) ज्ञेयरूप जान कर ज्ञानात्मक आत्मामें जिसकी परिणति अचलित हुई है; उस पुरुषको वास्तवमें जो सर्वतः साम्य है सो (साम्य) संयतका लक्षण समझना चाहिये—कि जिस संयतके आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ता सिद्ध हुई है ॥ २४१ ॥

अब, यह समर्थन करते हैं कि आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व की युगपत्ताके साथ आत्मज्ञान की युगपत्ताकी सिद्धिरूप जो यह संयतता है वही मोक्षमार्ग है, जिसका अपर नाम एकाग्रतालक्षणवाला श्रामण्य है।—

गाथा २४२

अन्वयार्थः—[**यः तु**] जो [**दर्शनज्ञानचरित्रेषु**] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [**त्रिषु**] इन तीनोंमें [**युगपत्**] एक ही साथ [**समुत्थितः**] आरूढ है, वह [**एकाग्रगतः**] एकाग्रताको प्राप्त है [**इति**] इसप्रकार [**मतः**] (शास्त्रमें) कहा है। [**तस्य**] उसके [**श्रामण्यं**] श्रामण्य [**परिपूर्णम्**] परिपूर्ण है।

टीका:—ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्वकी तथाप्रकार (जैसी है वैसी ही, यथार्थ) प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है; ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्वकी तथाप्रकार अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञानपर्याय है; ज्ञेय और ज्ञाताकी क्रियांतर[1] से निवृत्तिके द्वारा रचित दृष्टि-ज्ञातृतत्त्वमें परिणति जिसका लक्षण है वह चारित्रपर्याय है। इन पर्यायोंके और आत्माके भाव्यभावकता[2] के द्वारा उत्पन्न अति गाढ़ इतरेतर

१—क्रियांतर=अन्य क्रिया; [ज्ञेय और ज्ञाता [illegible] अन्य क्रियासे निवृत्त होनेसे उनके [illegible] दृष्टा-ज्ञाता आत्मतत्त्वमें परिणति वह चारित्रपर्यायका लक्षण है।] २—भाव्य [illegible] जिसरूप हो सो भाव्य है। आत्मा भावक है और सम्यग्दर्शनादि पर्यायें भाव्य हैं। भावक और भाव्यका परस्पर अतिगाढ़ मिलन (एकमेकता) होता है। भावक आत्मा अंशी है और भाव्यरूप सम्यग्दर्शनादि पर्यायें [illegible]

ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण च त्रिभिरपि यौगपद्येन भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलादङ्गाङ्गिभावेन परिणतस्यात्मनो यदात्मनिष्ठत्वे सति संयतत्वं तत्पानकवदनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्तपरद्रव्यपरावर्तत्वादभिव्यक्तैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्यः। तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेनैकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वाद्द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तदुभयमिति प्रमाणेन प्रज्ञप्तिः ॥ २४२ ॥

*इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकीभवं-
स्त्रैलक्षण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य यः।

मिलनके बलके कारण इन तीनों पर्यायरूप युगपत् अंग-अंगी भावसे परिणत आत्माके, आत्मनिष्ठता होने पर जो संयतत्व होता है वह संयतत्व, एकाग्रतालक्षणवाला श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ऐसा मोक्षमार्ग ही है-ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि वहाँ (संयतत्वमें) पेय[1] की भांति अनेकात्मक एकका अनुभव होने पर भी, समस्त परद्रव्यसे निवृत्ति होनेसे एकाग्रता अभिव्यक्त (प्रगट) है।

वह (संयतत्वरूप अथवा श्रामण्यरूप मोक्षमार्ग) भेदात्मक है, इसलिये 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है' इसप्रकार पर्यायप्रधान व्यवहारनयसे उसका प्रज्ञापन है; वह (मोक्षमार्ग) अभेदात्मक है इसलिये 'एकाग्रता मोक्षमार्ग है' इसप्रकार द्रव्यप्रधान निश्चयनयसे उसका प्रज्ञापन है; समस्त ही पदार्थ भेदाभेदात्मक है, इसलिये 'वे दोनों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा एकाग्रता) मोक्षमार्ग हैं' इसप्रकार प्रमाणसे उसका प्रज्ञापन है ॥ २४२ ॥

[अब श्लोक द्वारा मोक्षप्राप्तिके लिये दृष्टा-ज्ञातामें लीनता करनेको कहा जाता है।]

अर्थः—इसप्रकार, प्रतिपादकके आशयके वश, एक होनेपर भी अनेक होता हुआ (अभेदप्रधान निश्चयनयसे एक-एकाग्रतारूप-होता हुआ भी वक्ताके अभिप्रायानुसार भेदप्रधान व्यवहारनयसे अनेक भी—दर्शनज्ञानचारित्ररूप भी—होता होनेसे) एकता[3] (एकलक्षणता)को तथा त्रिलक्षणता[4]को प्राप्त जो

*शार्दूल विक्रीडित छन्द।

१—पेय = पीनेकी वस्तु, जैसे ठंडाई। [ठंडाईका स्वाद अनेकात्मक एक होता है; क्योंकि अभेदसे उसमें ठंडाईका ही स्वाद आता है, और भेदसे उसमें दूध, शक्कर, सौंफ, कालीमिर्च तथा बादाम आदि अनेक वस्तुओंका स्वाद आता है।] २—यहाँ अनेकात्मक एकके अनुभवमें जो अनेकात्मकता है वह परद्रव्यमय नहीं है। वहाँ परद्रव्योंसे तो निवृत्ति ही है; मात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्व-अंशोंके कारण ही अनेकात्मकता है। इसलिये वहाँ, अनेकात्मकता होनेपर भी एकाग्रता (एक-अग्रता) है, ३—द्रव्यप्रधाननिश्चयनयसे मात्र एकाग्रता ही एक मोक्षमार्गका लक्षण है। ४—पर्यायप्रधान व्यवहारनयसे दर्शनज्ञानचारित्ररूप त्रिक मोक्षमार्गका लक्षण है।

द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दता-
मास्कन्दत्यचिराद्विकाशमतुलं येनोल्लसन्त्याश्चितेः ॥ १६ ॥

अथानैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ २४३ ॥

मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा द्रव्यमन्यदासाद्य ।
यदि श्रमणोऽज्ञानी बध्यते कर्मभिर्विविधैः ॥ २४३ ॥

यो हि न खलु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति सोऽवश्यं ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति । तदासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानाद्भ्रष्टः स्वयमज्ञानीभूतो मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा तथाभूतश्च बध्यत एव न तु विमुच्यते । अत अनैकाग्र्यस्य न मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत् ॥ २४३ ॥

अथैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वमवधारयन्नुपसंहरति—

अपवर्ग (मोक्ष) का मार्ग उसे लोक दृष्टा-ज्ञातामें परिणति बांधकर (लीन करके) अचलरूपसे आलम्बन करे, जिससे वह (लोक) उल्लसित चेतनाके अतुल विकासको अल्पकालमें प्राप्त हो ।

अब यह दिखाते हैं कि—अनेकाग्रताके मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता (अर्थात् अनेकाग्रता मोक्ष-मार्ग नहीं है):—

गाथा २४३

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि [**श्रमणः**] श्रमण, [**अन्यत् द्रव्यम् आसाद्य**] अन्यद्रव्यका आश्रय करके [**अज्ञानी**] अज्ञानी होता हुआ, [**मुह्यति वा**] मोह करता है, [**रज्यति वा**] राग करता है, [**द्वेष्टि वा**] अथवा द्वेष करता है, तो वह [**विविधैः कर्मभिः**] विविध कर्मोंसे [**बध्यते**] बंधता है ।

टीका:—जो वास्तवमें ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को नहीं भाता, वह अवश्य ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय करता है, और उसका आश्रय करके, ज्ञानात्मक आत्मज्ञानसे भ्रष्ट वह स्वयं अज्ञानी होता हुआ मोह करता है, राग करता है, अथवा द्वेष करता है; और ऐसा (मोही रागी अथवा द्वेषी) होता हुआ बंधको ही प्राप्त होता है, परन्तु मुक्त नहीं होता ।

इससे अनेकाग्रताको मोक्षमार्गत्व सिद्ध नहीं होता ॥ २४३ ॥

अब, एकाग्रता मोक्षमार्ग है ऐसा (आचार्यदेव) निश्चित करते हुये (मोक्षमार्ग-प्रज्ञापनका) उपसंहार करते हैं:—

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥ २४४ ॥
अर्थेषु यो न मुह्यति न हि रज्यति नैव द्वेषमुपयाति ।
श्रमणो यदि स नियतं क्षपयति कर्माणि विविधानि ॥ २४४ ॥

यस्तु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति स न ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति । तदनासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमेव ज्ञानीभूतस्तिष्ठन्न मुह्यति न रज्यति न द्वेष्टि तथाभूतः सन् मुच्यत एव न तु बध्यते । अत ऐकाग्र्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत् ॥ २४४ ॥ इति मोक्षमार्ग-प्रज्ञापनम् ॥

अथ शुभोपयोगप्रज्ञापनम् । तत्र शुभोपयोगिनः श्रमणत्वेनान्वाचिनोति—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥ २४५ ॥
श्रमणाः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ताश्च भवन्ति समये ।
तेष्वपि शुद्धोपयुक्ता अनास्रवाः सास्रवाः शेषाः ॥ २४५ ॥

गाथा २४४

अन्वयार्थः—[**यदि यः श्रमणः**] यदि श्रमण [**अर्थेषु**] पदार्थोंमें [**न मुह्यति**] मोह नहीं करता, [**न हि रज्यति**] राग नहीं करता, [**न एव द्वेषम् उपयाति**] और न द्वेषको प्राप्त होता है [**सः**] तो वह [**नियतं**] नियमसे [**विविधानि कर्माणि**] विविध कर्मोंको [**क्षपयति**] खपाता है ।

टीका:—जो ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को भाता है वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय नहीं करता; और उसका आश्रय नहीं करके ज्ञानात्मक आत्मज्ञानसे अभ्रष्ट वह स्वयमेव ज्ञानी-भूत रहता हुआ मोह नहीं करता, राग नहीं करता; द्वेष नहीं करता, और ऐसा वर्तता हुआ (वह) मुक्त ही होता है, परन्तु बंधता नहीं है ।

इससे एकाग्रताको ही मोक्षमार्गत्व सिद्ध होता है ॥ २४४ ॥

इसप्रकार मोक्षमार्गप्रज्ञापन समाप्त हुआ !

अब, शुभोपयोगका प्रज्ञापन करते हैं । उसमें (प्रथम), शुभोपयोगियोंको श्रमणरूपमें गौणतया बतलाते हैं:—

गाथा २४५

अन्वयार्थः—[**समये**] शास्त्रमें (ऐसा कहा है कि), [**शुद्धोपयुक्ताः श्रमणाः**] शुद्धोपयोगी श्रमण हैं, [**शुभोपयुक्ताः च भवन्ति**] शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं [**तेषु**

ये खलु श्रामण्यपरिणतिं प्रतिज्ञायापि जीवितकषायकणतया समस्तपरद्रव्यनिवृत्तिप्रवृत्त-सुविशुद्धदृशिज्ञप्तिस्वभावात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोगभूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते । ते तदुप-कण्ठनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो नितान्तमुत्कण्ठुलमनसः श्रमणाः किं भवेयुर्न वेत्यत्राभि-धीयते । 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो । पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं' इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः । ततः शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद्भवेयुः श्रमणाः किंतु तेषां शुद्धोपयोगिभिः समं समकाष्ठत्वं न भवेत्, यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव। इमे पुनरनवकीर्णकषायकणत्वा-

अपि] उनमें भी **[शुद्धोपयुक्ताः अनास्रवाः]** शुद्धोपयोगी निरास्रव हैं, **[शेषाः सास्रवाः]** शेष सास्रव हैं, (अर्थात्—शुभोपयोगी आस्रव सहित हैं ।)

टीका:—जो वास्तवमें श्रामण्यपरिणतिकी प्रतिज्ञा करके भी, कषाय-कणके जीवित होनेसे, समस्त परद्रव्यसे निवृत्तिरूपसे प्रवर्तमान जो सुविशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्मतत्त्वमें परिणतिरूप शुद्धोपयोग-भूमिका उसमें आरोहण करनेको असमर्थ हैं; वे (शुभोपयोगी) जीव—जो कि शुद्धोपयोगभूमिकाके उपकंठ[1] निवास कर रहे हैं, और कषायने जिनकी शक्ति कुण्ठित की है, तथा जो अत्यन्त उत्कण्ठित मनवाले हैं, वे-श्रमण हैं या नहीं, यह यहाँ कहा जारहा है :—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो । पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥

इसप्रकार (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यने ११ वीं गाथामें) स्वयं ही निरूपण किया है, इसलिये शुभो-पयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय[2] है। इसलिये शुभोपयोगी भी, उनके धर्मका सद्भाव होनेसे, श्रमण हैं। किन्तु वे शुद्धोपयोगियोंके साथ समान कोटिके नहीं हैं, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायोंको निरस्त किया होनेसे निरास्रव ही हैं और ये शुभोपयोगी तो कषायकणके विनष्ट न होनेसे सास्रव ही हैं। और ऐसा होनेसे ही शुद्धोपयोगियोंके साथ इन्हें (शुभोपयोगियोंको) एकत्रित नहीं लिया (वर्णन किया) जाता, मात्र पीछेसे (गौणरूपमें ही) लिया जाता है।

भावार्थ:—परमागममें ऐसा कहा है कि शुद्धोपयोगी श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी गौणतया श्रमण हैं। जैसे निश्चयसे शुद्ध बुद्ध-एक-स्वभाववाले सिद्ध जीव ही जीव कहलाते हैं और व्यवहारसे चतुर्गति परिणत अशुद्ध जीव भी जीव कहे जाते हैं, इसीप्रकार श्रमणत्वमें शुद्धोपयोगी जीवोंकी मुख्यता है और शुभोपयोगी जीवोंकी गौणता है; क्योंकि शुद्धोपयोगी निज शुद्धात्मभावनाके बलसे समस्त

(अर्थ—धर्मपरिणत स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्धोपयोगमें युक्त हो तो मोक्षसुखको पाता है, और यदि शुभोपयोगमें युक्त हो तो स्वर्गसुखको (बंधको) पाता है ।)

१—उपकंठ = तलहटी; तलेटी; निकटवर्ती भाग; किनारा। २—एकार्थसमवाय = एक पदार्थमें साथ रहनेरूप संबंध (आत्मपदार्थमें धर्म और शुभोपयोग एकसाथ हो सकता है इसलिये शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय है ।)

त्सास्रवा एव। अत एव च शुद्धोपयोगिभिः सममभी न समुच्चीयन्ते केवलमन्वाचीयन्त एव॥ २४५ ॥

अथ शुभोपयोगिश्रमणलक्षणमासूत्रयति—

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया॥ २४६॥

अर्हदादिषु भक्तिर्वत्सलता प्रवचनाभियुक्तेषु।
विद्यते यदि श्रामण्ये सा शुभयुक्ता भवेच्चर्या॥ २४६॥

सकलसंगसंन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशवशात् स्वयं शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थातुमशक्तस्य परेषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थितेष्वर्हदादिषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रावस्थितिप्रतिपादकेषु प्रवचनाभियुक्तेषु च भक्त्या वत्सलतया च प्रचलितस्य तावन्मात्ररागप्रवर्तितपरद्रव्यप्रवृत्तिसंवलितशुद्धात्मवृत्तेः शुभोपयोगि चारित्रं स्यात्। अतः शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुराग-

---

शुभाशुभ संकल्प-विकल्पोंसे रहित होनेसे निरास्रव ही हैं, और शुभोपयोगियोंके मिथ्यात्वविषयकषायरूप अशुभास्रवका निरोध होने पर भी वे पुण्यास्रवयुक्त हैं॥ २४५॥

अब, शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण सूत्रद्वारा कहते हैं:—

गाथा २४६

अन्वयार्थः—[**श्रामण्ये**] श्रामण्यमें [**यदि**] यदि [**अर्हदादिषु भक्तिः**] अर्हन्तादिके प्रति भक्ति तथा [**प्रवचनाभियुक्तेषु वत्सलता**] प्रवचनरत जीवोंके प्रति वात्सल्य [**विद्यते**] पाया जाता है तो [**सा**] वह [**शुभयुक्ता चर्या**] शुभयुक्त चर्या (शुभोपयोगी चारित्र [**भवेत्**] है।

टीका:—सकल संगके सन्यासस्वरूप श्रामण्यके होने पर भी जो कषायांशके आवेशके वश केवल शुद्धात्मपरिणतिरूपसे रहनेमें स्वयं अशक्त है, ऐसा श्रमण, पररूप (१) केवल शुद्धात्मपरिणतरूपसे रहनेवाले अर्हन्तादिक तथा (२) केवल शुद्धात्मपरिणतरूपसे रहनेका प्रतिपादन करनेवाले प्रवचनरत जीवोंके प्रति (१) भक्ति तथा (२) वात्सल्यसे चंचल है उस (श्रमण) के, मात्र उतने रागसे प्रवर्तमान परद्रव्यप्रवृत्तिके साथ शुद्धात्मपरिणति मिलित होनेसे, शुभोपयोगी चारित्र है।

इससे (यह कहा गया है कि) शुद्धात्माका अनुरागयुक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणोंका लक्षण है।

भावार्थ:—मात्र शुद्धात्मपरिणतिरूप रहनेमें असमर्थ होनेके कारण जो श्रमण, पर जो अर्हन्तादि, उनके प्रति भक्तिसे तथा पर जो आगमपरायण जीव, उनके प्रति वात्सल्यसे चंचल (अस्थिर) हैं उनके शुभोपयोगी चारित्र है, क्योंकि शुद्धात्मपरिणति परद्रव्य प्रवृत्ति (परद्रव्यमें प्रवृत्ति) के साथ

योगि चारित्रत्वलक्षणम् ॥ २४६ ॥

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां प्रवृत्तिमुपदर्शयति—

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥ २४७ ॥

वन्दननमस्करणाभ्यामभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः ।
श्रमणेषु श्रमापनयो न निन्दिता रागचर्यायाम् ॥ २४७ ॥

शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्येत् ॥ २४७ ॥

अथ शुभोपयोगिनामेवैवंविधाः प्रवृत्तयो भवन्तीति प्रतिपादयति—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ २४८ ॥

मिली हुई है, अर्थात् वह शुभभावके साथ मिश्रित है ॥ २४६ ॥

अब, शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्ति बतलाते हैं :—

गाथा २४७

अन्वयार्थः—[**श्रमणेषु**] श्रमणोंके प्रति [**वन्दननमस्करणाभ्यां**] वन्दन नमस्कार सहित [**अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः**] अभ्युत्थान[1] और अनुगमनरूप[2] विनीत[3] प्रवृत्ति करना तथा [**श्रमापनयः**] उनका श्रम दूर करना [**रागचर्यायाम्**] रागचर्यामें [**न निन्दिता**] निन्दित नहीं है।

टीका:—शुभोपयोगियोंके शुद्धात्माके अनुरागयुक्त चारित्र होता है, इसलिये जिनने शुद्धात्मपरिणति प्राप्त की है ऐसे श्रमणोंके प्रति जो वन्दन-नमस्कार-अभ्युत्थान-अनुगमनरूप विनीत वर्तनकी प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षाकी निमित्तभूत जो श्रम दूर करनेकी (वैयावृत्यरूप) प्रवृत्ति है, वह शुभोपयोगियोंके लिये दूषित (दोषरूप, निन्दित) नहीं है। (अर्थात् शुभोपयोगी मुनियोंके ऐसी प्रवृत्तिका निषेध नहीं है) ॥ २४७ ॥

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि शुभोपयोगियोंके ही ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं :—

गाथा २४८

अन्वयार्थः—[**दर्शनज्ञानोपदेशः**] दर्शनज्ञानका (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका)

१—अभ्युत्थान=मानार्थ खड़ा हो जाना वह। २—अनुगमन=पीछे चलना वह। ३—विनीत=विनययुक्त, सम्मानयुक्त, विवेकी, सभ्य।

दर्शनज्ञानोपदेशः शिष्यग्रहणं च पोषणं तेषाम् ।
चर्या हि सरागाणां जिनेन्द्रपूजोपदेशश्च ॥ २४८ ॥

अनुजिघृक्षापूर्वकदर्शनज्ञानोपदेशप्रवृत्तिः शिष्यसंग्रहणप्रवृत्तिस्तत्पोषणप्रवृत्तिर्जिनेन्द्रपूजोपदेशप्रवृत्तिश्च शुभोपयोगिनामेव भवन्ति न शुद्धोपयोगिनाम् ॥ २४८ ॥

अथ सर्वा एव प्रवृत्तयः शुभोपयोगिनामेव भवन्तीत्यवधारयति—

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ २४९ ॥

उपकरोति योऽपि नित्यं चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य ।
कायविराधनरहितं सोऽपि सरागप्रधानः स्यात् ॥ २४९ ॥

प्रतिज्ञातसंयमत्वात् षट्कायविराधनरहिता या काचनापि शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता चातुर्व-

---

उपदेश, [**शिष्यग्रहणं**] शिष्योंका ग्रहण, [**च**] तथा [**तेषाम् पोषणं**] उनका पोषण, [**च**] और [**जिनेन्द्रपूजोपदेशः**] जिनेन्द्रकी पूजाका उपदेश [**हि**] वास्तवमें [**सरागाणां-चर्या**] सरागियोंकी चर्या है ।

टीका—अनुग्रह करनेकी इच्छापूर्वक दर्शनज्ञानके उपदेशकी प्रवृत्ति, शिष्यग्रहणकी प्रवृत्ति, उनके पोषणकी प्रवृत्ति और जिनेन्द्रपूजनके उपदेशकी प्रवृत्ति शुभोपयोगियोंके ही होती है, शुद्धोपयोगियोंके नहीं ॥ २४८ ॥

अब, यह निश्चित करते हैं कि सभी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियोंके ही होती हैं :—

गाथा २४९

अन्वयार्थः—[**यः अपि**] जो कोई (श्रमण) [**नित्यं**] सदा [**कायविराधन-रहितं**] (छह) कायकी विराधनासे रहित [**चातुर्वर्णस्य**] चारप्रकारके [**श्रमणसंघस्य**] श्रमण संघका [**उपकरोति**] उपकार करता है, [**सः अपि**] वह भी [**सरागप्रधानः स्यात्**] रागकी प्रधानतावाला है ।

टीका—संयमकी प्रतिज्ञा की होनेसे षट्काय[1]के विराधनसे रहित जो कोई भी, शुद्धात्मपरिणति के रक्षणमें निमित्तभूत, चारप्रकार[2]के श्रमणसंघका उपकार करनेकी प्रवृत्ति है वह सभी रागप्रधानताके

१—श्रमणसंघको शुद्धात्मपरिणतिके रक्षणमें निमित्तभूत जो उपकार प्रवृत्ति शुभोपयोगी श्रमण करते हैं वह छह कायकी विराधनासे रहित होती है, क्योंकि उन (शुभोपयोगी श्रमणों) ने संयमकी प्रतिज्ञा ली है ।

२—श्रमणके ४ प्रकार यह हैं:—(१) ऋषि, (२) मुनि, (३) यति और (४) अनगार । ऋद्धिप्राप्त श्रमण ऋषि हैं, अवधि, मनःपर्यय अथवा केवलज्ञानवाले श्रमण मुनि हैं, उपशमक या क्षपकश्रेणीमें आरूढ़ श्रमण यति हैं, और सामान्य साधु अनगार हैं । इसप्रकार चतुर्विध श्रमण संघ है ।

र्णस्य श्रमणसंघस्योपकारकरणप्रवृत्तिः सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभोपयोगिनामेव भवति न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम् ॥ २४९ ॥

अथ प्रवृत्तेः संयमविरोधित्वं प्रतिषेधयति—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥ २५० ॥

यदि करोति कायखेदं वैयावृत्त्यर्थमुद्यतः श्रमणः ।
न भवति भवत्यगारी धर्मः स श्रावकाणां स्यात् ॥ २५० ॥

यो हि परेषां शुद्धात्मवृत्तित्राणाभिप्रायेण वैयावृत्त्यप्रवृत्त्या स्वस्य संयमं विराधयति स गृहस्थधर्मानुप्रवेशात् श्रामण्यात् प्रच्यवते । अतो या काचन प्रवृत्तिः सा सर्वथा संयमाविरोधेनैव विधातव्या । प्रवृत्तावपि संयमस्यैव साध्यत्वात् ॥ २५० ॥

कारण शुभोपयोगियोंके ही होती है, शुद्धोपयोगियोंके कदापि नहीं ॥ २४९ ॥

अब प्रवृत्तिके संयमके विरोधी होनेका निषेध करते हैं (अर्थात् शुभोपयोगी श्रमणको संयमके साथ विरोधवाली प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये,—यह कहते हैं) :—

गाथा २५०

अन्वयार्थः—[**यदि**] यदि (श्रमण) [**वैयावृत्त्यर्थम् उद्यतः**] वैयावृत्तिके लिये उद्यमी वर्तता हुआ [**कायखेदं**] छह कायको पीड़ित [**करोति**] करता है तो वह [**श्रमणः न भवति**] श्रमण नहीं है, [**अगारी भवति**] गृहस्थ है; (क्योंकि) [**सः**] वह (छह-कायकी विराधना सहित वैयावृत्ति) [**श्रावकाणां धर्मः स्यात्**] श्रावकोंका धर्म है ।

टीका:—जो (श्रमण) दूसरेके शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षा हो,—इस अभिप्रायसे वैयावृत्त्यकी प्रवृत्ति करता हुआ अपने संयमकी विराधना करता है, वह गृहस्थधर्ममें प्रवेश कर रहा होनेसे श्रामण्यसे च्युत होता है । इससे (यह कहा है कि) जो भी प्रवृत्ति हो वह सर्वथा संयमके साथ विरोध न आये इसप्रकार ही करनी चाहिये, क्योंकि प्रवृत्तिमें भी संयम ही साध्य है ।

भावार्थ:—जो श्रमण छह कायकी विराधना सहित वैयावृत्त्यादि प्रवृत्ति करता है वह गृहस्थधर्ममें प्रवेश करता है; इसलिये श्रमणको वैयावृत्त्यादिकी प्रवृत्ति इसप्रकार करनी चाहिये कि जिससे संयमकी विराधना न हो ।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि—जो स्व शरीर पोषणके लिये या शिष्यादिके मोहसे सावद्यको नहीं चाहता उसे तो वैयावृत्त्यादिमें भी सावद्यकी इच्छा नहीं करनी चाहिये,—वही शोभास्पद है । किन्तु जो अन्यत्र तो सावद्यकी इच्छा करे किन्तु अपनी अवस्थाके योग्य वैयावृत्त्यादि धर्मकार्योंमें सावद्यको न चाहे उसके तो सम्यक्त्व ही नहीं है ॥ २५० ॥

अथ प्रवृत्तेर्विषयविभागं दर्शयति—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ २५१ ॥

जैनानां निरपेक्षं साकारानाकारचर्यायुक्तानाम् ।
अनुकम्पयोपकारं करोतु लेपो यद्यप्यल्पः ॥ २५१ ॥

या किलानुकम्पापूर्विका परोपकारलक्षणा प्रवृत्तिः सा खल्वनेकान्तमैत्रीपवित्रितचित्तेषु शुद्धेषु जैनेषु शुद्धात्मज्ञानदर्शनप्रवृत्तवृत्तितया साकारानाकारचर्यायुक्तेषु शुद्धात्मोपलम्भेतरसकलनिरपेक्षतयैवाल्पलेपाप्यप्रतिषिद्धा न पुनरल्पलेपेति सर्वत्र सर्वथैवाप्रतिषिद्धा, तत्र तथाप्रवृत्त्याशुद्धात्मवृत्तित्राणस्य परात्मनोरनुपपत्तेरिति ॥ २५१ ॥

अब प्रवृत्तिके विषयके दो विभाग बतलाते हैं (अर्थात् अब यह बतलाते हैं कि शुभोपयोगियोंको किसके प्रति उपकारकी प्रवृत्ति करना योग्य है और किसके प्रति नहीं) :—

गाथा २५१

अन्वयार्थः—[**यद्यपि अल्पः लेपः**] यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि [**साकारानाकारचर्यायुक्तानाम्**] साकार-अनाकार चर्यायुक्त [**जैनानां**] जैनोंका [**अनुकम्पया**] अनुकम्पासे [**निरपेक्षं**] निरपेक्षतया [**उपकारं करोतु**] (शुभोपयोगसे) उपकार करो ।

टीका:—जो अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्ति उसके करनेसे यद्यपि अल्प लेप तो होता है, तो भी अनेकान्तके साथ मैत्रीसे जिनका चित्त पवित्र हुआ है ऐसे शुद्ध जैनोंके प्रति—जो कि शुद्धात्माके ज्ञान-दर्शनमें प्रवर्तमान वृत्ति[1]के कारण साकार-अनाकार[2] चर्यावाले हैं उनके प्रति,—शुद्धात्माकी उपलब्धिके अतिरिक्त अन्य सबकी अपेक्षा किये बिना ही, उस प्रवृत्तिके करनेका निषेध नहीं है; किन्तु अल्पलेपवाली होनेसे सबके प्रति सभी प्रकारसे वह प्रवृत्ति अनिषिद्ध हो ऐसा नहीं है, क्योंकि वहाँ (अर्थात् यदि सबके प्रति सभी प्रकारसे की जाय तो) उस प्रकारकी प्रवृत्तिसे परके और निजके शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षा नहीं हो सकती ।

भावार्थ:—यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्तिसे अल्पलेप तो होता है, तथापि यदि (१) शुद्धात्माकी ज्ञानदर्शनरूप चर्यावाले शुद्ध जैनोंके प्रति, तथा (२) शुद्धात्माकी उपलब्धिकी अपेक्षासे ही, वह प्रवृत्ति की जाती हो तो शुभोपयोगीके उसका निषेध नहीं है । परन्तु, यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्तिसे अल्प ही लेप होता है तथापि (१) शुद्धात्माकी ज्ञानदर्शनरूपचर्यावाले शुद्ध जैनोंके अतिरिक्त दूसरोंके प्रति, तथा (२) शुद्धात्माकी उपलब्धिके अतिरिक्त अन्य किसी भी अपेक्षासे, वह प्रवृत्ति करनेका शुभोपयोगीके निषेध है, क्योंकि इसप्रकारसे परको या निजको शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षा नहीं होती ॥ २५१ ॥

१—वृत्ति=परिणति; वर्तन; वर्तना वह । २ – ज्ञान साकार है और दर्शन अनाकार है ।

अथ प्रवृत्तेः कालविभागं दर्शयति—

> रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
> दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥ २५२ ॥
>
> रोगेण वा क्षुधया तृष्णया वा श्रमेण वा रूढम् ।
> दृष्ट्वा श्रमणं साधुः प्रतिपद्यतामात्मशक्त्या ॥ २५२ ॥

यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योपनिपातः स्यात् स शुभोपयोगिनः स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः । इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव ॥ २५२ ॥

अथ लोकसंभाषणप्रवृत्तिं सनिमित्तविभागं दर्शयति—

अब, प्रवृत्तिके कालका विभाग बतलाते हैं (अर्थात् यह बतलाते हैं कि—शुभोपयोगी श्रमणको किस समय प्रवृत्ति करना योग्य है और किस समय नहीं) :—

गाथा २५२

अन्वयार्थः—[**रोगेण वा**] रोगसे, [**क्षुधया**] क्षुधासे, [**तृष्णया वा**] तृषासे [**श्रमेण वा**] अथवा श्रमसे [**रूढम्**] आक्रांत [**श्रमणं**] श्रमणको [**दृष्ट्वा**] देखकर [**साधुः**] साधु [**आत्मशक्त्या**] अपनी शक्तिके अनुसार [**प्रतिपद्यताम्**] वैयावृत्त्यादि करो।

टीकाः—जब शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त श्रमणको, उससे च्युत करे ऐसा कारण—कोई भी उपसर्ग—आजाय, तब वह काल, शुभोपयोगीको अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिकार[1] करनेकी इच्छारूप प्रवृत्तिकाल है; और उसके अतिरिक्तका काल अपनी शुद्धात्मपरिणतिकी प्राप्तिके लिये केवल निवृत्तिका काल है।

भावार्थ—जब शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त श्रमणके स्वस्थ भावका नाश करनेवाला रोगादिक आजाय तब उस समय शुभोपयोगी साधुको उनकी सेवाकी इच्छारूप प्रवृत्ति होती है, और शेष कालमें शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त करनेके लिये निज अनुष्ठान होता है ॥ २५२ ॥

अब लोगोंके साथ बातचीत करनेकी प्रवृत्ति उसके निमित्तके विभाग सहित बतलाते हैं (अर्थात् शुभोपयोगी श्रमणको लोगोंके साथ बातचीतकी प्रवृत्ति किस निमित्तसे करना योग्य है और किस निमित्तसे नहीं, सो कहते हैं) :—

गाथा २५३

---

[1]—प्रतिकार=उपाय; सहाय.

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥ २५३ ॥

वैयावृत्यनिमित्तं ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् ।
लौकिकजनसंभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता ॥ २५३ ॥

समधिगतशुद्धात्मवृत्तीनां ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां वैयावृत्यनिमित्तमेव शुद्धात्मवृत्तिशून्यजनसंभाषणं प्रसिद्धं न पुनरन्यनिमित्तमपि ॥ २५३ ॥

अथैवमुक्तस्य शुभोपयोगस्य गौणमुख्यविभागं दर्शयति—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥ २५४ ॥

एषा प्रशस्तभूता श्रमणानां वा पुनर्गृहस्थानाम् ।
चर्या परेति भणिता तयैव परं लभते सौख्यम् ॥ २५४ ॥

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां

अन्वयार्थः—[**वा**] और [**ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्**] रोगी, गुरु (पूज्य, बड़े), बाल तथा वृद्ध श्रमणोंकी [**वैयावृत्यनिमित्तं**] सेवाके निमित्तसे, [**शुभोपयुता**] शुभोपयोगयुक्त [**लौकिकजनसंभाषा**] लौकिक जनोंके साथकी बातचीत [**न निन्दिता**] निन्दित नहीं है ।

टीका:—शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध श्रमणोंकी सेवाके निमित्तसे ही (शुभोपयोगी श्रमणको) शुद्धात्मपरिणतिशून्य लोगोंके साथ बातचीत प्रसिद्ध है (-शास्त्रोंमें निषिद्ध नहीं है), किन्तु अन्य निमित्तसे भी प्रसिद्ध हो ऐसा नहीं है ॥ २५३ ॥

अब इसप्रकारसे कहे गये शुभोपयोगका गौण-मुख्य विभाग बतलाते हैं; (अर्थात् यह बतलाते हैं कि किसके शुभोपयोग गौण होता है और किसके मुख्य होता है ।) :—

गाथा २५४

अन्वयार्थः—[**एषा**] यह [**प्रशस्तभूता**] प्रशस्तभूत [**चर्या**] चर्या [**श्रमणानां**] श्रमणोंके (गौण) होती है [**वा गृहस्थानां पुनः**] और गृहस्थोंके तो [**परा**] मुख्य होती है, [**इति भणिता**] ऐसा (शास्त्रोंमें) कहा है; [**तया एव**] उसीसे [**परं सौख्यं लभते**] (परम्परासे) गृहस्थ परम सौख्यको प्राप्त होता है ।

टीका:—इसप्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्त चर्यारूप जो यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है वह यह शुभोपयोग, शुद्धात्माकी प्रकाशक सर्वविरतिको प्राप्त श्रमणोंके कषायकणके सद्भावके कारण

समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्तिविरुद्धरागसंगतत्वाद्गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः ॥ २५४ ॥

अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति—

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥ २५५ ॥

रागः प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीतम् ।
नानाभूमिगतानीह बीजानीव सस्यकाले ॥ २५५ ॥

प्रवर्तित होता हुआ, गौण होता है; क्योंकि वह शुभोपयोग शुद्धात्मपरिणतिसे विरुद्ध रागके साथ संबंधवान है; और वह शुभोपयोग गृहस्थोंके तो, सर्वविरतिके अभावसे शुद्धात्मप्रकाशन[1]का अभाव होनेसे कषायके सद्भावके कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी, मुख्य है, क्योंकि—जैसे ईंधनको स्फटिकके संपर्कसे सूर्यके तेजका अनुभव होता है (और इसलिये वह क्रमशः जल उठता है) उसीप्रकार गृहस्थको रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होता है, और (इसलिये वह शुभोपयोग) क्रमशः परम निर्वाणसौख्यका कारण होता है ।

भावार्थः—दर्शनापेक्षासे तो श्रमणको तथा सम्यग्दृष्टिगृहस्थको शुद्धात्माका ही आश्रय है, परन्तु चारित्रापेक्षासे श्रमणके मुनियोग्य शुद्धात्मपरिणति मुख्य होनेसे शुभोपयोग गौण है और सम्यग्दृष्टि गृहस्थके मुनियोग्य शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त न हो सकनेसे अशुभ वंचनार्थ शुभोपयोग मुख्य है । सम्यग्दृष्टि गृहस्थके अशुभसे (-विशेष अशुद्ध परिणतिसे) छूटनेके लिये प्रवर्तमान जो यह शुभोपयोगका पुरुषार्थ वह भी शुद्धिका ही मन्दपुरुषार्थ है, क्योंकि शुद्धात्मद्रव्यके मंद आलम्बनसे अशुभ परिणति बदल कर शुभ परिणति होती है और शुद्धात्मद्रव्यके उग्र आलम्बनसे शुभपरिणति भी बदल कर शुद्धपरिणति होजाती है ॥ २५४ ॥

अब, यह सिद्ध करते हैं कि शुभोपयोगको कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता होती है :—

गाथा २५५

अन्वयार्थः—[**इह नानाभूमिगतानि बीजानि इव**] जैसे इस जगतमें अनेक प्रकारकी भूमियोंमें पड़े हुये बीज [**सस्यकाले**] धान्यकालमें विपरीततया फलित होते हैं, उसीप्रकार [**प्रशस्तभूतः रागः**] प्रशस्तभूत राग [**वस्तुविशेषेण**] वस्तुभेदसे (पात्रभेदसे) [**विपरीतं फलति**] विपरीततया फलता है ।

१—चारित्रदशामें प्रवर्तमान इस शुद्धात्मपरिणतिको ही यहाँ शुद्धात्मप्रकाशन कहा है; सम्यग्दृष्टि गृहस्थके इसका अभाव है । और, दर्शनापेक्षासे तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थके भी शुद्धात्माका प्रकाशन है ही ।

यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात् ॥२५५॥

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये दर्शयति

छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥ २५६ ॥

छद्मस्थविहितवस्तुषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः ।
न लभते अपुनर्भावं भावं सातात्मकं लभते ॥ २५६ ॥

शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किल फलं, तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव । तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशून्यकेवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वम् ॥ २५६ ॥

टीकाः—जैसे वो के वो ही बीज होने पर भी भूमिकी विपरीततासे निष्पत्तिकी विपरीतता होती है, (अर्थात् अच्छी भूमिमें उसी बीजका अच्छा अन्न उत्पन्न होता है और खराब भूमिमें वही खराब होजाता है या उत्पन्न ही नहीं होता), उसीप्रकार प्रशस्तरागस्वरूप शुभोपयोग वहका वही होता है, फिर भी पात्रकी विपरीततासे फलकी विपरीतता होती है, क्योंकि कारणके भेदसे कार्यका भेद अवश्यम्भावी (अनिवार्य) है ॥ २५५ ॥

अब कारणकी विपरीतता और फलकी विपरीतता बतलाते हैं :—

गाथा २५६

अन्वयार्थः—[**छद्मस्थविहितवस्तुषु**] जो जीव छद्मस्थविहित वस्तुओंमें (छद्मस्थ-अज्ञानीके द्वारा कथित देव-गुरु-धर्मादिमें) [**व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतः**] व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दानमें रत होता है वह [**अपुनर्भावं**] मोक्षको [**न लभते**] प्राप्त नहीं होता, (किन्तु) [**सातात्मकं भावं**] सातात्मक भावको [**लभते**] प्राप्त होता है ।

टीकाः—सर्वज्ञस्थापित[1] वस्तुओंमें युक्त शुभोपयोगका फल पुण्यसंचयपूर्वक मोक्षकी प्राप्ति है। वह फल, कारणकी विपरीतता होनेसे विपरीत ही होता है। वहां, छद्मस्थस्थापित वस्तुयें वे कारणविपरीतता है; उनमें व्रत-नियम-अध्ययन-ध्यान-दानरतरूपसे युक्त शुभोपयोगका फल जो मोक्षशून्य केवल पुण्यापसद[2] की प्राप्ति है वह फलकी विपरीतता है; वह फल सुदेव-मनुष्यत्व है ॥ २५६ ॥

१—सर्वज्ञस्थापित=सर्वज्ञ कथित; २—पुण्यापसद=पुण्य–अपसद; अधमपुण्य; हतपुण्य ।

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये एव व्याख्याति—

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥ २५७ ॥

अविदितपरमार्थेषु च विषयकषायाधिकेषु पुरुषेषु ।
जुष्टं कृतं वा दत्तं फलति कुदेवेषु मनुजेषु ॥ २५७ ॥

यानि हि छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं ते खलु शुद्धात्मपरिज्ञानशून्यतयानवाप्तशुद्धात्मवृत्तितया चाविदितपरमार्था विषयकषायाधिकाः पुरुषाः तेषु शुभोपयोगात्मकानां जुष्टोपकृतदत्तानां या केवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्कुदेवमनुजत्वम् ॥ २५७ ॥

अथ कारणवैपरीत्यात् फलमविपरीतं न सिध्यतीति श्रद्धापयति—

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥ २५८ ॥

यदि ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु ।
कथं ते तत्प्रतिबद्धाः पुरुषा निस्तारका भवन्ति ॥ २५८ ॥

अब (इस गाथामें भी) कारणविपरीतता और फलविपरीतता ही बतलाते हैं :—

गाथा २५७

अन्वयार्थः—[**अविदितपरमार्थेषु**] जिन्होंने परमार्थको नहीं जाना है, [**च**] और [**विषयकषायाधिकेषु**] जो विषय-कषायमें अधिक हैं, [**पुरुषेषु**] ऐसे पुरुषोंके प्रति [**जुष्टं कृतं वा दत्तं**] सेवा, उपकार या दान [**कुदेवेषु मनुजेषु**] कुदेवरूपमें और कुमनुष्यरूपमें [**फलति**] फलता है ।

टीका:—जो छद्मस्थस्थापित वस्तुयें हैं वे कारणविपरीतता है; वे (विपरीत कारण) वास्तवमें (१) शुद्धात्मज्ञानसे शून्यताके कारण 'परमार्थके अजान' और (२) शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त न करनेसे 'विषयकषायमें अधिक' ऐसे पुरुष हैं। उनके प्रति शुभोपयोगात्मक जीवोंको—सेवा, उपकार या दान करनेवाले जीवोंको—जो केवल पुण्यापसदकी प्राप्ति है सो वह फलविपरीतता है; वह (फल) कुदेव-मनुष्यत्व है ॥ २५७ ॥

अब यह श्रद्धा कराते हैं कि कारणकी विपरीततासे अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता :—

गाथा २५८

अन्वयार्थः—[**यदि वा**] अथवा [**ते विषयकषायाः**] वे विषयकषाय [**पापम्**] पाप हैं [**इति**] इसप्रकार [**शास्त्रेषु**] शास्त्रोंमें [**प्ररूपिताः**] प्ररूपित किया गया है, तो

विषयकषायास्तावत्पापमेव तद्वन्तः पुरुषा अपि पापमेव तदनुरक्ता अपि पापानुरक्तत्वात् पापमेव भवन्ति। ततो विषयकषायवन्तः स्वानुरक्तानां पुण्यायापि न कल्प्यन्ते कथं पुनः संसारनिस्तारणाय। ततो न तेभ्यः फलमविपरीतं सिध्येत् ॥ २५८ ॥

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं दर्शयति—

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥ २५९ ॥

उपरतपापः पुरुषः समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु।
गुणसमितितोपसेवी भवति स भागी सुमार्गस्य ॥ २५९ ॥

उपरतपापत्वेन सर्वधर्मिमध्यस्थत्वेन गुणग्रामोपसेवित्वेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यपरिणतिनिर्वृत्तैकाग्र्यात्मकसुमार्गभागी स श्रमणः स्वयं मोक्षपुण्यायतनत्वादविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं प्रत्येयम् ॥ २५९ ॥

[**तत्प्रतिबद्धाः**] उनमें प्रतिबद्ध (विषय-कषायोंमें लीन) [**ते पुरुषाः**] वे पुरुष [**निस्तारकाः**] निस्तारक (पार लगाने वाले) [**कथं भवन्ति**] कैसे हो सकते हैं ?

टीका:—प्रथम तो विषयकषाय पाप ही हैं; विषयकषायवान् पुरुष भी पाप ही हैं; विषयकषायवान् पुरुषोंके प्रति अनुरक्त जीव भी पापमें अनुरक्त होनेसे पाप ही हैं। इसलिये विषयकषायवान् पुरुष स्वानुरक्त (विषयकषायवानके प्रति अनुरक्त) पुरुषोंको पुण्यका कारण भी नहीं होवे, तब फिर वे संसार से निस्तारके कारण तो कैसे हो सकते हैं ? (नहीं हो सकते); इसलिये उनसे अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता (अर्थात् विषयकषायवान पुरुषरूप विपरीत कारणका फल अविपरीत नहीं होता।) ॥ २५८ ॥

अब अविपरीत फलका कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' उसको बतलाते हैं :—

गाथा २५९

अन्वयार्थः—[**उपरतपापः**] जिसके पाप रुक गया है, [**सर्वेषु धार्मिकेषु समभावः**] जो सभी धार्मिकोंके प्रति समभाववान् है, और [**गुणसमितितोपसेवी**] जो गुणसमुदायका सेवन करनेवाला है, [**सः पुरुषः**] वह पुरुष [**सुमार्गस्य**] सुमार्गका [**भागी भवति**] भागी होता है। (अर्थात् सुमार्गवान् है)

टीका:—पापके रुक जानेसे, सर्वधर्मियोंके प्रति स्वयं मध्यस्थ होनेसे और गुणसमूहका सेवन करनेसे जो सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रकी युगपत्तारूप परिणतिसे रचित एकाग्रतास्वरूप सुमार्गका भागी (सुमार्गशाली-सुमार्गका भाजन) है वह श्रमण निजको और परको मोक्षका और पुण्यका आयतन (स्थान) है इसलिये वह (श्रमण) अविपरीत फलका कारण ऐसा 'अविपरीत कारण' है, ऐसी प्रतीति करनी चाहिये ॥ २५९ ॥

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं व्याख्याति—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥ २६० ॥

अशुभोपयोगरहिताः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ता वा ।
निस्तारयन्ति लोकं तेषु प्रशस्तं लभते भक्तः ॥ २६० ॥

यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः सन्तः सकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्ताः प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छुभोपयुक्ताः स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोकं निस्तारयन्ति तद्भक्तिभावप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति परे च पुण्यभाजः ॥ २६० ॥

अथाविपरीतफलकारणाविपरीतकारणसमुपासनप्रवृत्तिं सामान्यविशेषतो विधेयतया सूत्रद्वैतेनोपदर्शयति—

दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥ २६१ ॥

अब, अविपरीत फलका कारण, ऐसा जो 'अविपरीत कारण' है उसे विशेष समझाते हैं:—

गाथा २६०

अन्वयार्थः—[अशुभोपयोगरहिताः] जो अशुभोपयोगरहित वर्तते हुये [शुद्धोपयुक्ताः] शुद्धोपयुक्त [वा] अथवा [शुभोपयुक्ताः] शुभोपयुक्त होते हैं, वे (श्रमण) [लोकं निस्तारयन्ति] लोगोंको तार देते हैं; (और) [तेषु भक्तः] उनके प्रति भक्तिवान जीव [प्रशस्तं] प्रशस्त (पुण्य) को [लभते] प्राप्त करता है।

टीकाः—यथोक्त लक्षणवाले श्रमण ही—जो कि मोह, द्वेष और अप्रशस्त रागके उच्छेदसे अशुभोपयोगरहित वर्तते हुये, समस्त कषायोदयके विच्छेदसे कदाचित् शुद्धोपयुक्त (शुद्धोपयोगमें युक्त) और प्रशस्त रागके विपाकसे कदाचित् शुभोपयुक्त होते हैं वे—स्वयं मोक्षायतन (मोक्षके स्थान) होनेसे लोकको तार देते हैं, और उनके प्रति भक्तिभावसे जिनके प्रशस्त भाव प्रवर्तता है ऐसे पर जीव पुण्यके भागी (पुण्यशाली) होते हैं ॥ २६० ॥

अब अविपरीत फलका कारण जो 'अविपरीत कारण' उसकी उपासनारूप प्रवृत्ति सामान्यतया और विशेषतया करने योग्य है,—यह दो सूत्रों द्वारा बतलाते हैं :—

गाथा २६१

दृष्ट्वा प्रकृतं वस्त्वभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः ।
वर्ततां ततो गुणाद्विशेषितव्य इति उपदेशः ॥ २६१ ॥

श्रमणानामात्मविशुद्धिहेतौ प्रकृते वस्तुनि तदनुकूलक्रियाप्रवृत्त्या गुणातिशयाधानमप्रतिषिद्धम् ॥ २६१ ॥

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं हि ॥ २६२ ॥

अभ्युत्थानं ग्रहणमुपासनं पोषणं च सत्कारः ।
अञ्जलिकरणं प्रणामो भणितमिह गुणाधिकानां हि ॥ २६२ ॥

अन्वयार्थः—[**प्रकृतं वस्तु**] प्रकृत[1] वस्तुको [**दृष्ट्वा**] देखकर (प्रथम तो) [**अभ्युत्थानप्रधानक्रियाभिः**] अभ्युत्थान[2] आदि क्रियाओंसे [**वर्तताम्**] (श्रमण) वर्तो; [**ततः**] फिर [**गुणात्**] गुणानुसार [**विशेषितव्यः**] भेद करना,—[**इति उपदेशः**] ऐसा उपदेश है ।

टीका:—श्रमणोंके आत्मविशुद्धिकी हेतुभूत प्रकृतवस्तु (श्रमण) के प्रति उनके योग्य क्रियारूप प्रवृत्तिसे गुणातिशयताके आरोपण करनेका निषेध नहीं है ।

भावार्थ:—यदि कोई श्रमण अन्य श्रमणको देखे तो प्रथम ही, मानो वह अन्य श्रमण गुणातिशयवान् हो इसप्रकार उनके प्रति (अभ्युत्थानादि) व्यवहार करना चाहिये । फिर उनका परिचय होनेके बाद उनके गुणानुसार वर्ताव करना चाहिये ॥ २६१ ॥

(इसप्रकार पहला सूत्र कहकर अब इसी विषयका दूसरा सूत्र कहते हैं :—)

गाथा २६२

अन्वयार्थः—[**गुणाधिकानां हि**] गुणमें अधिक (श्रमणों) के प्रति [**अभ्युत्थानं**] अभ्युत्थान, [**ग्रहणं**] ग्रहण (आदरसे स्वीकार), [**उपासनं**] उपासन (सेवा), [**पोषणं**] पोषण (उनके अशन, शयनादिकी चिन्ता), [**सत्कारः**] सत्कार (गुणोंकी प्रशंसा), [**अञ्जलिकरणं**] अञ्जलि करना (विनयपूर्वक हाथ जोड़ना) [**च**] और [**प्रणामः**] प्रणाम करना [**इह**] यहां [**भणितम्**] कहा है ।

१—प्रकृतवस्तु=अविकृत वस्तु; अविपरीत पात्र (अभ्यंतर–निरुपराग–शुद्ध आत्माकी भावनाको बतानेवाला जो बहिरंग-निर्ग्रंथ-निर्विकाररूप है उस रूपवाले श्रमणको यहां 'प्रकृत वस्तु' कहा है ।) २—अभ्युत्थान=सम्मानार्थ खड़े होजाना और सम्मुख जाना ।

श्रमणानां स्वतोऽधिकगुणानामभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामप्रवृत्तयो न प्रतिषिद्धाः ॥ २६२ ॥

अथ श्रमणाभासेषु सर्वाः प्रवृत्तीः प्रतिषेधयति—

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया ।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥ २६३ ॥

अभ्युत्थेयाः श्रमणाः सूत्रार्थविशारदा उपासेयाः ।
संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीया हि श्रमणैः ॥ २६३ ॥

सूत्रार्थवैशारद्यप्रवर्तितसंयमतपःस्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिकाः प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धा इतरेषां तु श्रमणाभासानां ताः प्रतिषिद्धा एव ॥ २६३ ॥

अथ कीदृशः श्रमणाभासो भवतीत्याख्याति—

ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥ २६४ ॥

न भवति श्रमण इति मतः संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तोऽपि ।
यदि श्रद्धत्ते नार्थानात्मप्रधानान् जिनाख्यातान् ॥ २६४ ॥

टीकाः—श्रमणोंको अपनेसे अधिक गुणी (श्रमणोंके) प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, अंजलिकरण और प्रणामरूप प्रवृत्तियाँ निषिद्ध नहीं हैं ॥ २६२ ॥

अब श्रमणाभासोंके प्रति समस्तप्रवृत्तियोंका निषेध करते हैं :—

गाथा २६३

अन्वयार्थः—[**श्रमणैः हि**] श्रमणोंके द्वारा [**सूत्रार्थविशारदाः**] सूत्रार्थविशारद (सूत्रोंके और सूत्रकथित पदार्थोंके ज्ञानमें निपुण) तथा [**संयमतपोज्ञानाढ्याः**] संयम, तप और (आत्म) ज्ञानमें समृद्ध [**श्रमणः**] श्रमण [**अभ्युत्थेयाः उपासेयाः प्रणिपतनीयाः**] अभ्युत्थान, उपासना और प्रणाम करने योग्य हैं ।

टीकाः—जिनके सूत्रोंमें और पदार्थोंमें विशारदत्वके द्वारा संयम, तप और स्वतत्त्वका ज्ञान प्रवर्तता है उन श्रमणोंके प्रति ही अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियाँ अनिषिद्ध हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासोंके प्रति वे प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं ॥ २६३ ॥

अब, श्रमणाभास कैसा (जीव) होता है सो कहते हैं :—

गाथा २६४

अन्वयार्थः—[**संयमतपःसूत्रसंप्रयुक्तः अपि**] सूत्र, संयम और तपसे संयुक्त होने

आगमज्ञोऽपि संयतोऽपि तपःस्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्दधानः श्रमणाभासो भवति ॥ २६४ ॥

अथ श्रामण्येन सममनुमन्यमानस्य विनाशं दर्शयति—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥ २६५ ॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि ।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ॥ २६५ ॥

श्रमणं शासनस्थमपि प्रद्वेपादपवदतः क्रियास्वननुमन्यमानस्य च प्रद्वेपकपायितत्वाचारित्रं नश्यति ॥ २६५ ॥

अथ श्रामण्येनाधिकं हीनमिवाचरतो विनाशं दर्शयति—

पर भी [यदि] यदि (वह जीव) [जिनाख्यातान्] जिनोक्त [आत्मप्रधानान्] आत्मप्रधान [अर्थान्] पदार्थोंका [न श्रद्धत्ते] श्रद्धान नहीं करता तो वह [श्रमणः न भवति] श्रमण नहीं है,—[इति मतः] ऐसा (आगममें) कहा है ।

टीका:—आगमका ज्ञाता होनेपर भी, संयत होनेपर भी, तपमें स्थित होनेपर भी, जिनोक्त अनन्त पदार्थोंसे भरे हुये विश्वको—जो कि (विश्व) अपने आत्मासे ज्ञेयरूपसे पिया जाता होनेके कारण आत्मप्रधान[1] है उसका—जो जीव श्रद्धान नहीं करता वह श्रमणाभास है ॥ २६४ ॥

अब, जो श्रामण्यसे समान हैं उनका अनुमोदन (आदर) न करनेवालेका विनाश बतलाते हैं:—

गाथा २६५

अन्वयार्थः—[यः हि] जो [शासनस्थं श्रमणं] शासनस्थ (जिनदेवके शासनमें स्थित) श्रमणको [दृष्ट्वा] देखकर [प्रद्वेषतः] द्वेषसे [अपवदति] उसका अपवाद करता है, और [क्रियासु न अनुमन्यते] (सत्कारादि) क्रियाओंके करनेमें अनुमत (प्रसन्न) नहीं है [सः नष्टचारित्रः हि भवति] उसका चारित्र नष्ट होजाता है ।

टीका:—जो श्रमण द्वेषके कारण शासनस्थ श्रमणका भी अपवाद करता है और (उसके प्रति सत्कारादि) क्रियायें करनेमें अनुमत नहीं है, वह श्रमणद्वेषसे कषायित होनेसे उसका चारित्र नष्ट हो जाता है ॥ २६५ ॥

अब, जो श्रामण्यमें अधिक हो उसके प्रति जैसे कि वह श्रामण्यमें हीन (अपनेसे मुनिपनेमें नीचा) हो ऐसा आचरण-करनेवालेका विनाश बतलाते हैं :—

१—आत्मप्रधान=जिसमें आत्मा प्रधान है ऐसा; [आत्मा समस्त विश्वको जानता है इसलिये वह विश्वमें—विश्वके समस्त पदार्थोंमें—प्रधान है ।]

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति ।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥ २६६ ॥

गुणतोऽधिकस्य विनयं प्रत्येषको योऽपि भवामि श्रमण इति ।
भवन् गुणाधरो यदि स भवत्यनन्तसंसारी ॥ २६६ ॥

स्वयं जघन्यगुणः सन् श्रमणोऽहमपीत्यवलेपात्परेषां गुणाधिकानां विनयं प्रतीच्छन् श्रामण्यावलेपवशात् कदाचिदनन्तसंसार्यपि भवति ॥ २६६ ॥

अथ श्रामण्येनाधिकस्य हीनं सममिवाचरतो विनाशं दर्शयति—

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु ।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥ २६७ ॥

अधिकगुणाः श्रामण्ये वर्तन्ते गुणाधरैः क्रियासु ।
यदि ते मिथ्योपयुक्ता भवन्ति प्रभ्रष्टचारित्राः ॥ २६७ ॥

गाथा २६६

अन्वयार्थः—[यः] जो श्रमण [यदि गुणाधरः भवन्] गुणोंमें हीन होनेपर भी [अपि श्रमणः भवामि] मैं भी श्रमण हूं [इति] ऐसा मानकर [illegible] [गुणतः अधिकस्य] गुणोंमें अधिक (ऐसे श्रमण) के पाससे [विनयं प्रत्येषकः] विनय (करवाना) चाहता है [सः] वह [अनन्तसंसारी भवति] अनन्तसंसारी होता है ।

टीका:—जो श्रमण स्वयं जघन्यगुणोंवाला होनेपर भी 'मैं भी श्रमण हूं' ऐसे गर्वके कारण दूसरे अधिक गुणवालों (श्रमणों) से विनयकी इच्छा करता है, वह श्रामण्यके गर्वके वशसे कदाचित् अनन्त संसारी भी होता है ॥ २६६ ॥

अब, जो श्रमण श्रामण्यमें अधिक हो वह जो अपनेसे हीन श्रमणके प्रति समान जैसा (अपने बराबरी वाले जैसा) आचरण करे तो उसका विनाश बतलाते हैं :—

गाथा २६७

अन्वयार्थः—[यदि श्रामण्ये अधिकगुणाः] जो श्रामण्यमें अधिक गुणवाले हैं तथापि [गुणाधरैः] हीनगुणवालोंके प्रति [क्रियासु] (वंदनादि) क्रियाओंमें [वर्तन्ते] वर्तते हैं, [ते] वे [मिथ्योपयुक्ताः] मिथ्या उपयुक्त होते हुए [प्रभ्रष्टचारित्राः भवन्ति] चारित्रसे भ्रष्ट होते हैं ।

स्वयमधिकगुणा गुणाधरैः परैः सह क्रियासु वर्तमाना मोहादसम्यगुपयुक्तत्वाच्चारित्राद्भ्रश्यन्ति ॥ २६७ ॥

अथासत्संगं प्रतिषेध्यत्वेन दर्शयति—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि ।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥ २६८ ॥

निश्चितसूत्रार्थपदः समितकषायस्तपोऽधिकश्चापि ।
लौकिकजनसंसर्गं न त्यजति यदि संयतो न भवति ॥ २६८ ॥

यतः सकलस्यापि विश्ववाचकस्य सल्लक्षमणः शब्दब्रह्मणस्तद्वाच्यस्य सकलस्यापि सल्लक्षमणो विश्वस्य च युगपदनुस्यूततदुभयज्ञेयाकारतयाधिष्ठानभूतस्य सल्लक्ष्मणो ज्ञातृतत्त्वस्य निश्चयनयान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन निरुपरागोपयोगत्वात् समितकषायत्वेन बहुशोऽभ्यस्तनिष्कम्पोपयोगत्वा-

---

टीका:—जो स्वयं अधिक गुणवाले होनेपर भी अन्य हीनगुणवालों (श्रमणों) के प्रति (वंदनादि) क्रियाओंमें वर्तते हैं वे मोहके कारण असम्यक् उपयुक्त होते हुये (मिथ्याभावोंमें युक्त होते हुये) चारित्रसे भ्रष्ट होते हैं ॥ २६७ ॥

अब यह बतलाते हैं कि असत्संग निषेध्य है :—

गाथा २६८

अन्वयार्थः—[**निश्चितसूत्रार्थपदः**] जिसने सूत्रोंके पदोंको और अर्थोंको निश्चित किया है, [**समितकषायः**] जिसने कषायोंका शमन किया है, [**च**] और [**तपोऽधिकः अपि**] जो अधिक तपवान् है ऐसा जीव भी [**यदि**] यदि [**लौकिकजनसंसर्गं**] लौकिकजनोंके संसर्गको [**न त्यजति**] नहीं छोड़ता, [**संयतः न भवति**] तो वह संयत नहीं है ।

टीका:—(१) विश्वके वाचक, 'सत्' लक्षणवान् सम्पूर्ण हो शब्दब्रह्म और उस शब्दब्रह्मके वाच्य 'सत्' लक्षणवाले सम्पूर्ण ही विश्व उन दोनोंके ज्ञेयाकार अपनेमें युगपत् गुथित हो जानेसे (—ज्ञातृतत्वमें एक ही साथ निर्णीत होनेसे) उन दोनोंका अधिष्ठानभूत 'सत्' लक्षणवाला ज्ञातृतत्व निश्चयनय द्वारा 'सूत्रके पदों और अर्थोंका निश्चयवाला' हो (२) निरुपराग उपयोगके कारण (ज्ञातृतत्व) 'जिसने कषायोंको शमित किया है ऐसा' हो, और (३) निष्कंप उपयोगका बहुशः[1] अभ्यास करनेसे (ज्ञातृतत्व) 'अधिक तपवाला' हो, —इसप्रकार (इन तीन कारणोंसे) जो जीव भलीभांति संयत हो, वह भी लौकिक (जनोंके) संगसे असंयत ही होता है, क्योंकि अग्निकी संगतिमें रहे हुवे पानीकी भांति उसे विकार अवश्यंभावी है । इसलिये लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है ।

भावार्थ:—जो जीव संयत हो, अर्थात् (१) जिसने शब्दब्रह्मका और उसके वाच्यरूप समस्त पदार्थोंका

१—बहुशः=(१) बहुत; खूब (२) बारंबार

तपोऽधिकत्वेन च सुष्ठु संयतोऽपि सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वात् लौकिकसंगादसंयत एव स्यात्ततस्तत्संगः सर्वथा प्रतिषेध्य एव ॥ २६८ ॥

अथ लौकिकलक्षणमुपलक्षयति—

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं ।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि ॥ २६९ ॥

नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकैः कर्मभिः ।
स लौकिक इति भणितः संयमतपःसंप्रयुक्तोपि ॥ २६९ ॥

प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थ्यप्रव्रज्यत्वादुदूढसंयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृतशुद्धचेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याघूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्युच्यते ॥ २६९ ॥

अथ सत्संगं विधेयत्वेन दर्शयति—

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥ २७० ॥

निर्णय किया हो, (२) जिसने कषायोंको शमित किया हो (३) और जो अधिक तपवान् हो, वह जीव भी लौकिकजनके संगसे असंयत ही हो जाता है; क्योंकि जैसे अग्निके संगसे पानीमें उष्णत्वरूप विकार अवश्य हो जाता है, उसीप्रकार लौकिकजनके संसर्गको न छोड़नेवाले संयतके असंयतत्वरूप विकार अवश्य हो जाता है। इसलिये लौकिकजनोंका संग सर्वप्रकारसे त्याज्य ही है ॥ २६८ ॥

अब, 'लौकिक' (जन) का लक्षण कहते हैं:—

गाथा २६९

अन्वयार्थः—[नैर्ग्रन्थ्यं प्रव्रजितः] जो (जीव) निर्ग्रन्थरूपसे दीक्षित होनेके कारण [संयमतपःसंप्रयुक्तः अपि] संयमतपसंयुक्त हो उसे भी, [यदि सः] यदि वह [ऐहिकैः कर्मभिः वर्तते] ऐहिक कार्यों सहित वर्तता हो तो, [लौकिकः इति भणितः] 'लौकिक' कहा गया है।

टीका:—परमनिर्ग्रंथतारूप प्रव्रज्याकी प्रतिज्ञा ली होनेसे जो जीव संयमतपके भारको वहन करता हो उसे भी, यदि वह मोहकी बहुलताके कारण शुद्धचेतन व्यवहारको छोड़कर निरंतर मनुष्यव्यवहारके द्वारा चक्कर खानेसे ऐहिक[1] कर्मोंसे अनिवृत्त हो तो, 'लौकिक' कहा जाता है ॥ २६९ ॥

अब, सत्संग विधेय (-करने योग्य) है, यह बतलाते हैं:—

गाथा २७०

१—ऐहिक=लौकिक (ख्यातिपूजालाभके निमित्तभूत ज्योतिष, मंत्र, वाद, वैद्यक इत्यादि कार्य ऐहिक कार्य हैं।

तस्मात्समं गुणात् श्रमणः श्रमणं गुणैर्वाधिकम् ॥
अधिवसतु तत्र नित्यं इच्छति यदि दुःखपरिमोक्षम् ॥ २७० ॥

यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चिःसंगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात् । ततो दुःखमोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमणः श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीयः तथास्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत्समगुणसंगाद्गुणरक्षा शीततरतुहिनशर्करासंपृक्तशीततोयवत् गुणाधिकसंगात् गुणवृद्धिः ॥ २७० ॥

*इत्यध्यास्य शुभोपयोगजनितां कांचित्प्रवृत्तिं यतिः
सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात् ।
हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसरप्रस्ताररम्योदयां
ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्ततः शाश्वतीम् ॥ १७ ॥

—इति शुभोपयोगप्रज्ञापनम् ।

अन्वयार्थः—[**तस्मात्**] (लौकिकजनके संगसे संयत भी असंयत होता है) इसलिये [**यदि**] यदि [**श्रमणः**] श्रमण [**दुःखपरिमोक्षम् इच्छति**] दुःखसे परिमुक्त होना चाहता हो तो वह [**गुणात्समं**] समान गुणोंवाले श्रमणके [**वा**] अथवा [**गुणैः अधिकं श्रमणं तत्र**] अधिक गुणोंवाले श्रमणके संगमें [**नित्यम्**] सदा [**अधिवसतु**] निवास करो।

टीका:—क्योंकि आत्मा परिणामस्वभाववाला है इसलिये अग्निके संगमें रहे हुवे पानीकी भांति (संयतके भी) लौकिक संगसे विकार अवश्यंभावी होनेसे संयत भी असंयत ही हो जाता है । इसलिये दुःखोंसे मुक्ति चाहनेवाले श्रमणको (१) समान गुणवाले श्रमणके साथ अथवा (२) अधिक गुणवाले श्रमणके साथ सदा ही निवास करना चाहिये । इसप्रकार उस श्रमणके (१) शीतल घरके कोनेमें रखे हुये शीतल पानीकी भांति समान गुणवालेकी संगतिसे गुणरक्षा होती है, और (२) अधिक शीतल हिम (बरफ) के संपर्कमें रहनेवाले शीतल पानीकी भांति अधिक गुणवालेके संगसे गुणवृद्धि होती है ॥ २७० ॥

[अब श्लोक द्वारा यह कहते हैं कि श्रमण क्रमशः परम निवृत्तिको प्राप्त करके शाश्वत ज्ञानानन्दमयदशाका अनुभव करोः—]

[**अर्थः**—] इसप्रकार शुभोपयोगजनित किंचित् प्रवृत्तिका सेवन करके यति सम्यक् प्रकारसे संयमके सौष्ठव (श्रेष्ठता, सुंदरता) से क्रमशः परम निवृत्तिको प्राप्त होता हुआ; जिसका रम्य उदय समस्त वस्तुसमूहके विस्तारको लीलामात्रसे प्राप्त हो जाता है (जान लेता है) ऐसी शाश्वती ज्ञानानन्दमयी दशा का एकान्ततः (केवल-सर्वथा-अत्यन्त) अनुभव करो ।

❁ इसप्रकार शुभोपयोगप्रज्ञापन पूर्ण हुआ । ❁

---

* शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

अथ पञ्चरत्नम् ।

शार्दूल विक्रीड़ित छन्द ।

तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतो-
द्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः संक्षेपतः शासनम् ।
व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं
जीयात्संप्रति पञ्चरत्नमनघं सूत्रैरिमैः पञ्चभिः ॥ १८ ॥

अथ संसारतत्त्वमुद्घाटयति—

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये ।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥ २७१ ॥

ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये ।
अत्यन्तफलसमृद्धं भ्रमन्ति ते अतः परं कालम् ॥ २७१ ॥

ये स्वयमविवेकतोऽन्यथैव प्रतिपद्यार्थानित्थमेव तत्त्वमिति निश्चयमारचयन्तः सततं समा-

अब पंचरत्न हैं (पांच रत्नों जैसी पांच गाथायें कहते हैं)

[वहां पहले, उन पांच गाथाओंकी महिमा श्लोक द्वारा कहते हैं:—]

अर्थः—अब इस शास्त्रके कलंगीके अलंकार जैसे (—चूडामणि समान) यह [illegible] निर्मल पंचरत्न—जो कि संक्षेपसे अर्हन्तभगवानके समग्र अद्वितीय शासनको सर्वतः प्रकाशित करते [illegible] वे—विलक्षण[1] पंथवाली संसार-मोक्षकी स्थितिको जगतके समक्ष प्रगट करते हुये जयवन्त वर्तो !

अथ संसारतत्वको प्रगट करते हैं:—

गाथा २७१

अन्वयार्थः—[ये] जो [समये] भले ही समयमें हों ([illegible] जिनमतमें हों) तथापि वे [एते तत्त्वम्] 'यह तत्त्व है ([illegible]) [इति निश्चि-तांः] इसप्रकार निश्चयवान वर्तते हुये [अयथागृहीतार्थाः] [illegible] हैं (जैसे नहीं हैं वैसा समझते हैं) [ते] वे [अत्यन्तफलसमृद्धम्] [illegible] कर्मफलोंसे भरे हुये) ऐसे [अतः परं कालं] [illegible] [भ्रमन्ति] [illegible] करेंगे ।

टीका:—जो स्वयं अविवेकसे पदार्थोंको [illegible] 'ऐसा ही तत्व (वस्तु स्वरूप) है' ऐसा निश्चय करते हुये, [illegible]

१—विलक्षण=भिन्न-भिन्न [[illegible]] [illegible] भिन्न-भिन्न हैं ।]

चीयमानमहामोहमलमलीमसमानसतया नित्यमज्ञानिनो भवन्ति ते खलु समये स्थिता अप्यनासादितपरमार्थश्रामण्यतया श्रमणाभासाः सन्तोऽनन्तकर्मफलोपभोगप्राग्भारभयंकरमनन्तकालमनन्तभावान्तरपरावर्तैरनवस्थितवृत्तयः संसारतत्त्वमेवावबुध्यताम् ॥ २७१ ॥

अथ मोक्षतत्त्वमुद्घाटयति—

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥ २७२ ॥

अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चितः प्रशान्तात्मा ।
अफले चिरं न जीवति इह स संपूर्णश्रामण्यः ॥ २७२ ॥

यस्त्रिलोकचूलिकायमाननिर्मलविवेकदीपिकालोकशालितया यथावस्थितपदार्थनिश्चयनिवर्तितौत्सुक्यस्वरूपमन्थरसततोपशान्तात्मा सन् स्वरूपमेकमेवाभिमुख्येन चरन्नयथाचारवि-

---

मलिन मनवाले होनेसे नित्य अज्ञानी हैं, वे भले ही समयमें (द्रव्यलिंगी होते हुये जिनमार्गमें) स्थित हों तथापि परमार्थ श्रामण्यको प्राप्त न होनेसे वास्तवमें श्रमणाभास वर्तते हुये, अनन्त कर्मफलकी उपभोगराशिसे भयंकर ऐसे अनन्त काल तक अनन्त भावान्तररूप परावर्तनोंसे अनवस्थित[1] वृत्तिवाले रहनेसे, उनको संसारतत्व ही जानना ॥ २७१ ॥

अब मोक्ष तत्वको प्रगट करते हैं:—

गाथा २७२

अन्वयार्थः—[**यथार्थपदनिश्चितः**] जो यथार्थतया पदोंका तथा अर्थों (पदार्थों) का निश्चयवाला होनेसे [**प्रशान्तात्मा**] प्रशान्तात्मा[2] है और [**अयथाचार वियुक्तः**] अयथाचार रहित है [**सः संपूर्णश्रामण्यः**] वह संपूर्ण श्रामण्यवाला जीव [**अफले**] अफल (-कर्मफल रहित हुए) [**इह**] इस संसारमें [**चिरं न जीवति**] चिरकाल तक नहीं रहता (-अल्पकालमें ही मुक्त होता है ।)

टीका:—जो (श्रमण) त्रिलोककी चूलिकाके समान निर्मल विवेकरूपी दीपिकाके प्रकाशवाला होनेसे यथास्थित पदार्थनिश्चयसे उत्सुकताको दूर करके स्वरूपमंथर[3] रहनेसे सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ, स्वरूपमें एकमें ही अभिमुखतया विचरित (क्रीड़ा करता) होनेसे 'अयथाचार रहित' वर्तता हुआ नित्य-

---

१—अनवस्थित=अस्थिर [मिथ्यादृष्टियोंने भले ही द्रव्यलिंग धारण किया हो, तथापि उनके अनन्तकाल तक अनन्त भिन्न भिन्न भावरूपसे-भावान्तररूपसे परावर्तन होते रहनेसे वे अस्थिर परिणतिवाले रहेंगे, और इसलिये वे संसारतत्व ही हैं । २—प्रशांतात्मा=प्रशांतस्वरूप; प्रशांतमूर्ति; उपशांत; स्थिर हुआ । ३—स्वरूपमंथर=स्वरूपमें जमा हुआ [मन्थरका अर्थ है सुस्त, आलसी । यह श्रमण स्वरूपमें तृप्त २ होनेसे मानो स्वरूपसे बाहर निकलनेको सुस्त या आलसी हो, इस प्रकार स्वरूप प्रशांतिमें मग्न होकर रहा है ।

युक्तो नित्यं ज्ञानी स्यात् स खलु संपूर्णश्रामण्यः साक्षात् श्रमणो हेलावकीर्णसकलप्राक्तनकर्मफलत्वादनिष्पादितनूतनकर्मफलत्वाच्च पुनः प्राणधारणदैन्यमनास्कन्दन् द्वितीयभावपरावर्ताभावात् शुद्धस्वभावावस्थितवृत्तिर्मोक्षतत्त्वमवबुध्यताम् ॥ २७२ ॥

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमुद्घाटयति—

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥ २७३ ॥

सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहिस्थमध्यस्थम् ।
विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टाः ॥ २७३ ॥

अनेकान्तकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्त्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्तबहिरङ्गान्तरङ्गसङ्गतिपरित्यागविविक्तान्तश्चकचकायमानानन्तशक्तिचैतन्यभास्वरात्मतत्त्वस्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्तकल्पान्तस्तत्त्ववृत्तितया विषयेषु मनागप्यासक्तिमनासादयन्तः समस्तानुभाववन्तो

ज्ञानी हो, वास्तवमें उस सम्पूर्ण श्रामण्यवाले साक्षात् श्रमणको मोक्षतत्त्व जानना, क्योंकि पहलेके सकल कर्मोंके फल उसने लीलामात्रसे नष्ट कर दिये हैं इसलिये और वह नूतन कर्मफलोंको उत्पन्न नहीं करता इसलिये पुनः प्राण धारणरूप दीनताको प्राप्त न होता हुआ द्वितीय भावरूप परावर्तनके अभावके कारण शुद्धस्वभावमें अवस्थित¹ वृत्तिवाला रहता है ॥ २७२ ॥

अब मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व प्रगट करते हैं:—

गाथा २७३

अन्वयार्थः—[**सम्यग्विदित पदार्थाः**] सम्यक् (यथार्थतया) पदार्थोंको जानते हुये [**ये**] जो [**बहिस्थमध्यस्थम्**] बहिरंग तथा अंतरंग [**उपधिं**] परिग्रहको [**त्यक्त्वा**] छोड़कर [**विषयेषु न अवसक्ताः**] विषयोंमें आसक्त नहीं हैं, [**ते**] वे [**शुद्धाः इति निर्दिष्टाः**] 'शुद्ध' कहे गये हैं ।

टीका:—अनेकान्तके द्वारा ज्ञात सकल ज्ञातृतत्त्व और ज्ञेयतत्त्वके यथास्थित स्वरूपमें जो प्रवीण हैं, अन्तरंगमें चकचकित होते हुये अनन्तशक्तिवाले चैतन्यसे भास्वर (तेजस्वी) आत्मतत्त्वके स्वरूपको जिनने समस्त बहिरंग तथा अन्तरंग संगतिके परित्यागसे विविक्त (भिन्न) किया है, और (इसलिये) अन्तःतत्त्वकी वृत्ति (आत्माकी परिणति) स्वरूपगुप्त तथा सुषुप्त समान (प्रशांत) [illegible]

१—अवस्थितवृत्तिवाला, [इस संपूर्ण श्रामण्यवाले जीवको [illegible] वह सदा एक ही भावरूप रहता है—शुद्धस्वभावमें स्थिर परिणमित होता रहता है [illegible] है ।]

भगवन्तः शुद्धा एवासंसारघटितविकटकर्मकवाटविघटनपटीयसाध्यवसायेन प्रकटीक्रियमाणावदाना मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमवबुध्यताम् ॥ २७३ ॥

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वं सर्वमनोरथस्थानत्वेनाभिनन्दयति—

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ २७४॥

शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम्।
शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै ॥ २७४ ॥

यत्तावत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यप्रवृत्तैकाग्र्यलक्षणं साक्षान्मोक्षमार्गभूतं श्रामण्यं तच्च शुद्धस्यैव। यच्च समस्तभूतभवद्भाविव्यतिरेककरम्बितानन्तवस्त्वन्वयात्मकविश्वसामान्यविशेष-प्रत्यक्षप्रतिभासात्मकं दर्शनं ज्ञानं च तत् शुद्धस्यैव। यच्च निःप्रतिघविजृम्भितसहजज्ञानानन्दमुद्रित-दिव्यस्वभावं निर्वाणं तत् शुद्धस्यैव। यश्च टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दावस्थासुस्थितात्मस्वभावोपलम्भ-

---

किंचित् भी आसक्तिको प्राप्त नहीं होते,—ऐसे जो सकल-महिमावान भगवन्त 'शुद्ध' (शुद्धोपयोगी) हैं उन्हें ही मोक्षतत्वका साधन तत्व जानना। (अर्थात् वे शुद्धोपयोगी ही मोक्षमार्गरूप हैं), क्योंकि वे अनादि संसारसे रचित—बद्ध विकट कर्मकपाटको तोड़ने-खोलनेके अति उग्र प्रयत्नसे पराक्रम प्रगट कर रहे हैं॥ २७३॥

अब मोक्षतत्वके साधनतत्वको (अर्थात् शुद्धोपयोगीको) सर्व मनोरथोंके स्थानके रूपमें अभि-नन्दन (प्रशंसा) करते हैं:—

गाथा २७४

अन्वयार्थः—[शुद्धस्य च] शुद्ध (शुद्धोपयोगी) के [श्रामण्यं भणितं] श्रामण्य कहा है, [शुद्धस्य च] और शुद्धको [दर्शनं ज्ञानं] दर्शन तथा ज्ञान कहा है, [शुद्धस्य च] शुद्धके [निर्वाणं] निर्वाण होता है, [सः एव] वही (शुद्ध ही) [सिद्धः] सिद्ध होता है; [तस्मै नमः] उन्हें नमस्कार हो।

टीकाः—प्रथम तो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी युगपदत्वरूपसे प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है ऐसा साक्षात् मोक्षमार्गभूत श्रामण्य 'शुद्ध' के ही होता है; समस्त भूत-वर्तमान-भावी व्यतिरेकोंके साथ मिलित (मिश्रित), अनन्तवस्तुओंका अन्वयात्मक जो विश्व उसके (१) सामान्य और (२) विशेषके प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप (१) दर्शन और (२) ज्ञान 'शुद्ध' के ही होते हैं,—निर्विघ्न खिले हुये सहज ज्ञानानन्दकी मुद्रावाला (स्वाभाविक ज्ञान और आनन्दकी छापवाला) दिव्य जिसका स्वभाव है ऐसा निर्वाण, 'शुद्ध' के ही होता है; और टंकोत्कीर्ण परमानन्दरूप अवस्थाओंमें स्थित आत्म-स्वभावकी उपलब्धिसे गंभीर भगवान सिद्ध, 'शुद्ध' ही होते हैं (अर्थात् शुद्धोपयोगी ही सिद्ध होते हैं), वचन विस्तारसे बस हो? सर्व मनोरथोंके स्थानभूत, मोक्षतत्वके साधनतत्वरूप, 'शुद्ध' को, जिसमेंसे

गम्भीरो भगवान् सिद्धः स शुद्ध एव। अलं वाग्विस्तरेण, सर्वमनोरथस्थानस्य मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वस्य शुद्धस्य परस्परमङ्गाङ्गिभावपरिणतभाव्यभावकभावत्वात्प्रत्यस्तमितस्वपरविभागो भावनमस्कारोऽस्तु ॥ २७४ ॥

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलेन योजयन् शास्त्रं समापयति—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो ।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ २७५ ॥

बुध्यते शासनमेतत् साकारानाकारचर्यया युक्तः ।
यः स प्रवचनसारं लघुना कालेन प्राप्नोति ॥ २७५ ॥

यो हि नाम सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्रस्वरूपव्यवस्थितवृत्तिसमाहितत्वात् साकारानाकारचर्यया युक्तः सन् शिष्यवर्गः स्वयं समस्तशास्त्रार्थविस्तरसंक्षेपात्मकश्रुतज्ञानोपयोगपूर्वकानुभावेन केवलमात्मानमनुभवन् शासनमेतद्बुध्यते स खलु निरवधित्रिसमयप्रवाहावस्थायित्वेन सकलार्थ-

---

परस्पर अंग-अंगीरूपसे परिणमित भावक-भाव्यताके कारण स्व-परका विभाग अस्त हुआ है, ऐसा भाव-नमस्कार हो ॥ २७४ ॥

अब (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव) शिष्यजनको शास्त्रके फलके साथ जोड़ते हुये शास्त्र समाप्त करते हैं:—

गाथा २७५

अन्वयार्थः—[यः] जो [साकारानाकारचर्यया युक्तः] साकार-अनाकार चर्यासे युक्त वर्तता हुआ [एतत् शासनं] इस उपदेशको [बुध्यते] जानता है, [सः] वह [लघुना कालेन] अल्पकालमें ही [प्रवचनसारं] प्रवचनके सारको (भगवान आत्माको) [प्राप्नोति] पाता है।

टीका:—सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्र स्वरूपमें अवस्थित परिणतिमें लगा होनेसे साकार-अनाकार चर्यासे युक्त वर्तता हुआ जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रोंके अर्थोंके विस्तारसंक्षेपात्मक श्रुतज्ञानोपयोग-पूर्वक प्रभाव द्वारा केवल आत्माको अनुभवता हुआ, इस उपदेशको जानता है वह शिष्यवर्ग, भूतार्थ-

१—[illegible]

*[illegible]

सार्थात्मकस्य प्रवचनस्य सारभूतं भूतार्थस्वसंवेद्यदिव्यज्ञानानन्दस्वभावमननुभूतपूर्वं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति ॥ २७५ ॥

इति तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां प्रवचनसारवृत्तौ चरणानुयोगसूचिका चूलिका नाम तृतीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥

* * *

ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यतइति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते । आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्टात्रेकं द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात् । तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् १ । पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम् २ । अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थ-

---

स्वसंवेद्य-दिव्य ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है ऐसे, पहले कभी अनुभव नहीं किये गये, भगवान आत्माको पाता है—जो कि (जो आत्मा) तीनों कालके निरवधि प्रवाहमें स्थायी होनेसे सकल[1] पदार्थोंके समूहात्मकप्रवचनका सारभूत है ॥ २७५ ॥

इसप्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसारशास्त्रकी श्रीमद्अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित तत्वदीपिका नामक टीकामें चरणानुयोगसूचक चूलिका नामका तृतीय श्रुतस्कंध समाप्त हुआ ।

× × ×

[अब टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव परिशिष्टरूपसे कुछ कहते हैं:—]

'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है, और (यहाँ) फिर भी कहते हैं:—

पहले तो आत्मा वास्तवमें चैतन्यसामान्यसे व्याप्त अनन्त धर्मोंका अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मोंमें व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभवसे (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)।

वह आत्मद्रव्य द्रव्यनयसे, परमात्रकी भांति, चिन्मात्र है, (अर्थात् आत्मा द्रव्यनयसे चैतन्यमात्र है, जैसे वस्त्र वस्त्रमात्र है ।) १

आत्मद्रव्य पर्यायनयसे, तंतुमात्रकी भांति, दर्शनज्ञानादिमात्र है, (अर्थात् आत्मा पर्यायनयसे दर्शनज्ञानचारित्रादिमात्र है, जैसे वस्त्र तंतुमात्र है ।) २.

१—प्रवचन सकल पदार्थोंके समूहका प्रतिपादन करता है, इसलिये उसे सकल पदार्थोंका समूहात्मक कहा है । [निज शुद्धात्मा प्रवचनका सारभूत है, क्योंकि प्रवचन जो सर्वपदार्थसमूहका प्रतिपादन करता है उसमें एक निजात्मपदार्थ ही स्वयंको ध्रुव है, दूसरा कोई पदार्थ स्वयंको ध्रुव नहीं,]

लक्ष्योन्मुखविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत् ३। नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत् ४। अस्तित्वनास्तित्वनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकांतरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्वनास्तित्ववत् ५। अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ६। अस्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकांतरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणका-

---

आत्मद्रव्य अस्तित्वनयसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्ववाला है;—लोहमय, प्रत्यंचा (डोरी) और धनुषके मध्य में निहित, संधानदशामें रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख बाणकी भांति। (जैसे कोई बाण स्वद्रव्यसे लोहमय है, स्वक्षेत्रसे प्रत्यन्चा और धनुषके मध्यमें निहित है, स्वकालसे संधान-दशामें है, अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खेंची हुई दशामें है, और स्वभावसे लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्वनयसे स्वचतुष्टयसे अस्तित्ववाला है।) ३.

आत्मद्रव्य नास्तित्वनयसे परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे नास्तित्ववाला है:—अलोहमय, प्रत्यन्चा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधानदशामें न रहे हुवे और अलक्ष्योन्मुख पहलेके बाणकी भांति। (जैसे पहलेका बाण अन्य बाणके द्रव्यकी अपेक्षासे अलोहमय है, अन्य बाणके क्षेत्रकी अपेक्षासे प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित नहीं है, अन्य बाणके कालकी अपेक्षासे संधानदशामें नहीं रहा हुवा और अन्य बाणके भावकी अपेक्षासे अलक्ष्योन्मुख है उसीप्रकार आत्मा नास्तित्वनयसे परचतुष्टयसे नास्तित्ववाला है।) ४.

आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्वनयसे क्रमशः स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्व-नास्तित्ववाला है;—लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित तथा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें न रहे हुवे तथा संधान अवस्थामें न रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहलेके बाणकी भांति। (जैसे पहलेका बाण क्रमशः स्वचतुष्टयकी तथा परचतुष्टयकी अपेक्षासे लोहमयादि और अलोहमयादि है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्वनयसे क्रमशः स्वचतुष्टय-की और परचतुष्टयकी अपेक्षासे अस्तित्ववाला और नास्तित्ववाला है।) ५.

आत्मद्रव्य अवक्तव्यनयसे युगपत् स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल भावसे अवक्तव्य है:—लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित तथा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें रहे हुए तथा संधान अवस्थामें न रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहलेके बाणकी भांति। (जैसे पहलेका बाण युगपत् स्वचतुष्टयकी और परचतुष्टयकी अपेक्षासे युगपत् लोहमयादि तथा अलोहमयादि होनेसे अवक्तव्य है, उसीप्रकार आत्मा अवक्तव्यनयसे युगपत् स्वचतुष्टय और परचतुष्टय-की अपेक्षासे अवक्तव्य है।) ६.

आत्मद्रव्य अस्तित्व-अवक्तव्य नयसे स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल भावसे तथा युगपत् स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तित्ववाला-अवक्तव्य है:—(स्वचतुष्टयसे) लोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित,

र्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम् ७। नास्तित्वावक्तव्यनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च नास्तित्ववदवक्तव्यम् ८। अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकांतरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः

संधान अवस्थामें रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख-ऐसे तथा (युगपत् स्व-पर चतुष्टयसे) लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित तथा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें रहे हुवे तथा संधान अवस्था में न रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख-ऐसे पहलेके बाणकी भांति। [जैसे पहलेका बाण (१) स्वचतुष्टयसे तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) लोहमयादि तथा (२) अवक्तव्य है; उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-अवक्तव्यनयसे (१) स्वचतुष्टयकी तथा (२) (युगपत् स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) अस्तित्ववाला तथा (२) अवक्तव्य है।] ७.

आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनयसे पर द्रव्य-क्षेत्र-काल भावसे तथा युगपत् स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-कालभावसे नास्तित्ववाला- अवक्तव्य है;—(परचतुष्टयसे) अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें न रहे हुवे और अलक्ष्योन्मुख-ऐसे-तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टयसे) लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित तथा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें रहे हुवे तथा संधान अवस्थामें न रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख-ऐसे-पहलेके बाणकी भांति। [जैसे पहलेका बाण (१) परचतुष्टयकी तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) अलोहमयादि तथा (२) अवक्तव्य है, उसीप्रकार आत्मा नास्तित्व-अवक्तव्यनयसे (१) परचतुष्टयकी तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) नास्तित्ववाला तथा (२) अवक्तव्य है।] ८.

आत्मद्रव्य अस्तित्व—नास्तित्व-अवक्तव्यनयसे स्वद्रव्यक्षेत्रकाल भावसे, परद्रव्यक्षेत्रकालभावसे तथा युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावसे अस्तित्ववाला— नास्तित्ववाला-अवक्तव्य है;— (स्वचतुष्टयसे) लोहमय, प्रत्यन्चा और धनुपके मध्यमें निहित, संधान अवस्थामें रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख-ऐसे,— (परचतुष्टयसे) अलोहमय- प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें न रहे हुवे और अलक्ष्योन्मुख-ऐसे-तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टयसे) लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें निहित तथा प्रत्यंचा और धनुषके मध्यमें अनिहित, संधान अवस्थामें रहे हुवे तथा संधान अवस्थामें न रहे हुवे और लक्ष्योन्मुख और अलक्ष्योन्मुख-ऐसे-पहलेके बाणकी भांति। [जैसे पहलेका बाण (१) स्वचतुष्टयकी, (२) परचतुष्टयकी तथा (३) युगपत् स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) लोहमय, (२) अलोहमय तथा (३) अवक्तव्य है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनयसे (१) स्व-

परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्यम् ९। विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत्सविकल्पम् १०। अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम् ११। नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि १२। स्थापनानयेन मूर्तित्ववत्सकलपुद्गलालम्बि १३। द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि १४। भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि १५। सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि १६। विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि १७। नित्यनयेन नटवदवस्थायि १८। अनित्यनयेन रामरावणवदनव-

चतुष्टयकी, (२) परचतुष्टयकी तथा (३) युगपत् स्व-परचतुष्टयकी अपेक्षासे (१) अस्तित्ववाला, (२) नास्तित्ववाला तथा (३) अवक्तव्य है।] ९.

आत्मद्रव्य विकल्पनयसे, बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे एक पुरुषकी भांति, सविकल्प है (अर्थात् आत्मा भेदनयसे, भेदसहित है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्धके भेदसे भेदयुक्त है) १०.

आत्मद्रव्य अविकल्पनयसे, एक पुरुषमात्रकी भांति, अविकल्प है (अर्थात् अभेदनयसे आत्मा अभेद है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्धके भेदसे रहित एक पुरुषमात्र है।) ११.

आत्मद्रव्य नामनयसे, नामवालेकी भांति, शब्दब्रह्मको स्पर्श करनेवाला है (अर्थात् आत्मा नामनयसे शब्दब्रह्मसे कहा जाता है, जैसे कि नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्दसे कहा जाता है।) १२.

आत्मद्रव्य स्थापनानयसे, मूर्तित्वकी भांति, सर्व पुद्गलोंका अवलम्बन करनेवाला है (अर्थात् स्थापनानयसे आत्मद्रव्यकी पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है, मूर्तिकी भांति) १३.

आत्मद्रव्य द्रव्यनयसे बालक सेठ की भांति और श्रमण राजा की भांति, अनागत और अतीत पर्यायसे प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनयसे भावी और भूत पर्यायरूपसे ख्यालमें आता है, जैसे कि बालक सेठत्व स्वरूप भावी पर्यायरूपसे ख्यालमें आता है और मुनि राजास्वरूप भूतपर्यायरूपसे ख्यालमें आता है।) १४.

आत्मद्रव्य भावनयसे, पुरुषके समान प्रवर्तमान स्त्रीकी भांति, तत्काल [illegible] उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्मा भावनयसे वर्तमान पर्यायरूपसे [illegible] है, जैसे कि पुरुषके समान प्रवर्तमान स्त्री पुरुषत्वरूप पर्यायरूपसे प्रतिभासित होती है [illegible]) १५.

आत्मद्रव्य सामान्यनयसे, हार-माला-कंठीके डोरेकी भांति, व्यापक है, (अर्थात् [illegible] सामान्यनयसे सर्व पर्यायोंमें व्याप्त रहता है, जैसे [illegible] है।) १६.

आत्मद्रव्य विशेषनयसे, उसके एक मोतीकी भांति, अव्यापक है, [illegible] अव्यापक है, जैसे पूर्वोक्त [illegible] है [illegible]) १७.

आत्मद्रव्य नित्यनयसे, नटकी भांति, अवस्थायी है [illegible] है, जैसे राम—रावणरूप अनेक [illegible] है।) १८.

१०.

स्थायि १९। सर्वगतनयेनविस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति २०। असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति २१। शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि २२। अशून्यनयेन लोकाक्रान्तनौवन्मिलितोद्भासि २३। ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरि० तधूमकेतुवदेकम् २४। ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसंपृक्तदर्पणवदनेकम् २५। नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि २६। अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि २७। स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि २८। अस्वभावनयेनायस्कारनिशित-

आत्मद्रव्य अनित्यनयसे, राम-रावणकी भांति, अनवस्थायी है (अर्थात् आत्मा अनित्यनयसे अनित्य है, जैसे नटके द्वारा धारण किये गये राम—रावणरूप स्वांग अनित्य हैं।) १९.

आत्मद्रव्य सर्वगतनयसे, खुली हुई आँखकी भांति, सर्ववर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला) है। २०.

आत्मद्रव्य असर्वगतनयसे, मींची हुई (बन्द) आँखकी भांति, आत्मवर्ती (अपनेमें रहनेवाला) है। २१.

आत्मद्रव्य शून्यनयसे, शून्य (खाली) घरकी भांति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है। २२.

आत्मद्रव्य अशून्यनयसे, लोगोंसे भरे हुये जहाजकी भांति, मिलित भासित होता है। २३.

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनयसे (ज्ञान और ज्ञेयके अद्वैतरूप नयसे), महान् ईंधनसमूहरूप परिणत अग्निकी भांति, एक है। २४.

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेयद्वैतनयसे, परके प्रतिबिंबोंसे संपृक्त दर्पणकी भांति, अनेक है (अर्थात् आत्मा ज्ञान और ज्ञेयके द्वैतरूपनयसे अनेक है, जैसे पर-प्रतिबिम्बोंके संगवाला दर्पण अनेकरूप है।) २५.

आत्मद्रव्य नियतिनयसे नियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्निकी भांति। [आत्मा नियतिनयसे नियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे अग्निके उष्णताका नियम होनेसे अग्नि नियतस्वभाववाली भासित होती है।] २६.

आत्मद्रव्य अनियतनयसे अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसके उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है ऐसे पानीकी भांति। [आत्मा अनियतिनयसे अनियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे पानीके (अग्नि निमित्तक) उष्णता अनियत होनेसे पानी अनियत स्वभाववाला भासित होता है] २७

आत्मद्रव्य स्वभावनयसे संस्कारको निरर्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्माको स्वभावनयसे संस्कार निरुपयोगी है), जिसकी किसीसे नोक नहीं निकाली जाती (-किन्तु जो स्वभावसे ही नुकीला है) ऐसे पैने कांटेकी भांति। २८.

आत्मद्रव्य अस्वभावनयसे संस्कारको सार्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्माको अस्वभावनयसे संस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभावसे नोक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके) लुहारके द्वारा नोक निकाली गई हो ऐसे पैने बाणकी भांति। २९.

आत्मद्रव्य कालनयसे जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है ऐसा है, गर्मीके दिनोंके अनुसार पकनेवाले आम्रफलकी भांति। [कालनयसे आत्मद्रव्यकी सिद्धि समयपर आधार रखती है, गर्मीके

तीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि २९। कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ३०। अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ३१। पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादिवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ३२। दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः ३३। ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ३४। अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ३५। गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ३६। अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ३७। कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ३८। अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ३९। भोक्तृन-

दिनोंके अनुसार पकनेवाले आमकी भांति।] ३०

आत्मद्रव्य अकालनयसे जिसकी सिद्धि समयपर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मीसे पकाये गये आम्रफलकी भांति। ३१.

आत्मद्रव्य पुरुषकारनयसे जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषकारसे नींबूका वृक्ष प्राप्त होता है (-उगता है) ऐसे पुरुषकारवादीकी भांति। [पुरुषार्थनयसे आत्माकी सिद्धि प्रयत्नसे होती है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्यको पुरुषार्थसे नींबूका वृक्ष प्राप्त होता है।] ३२.

आत्मद्रव्य दैवनयसे जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है (-यत्न बिना होता है) ऐसा है; पुरुषकारवादी द्वारा प्रदत्त नींबूके वृक्षके भीतरसे जिसे (बिना यत्नके, दैवसे) माणिक प्राप्त होजाता है ऐसे दैववादीकी भांति। ३३.

आत्मद्रव्य ईश्वरनयसे परतंत्रता भोगनेवाला है, धायकी दुकान पर [illegible] [illegible] पथिक बालककी भांति। ३४.

आत्मद्रव्य अनीश्वरनयसे स्वतंत्रता भोगनेवाला है, हिरनको [illegible] (अपनी इच्छानुसार) [illegible] पूर्वक फाड़कर खाजानेवाले सिंहकी भांति। ३५.

आत्मद्रव्य गुणीनयसे गुणग्राही है, शिक्षकके द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमारकी भांति। ३६.

आत्मद्रव्य अगुणीनयसे केवल साक्षी ही है (-गुणग्राही नहीं है), जिसे शिक्षकके द्वारा शिक्षा दी जारही है ऐसे कुमारको देखनेवाले पुरुष (-प्रेक्षक) की भांति। ३७.

आत्मद्रव्य कर्तृनयसे, रंगरेजकी भांति, रागादि परिणामोंका कर्ता है। [illegible] रागादिपरिणामोंका कर्ता है, जैसे रंगरेज रंगनेके [illegible] कर्ता है।] ३८.

आत्मद्रव्य अकर्तृनयसे केवल साक्षी ही है [illegible] [illegible] वाले पुरुष ([illegible]) की भांति। ३९.

आत्मद्रव्य भोक्तृनयसे [illegible] भोक्ता है, [illegible]

[illegible]

[illegible] है।

येन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ ४० । अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ४१ । क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४२ । ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ४३ । व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ४४ । निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ४५ । अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्ट-

की भांति। [आत्मा भोक्तानयसे सुख दुःखादिको भोगता है, जैसे हितकारक या अहितकारक अन्नको खानेवाला रोगी सुख या दुःखको भोगता है।] ४०.

आत्मद्रव्य अभोक्तृनयसे केवल साक्षी ही है, हितकारी अहितकारी अन्नको खानेवाले रोगीको देखनेवाले वैद्यकी भांति। [आत्मा अभोक्ता नयसे केवल साक्षी ही है—भोक्ता नहीं; जैसे सुख-दुखको भोगनेवाले रोगीको देखनेवाला वैद्य तो केवल साक्षी ही है।] ४१.

आत्मद्रव्य क्रियानयसे अनुष्ठानकी प्रधानतासे सिद्धि साधित हो ऐसा है, खम्भेसे सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त होजाय ऐसे अंधकी भांति। [क्रियानयसे आत्मा अनुष्ठानकी प्रधानतासे सिद्धि हो ऐसा है; जैसे किसी अंधपुरुषको पत्थरके खम्भेके साथ सिर फोड़नेसे सिरके रक्तका विकार दूर होनेसे आंखें खुल जायें और निधान प्राप्त हो, उसी प्रकार।] ४२.

आत्मद्रव्य ज्ञाननयसे विवेककी प्रधानतासे सिद्धि साधित हो ऐसा है; मुट्ठी भर चने देकर चिंतामणि-रत्न खरीदनेवाले घरके कौनेमें बैठे हुये व्यापारीकी भांति। [ज्ञाननयसे आत्माको विवेककी प्रधानतासे सिद्धि होती है, जैसे घरके कौनेमें बैठा हुआ व्यापारी मुट्ठीभर चना देकर चिंतामणि रत्न खरीद लेता है, उसी प्रकार।] ४३.

आत्मद्रव्य व्यवहारनयसे बंध और मोक्षमें द्वैत[1] का अनुसरण करनेवाला है, बंधक (बंध करनेवाले) और मोचक (मुक्त करनेवाले) अन्य परमाणुके साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणुकी भांति। [व्यवहार नयसे आत्म बंध और मोक्षमें (पुद्गलके साथ) द्वैतको प्राप्त होता है, जैसे परमाणुके बंधमें वह परमाणु अन्य परमाणुके साथ संयोगको पाने रूप द्वैतको प्राप्त होता है और परमाणुके मोक्षमें वह परमाणु अन्य परमाणुसे पृथक् होनेरूप द्वैतको पाता है, उसी-प्रकार।] ४४.

आत्मद्रव्य निश्चयनयसे बंध और मोक्षमें अद्वैतका अनुसरण करनेवाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्व रूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणुकी भांति। [निश्चय नयसे आत्मा अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, जैसे बंध और मोक्षके योग्य स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुणरूप परिणमित होता हुआ परमाणु अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, उसीप्रकार।] ४५.

१—द्वैत=द्वित्व, द्वैतपन. [व्यवहारनयसे आत्माके बंधमें कर्मके साथके संयोगकी अपेक्षा आती है इसलिये द्वैत है, और आत्माकी मुक्तिमें कर्मके वियोगकी अपेक्षा आती है इसलिये वहां भी द्वैत है।]

त्मकैकमकराकरवदनन्तधर्माणां वस्तुत्वेनाशक्यविवेचनत्वान्मेचकस्वभावानन्तधर्मव्याप्येकधर्मित्वात् यथोदितानेकान्तात्मात्मद्रव्यं ।

*स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः
पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि ।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्म-
स्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः ॥ १९ ॥

इत्यभिहितमात्मद्रव्यमिदानीमेतदवाप्तिप्रकारोऽभिधीयते—अस्य तावदात्मनो नित्यमेवानादिपौद्गलिककर्मनिमित्तमोहभावनानुभावघूर्णितात्मवृत्तितया तोयाकरस्येवात्मन्येव क्षुभ्यतः क्रमप्रवृत्ताभिरनन्ताभिर्ज्ञप्तिव्यक्तिभिः परिवर्तमानस्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बहिरर्थव्यक्तिषु प्रवृत्तमैत्रीकस्य शिथिलितात्मविवेकतयात्यन्तबहिर्मुखस्य पुनः पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैतमनुवर्तमानस्य दूरत एवात्मावाप्तिः । अथ यदा त्वयमेव प्रचण्डकर्मकाण्डोच्चण्डीकृ-

---

धर्मस्वरूप) है । [जैसे-एक समय एक नदीके जलको जाननेवाले ज्ञानांशसे देखा जाय तो समुद्र एक नदीके जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसीप्रकार एक समय एक धर्मको जानने वाले एक नयसे देखा जाय तो आत्मा एकधर्म स्वरूप ज्ञात होता है; परन्तु जैसे एक ही साथ सर्व नदियोंके जलको जाननेवाले ज्ञानसे देखा जाय तो समुद्र सर्व नदियोंके जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसीप्रकार एक ही साथ सर्वधर्मोंको जाननेवाले प्रमाणसे देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है । इसप्रकार एक नयसे देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है और प्रमाणसे देखने पर अनेकान्तात्मक है ।]

[अब उस ही आशयको काव्य द्वारा कहकर, यह कथन समाप्त किया जाता है कि 'आत्मा कैसा है ?']

[अर्थः—] इसप्रकार स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के निवासके वशीभूत वर्तते नयसमूहोंसे (जीव) देखें तो भी और प्रमाणसे देखें तो भी स्पष्ट अनन्तधर्मोंवाले निज आत्मद्रव्यको भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं ।

इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया । अब उसकी प्राप्तिका प्रकार कहा जाता है:—

प्रथम तो, अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका निमित्त है ऐसी मोहभावनाके (मोहके अनुभवके) प्रभावसे आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है, इसलिये यह आत्मा समुद्रकी भांति अपनेमें ही क्षुब्ध होता हुआ क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त ज्ञप्ति—व्यक्तियोंसे परिवर्तन को प्राप्त होता है, इसलिये ज्ञप्ति—व्यक्तियोंके निमित्तरूप होनेसे जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियोंके प्रति उसकी मैत्री प्रवर्तती है, इसलिये आत्मविवेक शिथिल हुवा होनेसे (-आत्मविवेकका उसके अभाव होनेसे) अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह पुनः पौ-

---

१—व्यक्तियों=प्रगटताओं; पर्यायों; विशेषों । [बाह्य पदार्थ विशेष ज्ञप्ति विशेषोंके निमित्त होनेसे ज्ञेयभूत हैं ।] *शालिनी छन्द ।

*व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फे गिरां
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु ।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्
लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः ॥ २० ॥
†इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत् चिति तदपि किलाभूत्कल्पमग्नौ हुतस्य ।
अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्मात् अपरमिह न किंचित्तत्त्वमेकं परं चित् ॥ २१ ॥
समाप्तेयं तत्त्वदीपिका टीका ।

[अब, 'अमृतचन्द्रसूरि इस टीकाके रचयिता हैं' यह मानना योग्य नहीं है ऐसे अर्थवाले काव्य द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूपको प्रगट करके स्वतत्त्वप्राप्तिकी प्रेरणा की जाती है:—]

[अर्थः—] (वास्तवमें पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं, आत्मा उन्हें परिणमित नहीं कर सकता, तथा वास्तवमें सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप–प्रमेयरूप परिणमित होते हैं, शब्द उन्हें ज्ञेय बना-समझा नहीं सकते इसलिये) 'आत्मा सहित विश्व व्याख्येय (समझाने योग्य) है, वाणीका गुंथन व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि व्याख्याता हैं, इसप्रकार लोगो ! मोहसे मत नाचो (मत फूलो), (किन्तु) स्याद्वाद विद्या बलसे विशुद्ध ज्ञानकी कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्त्वको प्राप्त करके आज (लोगो) अव्याकुलरूपसे नाचो (–परमानन्द परिणामरूप परिणत होओ ।)

[अब काव्य द्वारा चैतन्यकी महिमा गाकर, वही एक अनुभव करने योग्य है ऐसी प्रेरणा करके इस परम पवित्र परमागमकी पूर्णाहुति की जाती है:—]

[अर्थः—] इसप्रकार (इस परमागममें) अमन्दरूपसे (बलपूर्वक, जोरशोरसे) जो थोड़ा बहुत तत्त्व कहा गया है, वह सब चैतन्यके मध्य वास्तवमें अग्निमें होमी गई वस्तुके समान (स्वाहा) हो गया है । (अग्निमें होमे गये घी को अग्नि खा जाती है, मानो कुछ होमा ही न गया हो ! इसीप्रकार अनन्त माहात्म्यवन्त चैतन्यका चाहे जितना वर्णन किया जाय तो भी मानो उस समस्त वर्णनको अनन्त महिमावान चैतन्य खा जाता है; चैतन्यकी अनन्त महिमाके निकट सारा वर्णन मानो वर्णन ही न हुआ हो इसप्रकार तुच्छताको प्राप्त होता है ।) उस चैतन्यको ही चैतन्य आज प्रबलता–उग्रतासे अनुभव करो (अर्थात् उस चित्स्वरूप आत्माको ही आत्मा आज आत्यन्तिकरूपसे अनुभव करो) क्योंकि इस लोकमें दूसरा कुछ भी (उत्तम) नहीं है, चैतन्य ही परम (उत्तम) तत्त्व है ।

इसप्रकार (श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रणीत श्री प्रवचनसार शास्त्रकी श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य देव विरचित) तत्त्वदीपिका नामक संस्कृत टीकाके श्री हिंमतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवादका पंडित परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ कृत हिन्दी भाषानुवाद समाप्त हुआ ।

*शार्दूल विक्रीडित छन्द । †मालिनी छन्द ।

वीर जयन्ती
वीर नि० सं० २४७५

अनुवादकः—
परमेष्ठीदास जैन
जैनेन्द्र प्रेस ललितपुर
११-४-१९४९

प्रक्षीण घाति कर्म, अनहद वीर्य, अधिक प्रकाशने । इन्द्रिय-अतीत थयेल[1] आत्मा ज्ञानसौख्ये परिणमे ॥१९॥
कँइ[2] देहगत नथी[3] सुख के नथी दुःख केवलज्ञानीने । जेथी अतींद्रियता थई[4] ते कारणे ए जाणजो ॥२०॥
प्रत्यक्ष छे सौ द्रव्यपर्यय ज्ञान परिणमनारने[5] । जाणे नहीं ते तेमने अवग्रह-ईहादिक्रिया वडे[6] ॥२१॥
न परोक्ष कंइ पण[7] सर्वतः सर्वाक्षगुण समृद्धने । इन्द्रिय-अतीत सदैव ने स्वयमेव ज्ञान थयेलने ॥२२॥
जीव द्रव्य ज्ञान प्रमाण भाख्यूं[8] ज्ञान ज्ञेयप्रमाण छे । ने ज्ञेय लोकालोक तेथी[9] सर्वगत ए[10] ज्ञान छे ॥२३॥
जीव द्रव्य ज्ञान प्रमाण नहि—ए मान्यता छे जेह[11] ने । तेना मते जीव ज्ञानथी हीन के अधिक अवश्य छे ॥२४॥
जो हीन आत्मा होय, नव जाणे अचेतन ज्ञान ए । ने अधिक ज्ञानथी होय तो वण[12] ज्ञान क्यम जाणे अरे ॥२५॥
छे सर्वगत जिनवर अने[13] सौ अर्थ जिनवर प्राप्त छे । जिन ज्ञान-मय ने सर्व अर्थो विषय जिनना[14] होई[15] ने ॥२६॥
छे ज्ञान आत्मा जिनमते आत्मा विना नहिं ज्ञान छे । ते कारणे छे ज्ञान जीव, जीव ज्ञान छे वा अन्य छे ॥२७॥
छे 'ज्ञानी' ज्ञानस्वभाव अर्थो ज्ञेयरूप छे 'ज्ञानी' ना । ज्यम[16] रूप छे नेत्रो तणां[17], नहि वर्तता अन्योन्यमां ॥२८॥
ज्ञेये प्रविष्ट न, अणप्रविष्ट न, जाणतो जग सर्व ने । नित्ये अतींद्रिय आतमा, ज्यम नेत्र जाणे रूपने ॥२९॥
ज्यम दूधमां स्थित इन्द्रनीलमणि स्वकीय प्रभावडे[18] । दूधने विषे व्यापी रहे त्यम[19] ज्ञान पण अर्थो विषे ॥३०॥
नैवं[20] होय अर्थो ज्ञानमां, तो ज्ञान सौ-गत[21] पण नहि । ने सर्वगत छे ज्ञान तो क्यम[22] ज्ञानस्थित अर्थो नहि? ॥३१॥
प्रभुकेवली न ग्रहे, न छोडे, पर रूपे नवपरिणमे । देखे अने जाणे निःशेषे सर्वतः ते[23] सर्व ने ॥३२॥
श्रुतज्ञानथी जाणे खरे ज्ञायकस्वभावी आत्मने । ऋषिओ प्रकाशक लोकना श्रुतकेवली तेने कहे ॥३३॥
पुद्गलस्वरूप वचनोथी जिन-उपदिष्ट जे[24] ते[25] सूत्र छे । छे ज्ञप्ति तेनी ज्ञान, तेने[26] सूत्रनी[27] ज्ञप्ति कहे ॥३४॥
जे जाणतो ते ज्ञान, नहि जीव ज्ञानथी ज्ञायकबने । पोते[28] प्रणमतो[29] ज्ञानरूप, ने ज्ञान स्थित सौ[30] अर्थ छे ॥३५॥
छे ज्ञान तेथी जीव ज्ञेय त्रिधा कहेलूं[31] द्रव्य छे । ए द्रव्य पर ने आतमा, परिणाम संयुत जेह[32] छे ॥३६॥
ते द्रव्यना सद्भूत[33]-असद्भूत पर्ययो सौ[34] वर्तता । तत्कालना पर्याय जेम[35], विशेष पूर्वक ज्ञानमां ॥३७॥
जे पर्ययो अण[36]जात छे, वळी[37] जन्मीने प्रविनष्ट जे । ते सौ असद्भूत पर्ययो[38] पण[39] ज्ञानमां प्रत्यक्ष छे ॥३८॥
ज्ञाने अजात-विनष्ट पर्यायो तणी[40] प्रत्यक्षता । नैव[41] होय जो[42] तो ज्ञानने ए दिव्य कोण कहे भला ॥३९॥
ईहादि पूर्वक जाणता जे अक्षपतित[43] पदार्थ ने । तेने परोक्ष पदार्थ जाणवुं शक्य नैं[44]-जिनजी कहे ॥४०॥
जे जाणतुं अप्रदेशने सप्रदेश, मूर्त अमूर्तने । पर्याय नष्ट-अजात[45]ने, भाख्युं अतींद्रिय ज्ञान ते ॥४१॥
जो ज्ञेय अर्थे परिणमे ज्ञाता, न क्षायिक ज्ञान छे । ते कर्मने जे[46] अनुभवे छे एम[47] जिनदेवो कहे ॥४२॥
भाख्यां जिने कर्मो उदयगत नियमथी संसारीने । ते कर्म होतां[48] मोही-रागी द्वेषी बंध अनुभवे ॥४३॥

---

१ हुये । २ कुछ । ३ नहीं । ४ हुई । ५ परिणमित होनेवाले को । ६ द्वारा । ७ भी । ८ कहा । ९ इसलिये । १० यह । ११ जिसकी । १२ विना । १३ और । १४ जिनेन्द्र देव के । १५ होनेसे । १६ जैसे । १७ का । १८ द्वारा । १९ वैसे । २० नहीं । २१ सर्वगतत्व । २२ क्यों । २३ वे । २४ जो । २५ वह । २६ उसको । २७ श्रुतज्ञान । २८ स्वयं । २९ परिणमता है । ३० सब । ३१ कहागया । ३२ जो । ३३ विद्यमान-अविद्यमान । ३४ समस्त । ३५ सदृश । ३६ अनुत्पन्न । ३७ अथवा । ३८ पर्यायें । ३९ भी । ४० की । ४१ न । ४२ यदि । ४३ इंद्रियगोचर । ४४ अशक्य । ४५ अनुत्पन्न को । ४६ ही । ४७ ऐसा । ४८ होने से ।

धर्मोपदेश, विहार, आसन, स्थान[1] श्रीअर्हंतने। वर्ते सहज ते कालमां मायाचरण ज्यम[2] नारीने ॥४४॥
छे पुण्यफल अर्हंत, ने अर्हंतकिरिया उदयिकी[3]। मोहादि थी विरहित तेथी ते क्रिया क्षायिक गणी ॥४५॥
आत्मा स्वयं निज भाव थी जो शुभ अशुभ बने नहि। तो सर्व जीवनिकाय[4] ने संसार पण वर्ते नहि? ॥४६॥
सौ[5] वर्तमान अवर्तमान, विचित्र विषम पदार्थ ने। युगपत सरवतः[6] जाणतुं ते ज्ञान क्षायिक जिनकहे ॥४७॥
जाणे नहि युगपद त्रिकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थ ने। तेने सपर्यय[7] एक पण नहि द्रव्य जाणवु शक्य छे ॥४८॥
जो एक द्रव्य अनन्त पर्यय[8] तेम द्रव्य अनन्त ने। युगपद न जाणे जीव, तो ते केम जाणे सर्वने? ॥४९॥
जो ज्ञान 'ज्ञानी' नुं[9] ऊपजे क्रमशः अर्थ[10] अवलंबी[11] ने। तो नित्य नहि, क्षायिक नहि ने सर्वगत नहि ज्ञान ए ॥५०॥
नित्ये विषम[12], विधविध[13], सकलपदार्थगण सर्वत्रनो। जिनज्ञान जाणे युगपदे, महिमा अहो ए ज्ञाननो ॥५१॥
ते अर्थरूप न परिणमे जीव नव ग्रहे नव ऊपजे। सौ अर्थ ने जाणे छतां[14] तेथी अबंधक जिन कहे ॥५२॥
अर्थोनु ज्ञान अमूर्त, मूर्त, अतींद्रिने ऐन्द्रिय[15] छे। छे सुख पण एवुं ज[16] त्यां परधान[17] जे ते ग्राह्य छे ॥५३॥
देखे अमूर्तिक, मूर्तमांय[18] अतींद्रि ने प्रच्छन्न ने। ते सर्वने पर के स्वकीय ने, ज्ञान ते प्रत्यक्ष छे ॥५४॥
पोते[19] अमूर्तिक जीव मूर्त शरीरगत ए मूर्त थी। कदी[20] योग्य मूर्त अवग्रही जाणे कदीक[21] जाणे नहीं ॥५५॥
रस गंध, स्पर्श वळी[22] वरण ने शब्द जे पौद्गलिक ते। छे इन्द्रिय विषयो, तेमने ये[23] न इन्द्रियो युगपद ग्रहे ॥५६॥
ते इन्द्रियो परद्रव्य, जीवस्वभाव भाखी न तेमने। तेनाथी जे उपलब्ध ते प्रत्यक्ष कई[24] रीत जीवने ॥५७॥
अर्थो तणुं[25] जे ज्ञान परतः थाय[26] तेह परोक्ष छे। जीवमात्रथी ज जणाय जो, तो ज्ञान ते प्रत्यक्ष छे ॥५८॥
स्वयमेव जात, समंत[27] अर्थ अनन्तमां विस्तृत ने। अवग्रह-ईहादि रहित, निर्मल ज्ञान सुख एकान्त[28] छे ॥५९॥
जे ज्ञान 'केवळ' तेज सुख, परिणाम पण वळी तेज छे। भाख्यो न तेमां खेद[29] जेथी घातिकर्म विनिष्ट छे ॥६०॥
अर्थान्तगत छे ज्ञान, लोकालोक विस्तृत दृष्टि छे। छे नष्ट सर्व अनिष्ट ने जे इष्ट ते[30] सौ प्राप्त छे ॥६१॥
सुणी 'घातिकर्मविहीननुं सुख सौ सुखे उत्कृष्ट छे'। श्रद्धे न तेह अभव्य छे[31], ने भव्य ते संमत करे ॥६२॥
सुर-असुर-नरपति पीडित वर्ते सहज[32] इन्द्रियो वडे[33]। नव[34] सही सके ते दुःख तेथी रम्य विषयोमां रमे ॥६३॥
विषयो विषे रति जेमने[35] दुःख छे स्वाभाविक तेम[36] ने। जो ते न होय स्वभाव तो व्यापार नहि विषयो विषे ॥६४॥
इन्द्रिय समाश्रित इष्ट विषयो पामीने[37], निज भावथी। जीव प्रणमतो[38] स्वयमेव सुख रूप थाय, देह थतो[39] नथी ॥६५॥
एकान्तथी स्वर्गेय देह करे नहि सुख देहीने[40]। पण विषयवश स्वयमेव आत्मा सुख वा दुःख थाय छे ॥६६॥
जो दृष्टि प्राणीनी तिमिरहर (तो) कार्य छे नहि दीपथी। ज्यां[41] जीव स्वयं सुख परिणमे, विषयो करे छे शुं[42] त्यां[43]? ॥६७॥
ज्यम[44] आभमां स्वयमेव भास्कर उष्ण, देव, प्रकाश छे, स्वयमेव लोके सिद्ध पण त्यम[45] ज्ञान, सुख ने देव छे ॥६८॥

१ ठहरना। २ जैसे। ३ औदयिक। ४ जीव समूह को। ५ संपूर्ण। ६ सर्वतः। ७ पर्याय सहित। ८ अनन्त पर्याय वाला। ९ के। १० अर्थ। ११ सहायता। १२ असमानजातीय। १३ अनेक प्रकार के। १४ तो भी। १५ ऐन्द्रियक। १६ ऐसा ही। १७ प्रधान (उत्तम)। १८ मूर्तिकों को भी (मूर्तद्रव्यों को भी)। १९ स्वयं। २० कभी। २१ कदाचित्। २२ तथा। २३ भी। २४ किस प्रकार। २५ के। २६ होवे। २७ समस्त, सर्वांग। २८ मात्र अथवा केवलज्ञानात्मक। २९ आकुलता। ३० वे। ३१ स्वीकार करते हैं। ३२ स्वाभाविक। ३३ द्वारा। ३४ नहीं। ३५ जिनको। ३६ उनको। ३७ प्राप्त करके। ३८ परिणमता है। ३९ होता। ४० [illegible]। ४१ जहां। ४२ क्या। ४३ वहां। ४४ जैसे। ४५ वैसे।

गुरु-देव यतिपूजा विषे वली दान ने सुशीलो विषे । जीव रक्त[1] उपवासादिके, शुभ-ऊपयोग स्वरूप छे ॥६९॥
शुभयुक्त आत्मा देव वा[2] तिर्यंच वा मानव बने । ते पर्यये तावत्समय इन्द्रिय सुख विधविधे[3] लहे ॥७०॥
सुरनेय सौख्य स्वभावसिद्ध[4] न-सिद्ध छे आगमविषे । ते देहवेदन थी पीड़ित रमणीय विषयो मां रमे ॥७१॥
तिर्यंच नारक-सुर-नरो जो देहगत दुख अनुभवे । तो जीवनो उपयोग ए शुभने अशुभ कंई[5] रीति छे ॥७२॥
चक्री अने देवेन्द्र शुभ-उपयोग मूलक भोगथी । पुष्टि करे देहादिनी, सुखी सम दीसे[6] अभिरत रही ॥७३॥
परिणामजन्य अनेक विध जो पुण्यनुं अस्तित्व छे । तो पुण्य एँ[7] देवान्त जीवने विषयतृष्णोद्भव करे ॥७४॥
ते उदित तृष्ण जीवो, दुःखित तृष्णा थी विषयिक[8] सुखने । इच्छे अने आमरण[9] दुःखसंतप्त तेने भोगवे ॥७५॥
परयुक्त, बाधासहित, खंडित, बंधकारण, विषम छे । जे इन्द्रियो थी लब्ध ते सुख ए रीते दुःखज खरे ॥७६॥
नहि मानतो-ए रीत पुण्ये पापमां न विशेष छे । ते मोहथी आच्छन्न घोर अपार संसारे भमे[10] ॥७७॥
विदितार्थ[11] ए रीत, रागद्वेष लहे[12] न जे द्रव्यो विषे । शुद्धोपयोगी जीव ते क्षय देहगत दुःखनो करे ॥७८॥
जीव छोड़ी पापारंभने शुभचरितमां उद्यत भले । जो नवे[13] तजे मोहादिने तो नव लहे शुद्धात्मने ॥७९॥
जे जाणतो अर्हंतने गुण, द्रव्य ने पर्यय पणे । ते जीव जाणे आत्मने तसु[14] मोह पामे लय खरे[15] ॥८०॥
जीव मोहने करी दूर, आत्मस्वरूप सम्यक् पामीने[16] । जो रागद्वेष परिहरे तो पामतो[17] शुद्धात्मने ॥८१॥
अर्हंत सौ कर्मो तणो करी नाश ए ज विधिवडे । उपदेश पण एम ज[18] करी, निर्वृत थया; नमुं तेमने ॥८२॥
द्रव्यादिके[19] मूढ भाव वर्ते जीवने, ते मोह छे । ते मोहथी आच्छन्न रागी-द्वेषी थई क्षोभित बने ॥८३॥
रे ! मोहरूप वा रागरूप वा द्वेष परिणत जीवने । विधविधे[20] थाये बंध, तेथी सर्व ते क्षययोग्य छे ॥८४॥
अर्थोतणुं अयथाग्रहण[21], करुणा मनु ज तिर्यंचमां । विषयो तणो वली संग[22],—लिंगो जाणवां आ मोहना ॥८५॥
शास्त्रो वडे प्रत्यक्षआदिथी जाणतो जे अर्थ ने । तसु मोह पामे नाश निश्चय; शास्त्र समध्ययनीय[23] छे ॥८६॥
द्रव्यो, गुणो ने पर्ययो सौ 'अर्थ' संज्ञा थी कह्यां । गुण-पर्ययो नो आतमा[24] छे द्रव्य जिन उपदेशमां ॥८७॥
जे पामी जिन-उपदेश हणतो[25] रागद्वेष विमोहने । ते जीव पामे अल्पकाले सर्व दुःख विमोक्षने ॥८८॥
जे ज्ञानरूप निज आत्मने, परने वली निश्चय वडे । द्रव्यत्वथी[26] संबद्ध जाणे मोह नो क्षय ते करे ॥८९॥
तेथी यदि जीव इच्छतो निर्मोहता निज आत्मने । जिन मार्ग थी द्रव्यो महीं[27] जाणो स्व परने गुण वडे[28] ॥९०॥
श्रामण्यमां सत्तामयी सविशेष आ द्रव्यो तणी । श्रद्धा नहि, ते श्रमण ना; तेमांथी धर्मोद्भव नहि ॥९१॥
आगम विषे कौशल्य[29] छे, ने मोहदृष्टि विनष्ट छे । वीतराग—चरितारुढ छे, ते मुनि-महात्मा 'धर्म' छे ॥९२॥

---

१ आसक्त, लवलीन, आरूढ । २ अथवा । ३ विविध । ४ स्वाभाविक, आत्मीक । ५ किस । ६ मालूम पड़े । ७ यह । ८ विषयजन्य । ९ मरणतक । १० भ्रमण करता है । ११ स्वरूप जानकर । १२ करे । १३ नहीं । १४ उसका । १५ अवश्य । १६ प्राप्त करके । १७ प्राप्त करता है । १८ ऐसा ही । १९ परद्रव्यादिकोंमें । २० विविध, अनेकप्रकार का । २१ अन्यथा ग्रहण, (विपरीत श्रद्धा) । २२ प्रीत्याप्रीतपरिणाम । २३ अध्ययन करने योग्य, मननीय । २४ स्वरूप, सत्व, समूह । २५ नष्ट करता, क्षय करता । २६ स्वयोग्य द्रव्यत्व से । २७ में । २८ द्वारा । २९ प्रवीणता ।

ज्ञेयतत्व प्रज्ञापन

छे अर्थ द्रव्यस्वरूप, गुण-आत्मक कह्यां छे द्रव्य ने । वली द्रव्य-गुण थी पर्ययो; पर्ययमूढ परसमय[1] छे ॥९३॥
पर्याय मां रत जीव जे ते 'पर समय' निर्दिष्ट छे । आत्मस्वभावे स्थित जे ते 'स्वक समय[2]' ज्ञातव्य छे ॥९४॥
छोड्या विना ज स्वभावने उत्पाद-व्यय ध्रुव युक्त छे । वली गुण ने पर्यय सहित जे 'द्रव्य' भाख्युं तेहने ॥९५॥
उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशथी, गुणने विविध पर्यायथी । अस्तित्व द्रव्यनुं सर्वदा जे, तेह द्रव्यस्वभाव[3] छे ॥९६॥
विधविध लक्षणीनुं सरव-गत[4] 'सत्व' लक्षण एक छे । ए धर्म ने उपदेशता[5] जिनवरवृषभ निर्दिष्ट छे ॥९७॥
द्रव्यो स्वभावे सिद्ध ने 'सत्'—तत्त्वतः श्री जिन कहे । ए सिद्ध छे आगम थकी[6], माने न ते परसमय छे ॥९८॥
द्रव्यो स्वभाव विषे अवस्थित, तेथी 'सत्' सौ द्रव्य छे । उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशयुत परिणाम द्रव्यस्वभाव छे ॥९९॥
उत्पाद भंग[7] विना नहि, संहार सर्ग[8] विना नहि । उत्पाद तेमज भंग, ध्रौव्य—पदार्थ विण वर्ते नहि ॥१००॥
उत्पाद तेमज ध्रौव्य ने[9] संहार वर्ते पर्यये[10] । ने पर्ययो द्रव्ये नियमथी, सर्व तेथी द्रव्य छे ॥१०१॥
उत्पाद-ध्रौव्य-विनाशसंज्ञित अर्थ सह समवेत[11] छे । एक ज समयमां द्रव्य निश्चय, तेथी ए त्रिक द्रव्य छे ॥१०२॥
उपजे दरवनो अन्य पर्यय अन्य[12] को[13] विणसे वली । पण द्रव्य तो नथी नष्ट के उत्पन्न द्रव्य नथी तहीं ॥१०३॥
अविशिष्टसत्व[14] स्वयं दरव गुणथी गुणांतर परिणमे । तेथी वली द्रव्य ज कह्या छे सर्वगुणपर्यायने ॥१०४॥
जो द्रव्य होय न सत्, ठरे[15] ज असत् बने क्यम द्रव्यए? वा भिन्न ठरतुं सत्वथी! तेथी स्वयं ते सत्व छे ॥१०५॥
जिन वीरनो उपदेश एम[16]-पृथक्त्व भिन्नप्रदेशता । अन्यत्व जाण अतत्पणुं; नहि ते—पणे ते एक क्यां? ॥१०६॥
'सत् द्रव्य' 'सत् पर्याय', 'सत् गुण'—सत्वनो विस्तार छे । नथी ते-पणे[17] अन्योन्य तेह अतत्पणुं ज्ञातव्य छे ॥१०७॥
स्वरूपे नथी जे द्रव्य ते गुण, गुण ते नहि द्रव्य छे । आने अतत्पणुं जाणवुं, न अभावने; भाख्युं जिने ॥१०८॥
परिणाम द्रव्यस्वभाव जे, ते गुण 'सत्' अविशिष्ट छे । 'द्रव्यो स्वभावस्थित सत् छे'—ए ज आ उपदेश छे ॥१०९॥
पर्याय के[19] गुण एवुं कोई न द्रव्य विण विश्वे दीसे । द्रव्यत्व छे वली भाव; तेथी द्रव्य पोते[20] सत्व छे ॥११०॥
आवुं[21] दरव द्रव्यार्थ-पर्यायार्थथी निजभाव मां । सद्भाव-असद्भावयुत उत्पादने पामे सदा ॥१११॥
जीव परिणमे तेथी नरादिक ए थशे; पण ते—रूपे । शुं छोडतो द्रव्यत्वने? नहि छोडतो क्यम अन्य ए ॥११२॥
मानव नथी सुर, सुर पण नहि मनुज के नहि सिद्ध छे । ए रीत नहि होतो थको क्यम ते अनन्यपणुं धरे? ॥११३॥
द्रव्यार्थिके बधुं द्रव्य छे; ने ते ज पर्यायार्थिके । छे अन्य, जेथी[25] ने समय तद्रूप होई अनन्य छे ॥११४॥
अस्ति, तथा छे नास्ति, तेम ज द्रव्य अवक्तव्य छे । वली उभय[26] को पर्याय थी, वा अन्यरूप कथाय छे ॥११५॥
नथी 'आ ज'[27] एवो[28] कोई ज्यां किरिया स्वभाव-निपन्न छे । किरिया नथी फलहीन, जो निष्फल धर्म उत्कृष्ट छे ॥११६॥

---

१ मिथ्यादृष्टि । २ स्वसमय । ३ द्रव्यत्व । ४ सर्वगत । ५ उपदेष्टा । ६ द्वारा, से । ७ व्यय । ८ उत्पाद । ९ और । १० पर्यायमें । ११ तदात्मक । १२ कोई । १३ तथा । १४ सत्सामान्य । १५ निश्चित होवे । १६ ऐसा । १७ सरल । १८ एकपनेका अभाव । १९ अथवा । २० स्वतः स्वयं । २१ ऐसा । २२ कैसे । २३ हुआ । २४ कैसे, क्यों । २५ जिससे । २६ अवक्तव्य । २७ निर्मा । २८ कहलाता । २९ यहीं । ३० ऐसा । ३१ निरर्थक ।

नामाख्य कर्म स्वभाव थी निज जीवद्रव्य-स्वभावने। अभिभूत करी तिर्यंच, देव, मनुष्य वा नारक करे ॥११७॥
तिर्यंच-सुर-नर-नारकी जीव नामकर्म-निपन्न छे। निज कर्म रूप परिणमन थी ज स्वभावलब्धि न तेमने ॥११८॥
नहि कोई ऊपजे विणसे क्षण भंग संभव मय जँगे। कारण जनम ते नाश छे; वली जन्मनाश विभिन्न छे॥११९॥
ते थी स्वभावे स्थिर एवुं न कोई छे संसार मां। संसार तो संसरण करता द्रव्य केरी छे क्रिया ॥१२०॥
कर्मे मलिन जीव कर्म संयुत पामतो परिणामने। ते थी करम बंधाय छे; परिणाम तेथी कर्म छे ॥१२१॥
परिणाम पोते जीव छे ने छे क्रिया ए जीव मयी। किरिया गणी छे कर्म; ते थी कर्मनो कर्ता नथी ॥१२२॥
जीव चेतना रूप परिणमे; वली चेतना त्रिविधागणी। ते ज्ञानविषयक, कर्मविषयक, कर्म फलविषयक कही ॥१२३॥
छे 'ज्ञान' अर्थविकल्प, ने जीवथी करातुं 'कर्म' छे। ते छे अनेक प्रकारनुं, 'फल'सौख्य अथवा दुःख छे॥१२४॥
परिणाम आत्मक जीव छे, परिणाम ज्ञानादिक बने। तेथी करमफल, कर्म तेमज ज्ञान आत्मा जाणजे ॥१२५॥
'कर्ता, करम, फल, करण जीव छे' एम जो निश्चय करी। मुनि अन्य रूप नव परिणमे, प्राप्ति करे शुद्धात्मनी ॥१२६॥
छे द्रव्य जीव, अजीव; चित-उपयोगमय ते जीव छे। पुद्गल प्रमुख जे छे अचेतन द्रव्य, तेह अजीव छे ॥१२७॥
आकाशमां जे भाग धर्म-अधर्म-काल सहित छे। जीव-पुद्गलोथी युक्त छे, ते सर्वकाले लोक छे ॥१२८॥
उत्पाद, व्यय, ने ध्रुवता जीवपुद्गलात्मक लोकने। परिणामे द्वारा, भेद वा संघात द्वारा थाय छे ॥१२९॥
जे लिंगथी द्रव्यो महीं 'जीव' 'अजीव' एम जणाय छे। ते जाण मूर्त-अमूर्त गुण, अतत्पणांथी विशिष्ट जे ॥१३०॥
गुण मूर्त इन्द्रियग्राह्य ते पुद्गलमयी बहुविध छे। द्रव्यो अमूर्तिक जेह तेना गुण अमूर्तिक जाणजे ॥१३१॥
छे वर्ण तेम ज गंध वली रस-स्पर्श पुद्गलद्रव्यने। अतिसूक्ष्मथी पृथ्वी सुधी; वली शब्द पुद्गल विविध जे ॥१३२॥
अवगाह गुण आकाशनो, गतिहेतुता छे धर्म नो। वली स्थानकारणतारूपी गुण जाण द्रव्य अधर्म नो ॥१३३॥
छे काल नो गुण वर्तना उपयोग भाख्यो जीवमां। ए रीत मूर्ति विहीनता गुण जाणवा संक्षेपमां ॥१३४॥
जीवद्रव्य, पुद्गलकाय, धर्म अधर्म वली आकाशने। छे स्वप्रदेश अनेक, नहि वर्ते प्रदेशो कालने ॥१३५॥
लोके अलोके आभ, लोक अधर्म-धर्म थी व्याप्त छे। छे शेष-आश्रित काल, ने जीव-पुद्गलो ते शेष छे॥१३६॥
जे रीत आभ प्रदेश, ते रीत शेष द्रव्य प्रदेश छे। अप्रदेश परमाणु वडे उद्भव प्रदेश तेणो बने ॥१३७॥
छे काल तो अप्रदेश, एक प्रदेश परमाणु यदा। आकाशद्रव्य तणो प्रदेश अतिक्रमे वर्ते तदा ॥१३८॥
ते देशना अतिक्रमण सम छे 'समय', तत्पूर्वापरे। जे अर्थ छे ते काल छे, उत्पन्नध्वंसी 'समय' छे ॥१३९॥
आकाश जे अणुव्याप्य, आभप्रदेश' संज्ञा तेह ने। ते एक सौ[16] परमाणु ने अवकाश दान समर्थ छे ॥१४०॥
वर्ते प्रदेशो द्रव्यने, जे, एक अथवा बे अने। बहु वा असंख्य, अनंत छे; वली होय समयो कालने ॥१४१॥
एक ज समयमां ध्वंस ने उत्पाद नो सद्भाव छे। जो कालने तो काल तेह स्वभाव-समवस्थित छे ॥१४२॥
प्रत्येक समये जन्म-ध्रौव्य विनाश अर्थो कालने। वर्ते सरवदा, आ ज बस कालाणु नो सद्भाव छे ॥१४३॥

---

१ पराजित। २ स्वरूप प्राप्ति। ३ लोकमें। ४ मानीगई। ५ किया जाता। ६ ऐसा। ७ चैतन्यउपयोगात्मक। ८ जो। ९ परिणमन। १० मध्य, में। ११ आकाश। १२ का। ३ जब। १४ तब। १५ आकाश-प्रदेश। १६ सब। १७ ध्रुव। १८ मात्र।

जे अर्थने न बहु प्रदेश, न एक वा परमार्थथी[1]। तें अर्थ जाणो शून्य केवल-अन्य जे अस्तित्वथी ॥१४४॥
सप्रदेश अर्थोथी समाप्त समग्र लोक सुनित्य छे। तसु जाणनारो जीव, प्राण चतुष्क थी संयुक्त जे ॥१४५॥
इन्द्रियप्राण, तथा वली बलप्राण, आयुप्राणने। वली प्राण श्वासोच्छ्वास-ए सौ जीव केरा प्राण छे ॥१४६॥
जे चार प्राणे जीवतो पूर्वे, जीवेछे, जीवशे[3]। ते जीव छे; पण प्राण तो पुद्गल दरव निष्पन्न छे ॥१४७॥
मोहादिकर्म निबंधथी संबन्धपामी प्राण नो। जीव कर्मफल-उपभोग करतां बंध पामे कर्म नो ॥१४८॥
जीव मोहद्वेष वडे करे बाधा जीवो ना प्राण ने। तो बंध ज्ञानावरण-आदिक कर्म नो ते थाय छे ॥१४९॥
कर्मे मलिन जीव त्यां लगी प्राणो धरे छे फरी फरी। ममता शरीरप्रधान विषये ज्यां लगी छोडे नहीं ॥१५०॥
करी इन्द्रियादिक-विजय ध्यावे आत्मने उपयोगने। ते कर्मथी रंजित नहि; क्यम प्राण तेने अनुसरे ? ॥१५१॥
अस्तित्व निश्चित अर्थनो को अन्यअर्थे उपजतो। जे अर्थ तेपर्याय छे, ज्यां भेद संस्थानादि नो ॥१५२॥
तिर्यंच, नारक, देव, नर ए नामकर्मोदय वडे। छे जीवना पर्याय, जेह विशिष्ट संस्थानादिके[6] ॥१५३॥
अस्तित्वथी निष्पन्न द्रव्य स्वभावने त्रिविकल्पने। जे जाणतो, ते आत्मा नहि मोह परद्रव्ये लहे ॥१५४॥
छे आतमा उपयोगरूप, उपयोग दर्शन-ज्ञान छे। उपयोग ए आत्मा तणो शुभ वा अशुभरूप होय छे ॥१५५॥
उपयोग जो शुभ होय, संचय थाय पुण्य तणो तहीं। ने पापसंचय अशुभथी; ज्यां उभय नहि संचय नहि ॥१५६॥
जाणे जिनोने जेह, श्रद्धे सिद्धने, अणगारने। जे सानुकम्प जीवो प्रति, उपयोग छे शुभ तेहने ॥१५७॥
कुविचार-संगति-श्रवणयुत, विषये कषाये मग्न जे। जे उग्रने उन्मार्गपर, उपयोग तेह अशुभ छे ॥१५८॥
मध्यस्थ परद्रव्ये थतो अशुभोपयोग रहितने। शुभमां अयुक्त, हुं ध्याउँ छुं निज आत्मने ज्ञानात्मने ॥१५९॥
हुं देह नहि, वाणी न, मन नहि, तेमनुं[8] कारण नहि। कर्ता न, कारयिता न अनुमंता हुँ कर्ता नो नहि ॥१६०॥
मन, वाणी तेमज देह पुद्गलद्रव्य रूप निर्दिष्ट छे। ने तेह पुद्गलद्रव्य बहु परमाणुओ नो पिंड छे ॥१६१॥
हुँ पौद्गलिक नथी, पुद्गलो में पिंड रूप कर्यों नथी। तेथी नथी हुं देह वा ते देहनो कर्ता नथी ॥१६२॥
परमाणु जे अप्रदेश, तेम प्रदेशमात्र, अशब्द छे। ते स्निग्ध रूक्ष बनी प्रदेशद्वयादित्व अनुभवे ॥१६३॥
एकांशथी आरंभी ज्यां अविभाग अंश अनंत छे। स्निग्धत्व वा रूक्षत्व ए परिणाम थी परमाणुने ॥१६४॥
हो स्निग्ध अथवा रूक्ष अणु-परिणाम सम वा विषम हो। बंधाय जो गुणद्वय अधिक; नहि बंध होय जघन्यनो ॥१६५॥
चतुरंश को स्निग्धाणु सह द्वय-अंशमय स्निग्धाणुनो। पंचांशी अणु सह बंध थाय त्र्यंशमय रूक्षाणु नो ॥१६६॥
स्कन्धो प्रदेशद्वयादियुत, स्थूल सूक्ष्म ने साकार जे। ते पृथ्वी-वायु-तेज-जल परिणामथी निज थाय छे ॥१६७॥
अवगाढ गाढ भरेल छे सर्वत्र पुद्गलकाय थी। आलोक बादर-सूक्ष्मथी, कर्मत्वयोग्य-अयोग्यथी ॥१६८॥
स्कंधो करम ने योग्य पामी जीवना परिणाम ने। कर्मत्वने पामे; नहि जीव परिणमावे तेमने ॥१६९॥
कर्मत्व परिणत पुद्गलोना स्कन्ध ते ते फरीफरी। शरीरो बने छे जीवने, संक्रांति पामी देहनी ॥१७०॥
जे देह औदारिक, ने वैक्रिय-तेजस देह छे। कार्मण-स्वरूपक देह ए, ते सर्व पुद्गलरूप छे ॥१७१॥

१ निश्चय से। २ के। ३ जीवित रहेगा। ४ संबन्ध। ५ पुनः पुनः, बारंबार। ६ आकृति, आकार।
७ निर्ग्रन्थ। ८ उनका। ९ नहीं। १० परिवर्तन।

छे चेतनागुण, गंध-रूप रस-शब्द व्यक्ति[1] न जीवने। वली लिंगग्रहण नथी अने संस्थान भाख्युं न तेहने ॥१७२॥
अन्योन्य स्पर्शथी बंध थाय रूपादि गुणयुत मूर्तने। पण जीव मूर्तिरहित बांधे केम[2] पुद्गल कर्म ने ? ॥१७३॥
जे रीत दर्शन-ज्ञान थाय रूपादिनुं-गुणद्रव्यनुं। ते रीत बंधन जाण मूर्ति रहितने पण मूर्तनुं ॥१७४॥
विधविध[3] विषयो पामीने उपयोग आत्मक जीव जे। प्रद्वेष-राग-विमोह भावे परिणमे ते बन्ध छे ॥१७५॥
जे भावथी देखे अने जाणे विषयगत अर्थ ने। तेमांथी छे उपरक्तता वली कर्म बंधन ते वडे ॥१७६॥
रागादि सह आत्मा तणो, नै स्पर्श सह पुद्गलतणो। अन्योन्य जे अवगाह, तेने बंध उभयात्मक कह्यो ॥१७७॥
सप्रदेश छे ते जीव, जीवप्रदेशमां आवे अने। पुद्गलसमूह रहे यथोचित, जाय छे, बंधाय छे ॥१७८॥
जीव रक्त बांधे कर्म, रागरहित जीव मुकाय छे। -आ जीव केरा बंधनो संक्षेप निश्चय जाणजे ॥१७९॥
परिणाम थी छे बंध, राग-विमोह-द्वेषथी युक्त जे। छे मोह-द्वेष अशुभ, राग अशुभ वा शुभ होय छे ॥१८०॥
पर मांही शुभपरिणाम पुण्य, अशुभ परमां पाप छे। निजद्रव्य गत परिणाम समये दुःख क्षयनो हेतु छे ॥१८१॥
स्थावर अने त्रस पृथ्वीआदिक जीवकाय कहेल जे। ते जीवथी छे अन्य तेमज जीव तेथी अन्य छे ॥१८२॥
परने स्वने नहि जाणतो ए रीत पामी स्वभावने। ते 'आ हुं[8], आ मुज[9]' एम अध्यवसान[10] मोह थकी[11] करे ॥१८३॥
निज भाव करतो जीव छे कर्ता खरे[12] निज भावनो। पण ते नथी कर्ता सकल पुद्गल दरवमय भावनो ॥१८४॥
जीव सर्वकाले पुद्गलो नी मध्यमां वर्ते भले। पण नव ग्रहे न तजे, करे नहि जीव पुद्गलकर्मने ॥१८५॥
ते हाल[13] द्रव्य जनित निजपरिणाम नो कर्ता बने। तेथी ग्रहाय अने कदापि मुकाय छे कर्मो वडे ॥१८६॥
जीव रागद्वेषथी युक्त ज्यारे परिणमे शुभ-अशुभमां। ज्ञानावरण इत्यादि भावे कर्म धूलि प्रवेश त्यां ॥१८७॥
सप्रदेश जीव समये कषायित मोहरागादि वडे। संबन्ध पामी कर्मरजनो बंधरूप कथाय छे ॥१८८॥
आ जीव केरा बंधनो संक्षेप निश्चय भाखियो[14]। अर्हंतदेवे योगीने; व्यवहार अन्य रीते कह्यो ॥१८९॥
'हुं आ अने आ मारुं, ए ममता न देह-धने तजे। ते छोडी जीव श्रामण्यने[15] उन्मार्ग नो आश्रय करे ॥१९०॥
हुं पर तणो नहि, पर न मारां, ज्ञानकेवल एक हुं। जे एम ध्यावे, ध्यानकाले जीव ते ध्याता बने ॥१९१॥
ए रीत दर्शन-ज्ञान छे, इन्द्रिय-अतीत महार्थ छे। मानुं हुं—आलंबन रहित, जीव शुद्ध निश्चल ध्रुव छे ॥१९२॥
लक्ष्मी, शरीर, सुख दुःख अथवा शत्रु मित्र जनो अरे! जीवने नथी कंई ध्रुव, ध्रुव उपयोग-आत्मक जीव छे ॥१९३॥
-आ जाणी शुद्धात्मा बनी[16] ध्यावे परम निज आत्मने। साकार अण-आकार हो ते मोहग्रंथि[17] क्षय करे ॥१९४॥
हणी[18] मोहग्रंथि, क्षय करी रागादि समसुख दुःख जे। जीव परिणमे श्रामण्यमां, ते सौख्य अक्षयने लहे ॥१९५॥
जे मोहमल करी नष्ट, विषय विरक्त थई[19], मन रोकीने। आत्मस्वभावे स्थित छे, ते आत्मने ध्यानार[20] छे ॥१९६॥
शा[21] अर्थ ने ध्यावे श्रमण, जे नष्टघातिकर्म छे। प्रत्यक्ष सर्वपदार्थ ने ज्ञेयान्त प्राप्तनिःशंक छे ? ॥१९७॥
बाधारहित सकलात्ममां संपूर्ण सुख ज्ञानाढ्य जे। इन्द्रिय-अतीत अनिन्द्रि[22] ते ध्यावे परम आनंदने ॥१९८॥

---

१ अभिव्यक्ति, प्रकटपना। २ कैसे, किसप्रकार। ३ विविध, अनेकप्रकार। ४ आत्मा। ५ योग्य। ६ छोड़ता। ७ कहे गये। ८ यह मैं हूं। ९ यह मेरा है। १० मिथ्या अभिप्राय। ११ से, द्वारा। १२ वास्तव में। १३ अभी। १४ कहागया है, निर्दिष्ट किया है। १५ मुनि मार्गको, श्रमणताको। १६ होकर। १७ मोहरूपी गांठ। १८ नष्टकर। १९ होकर। २० ध्यान करने वाला, ध्याता। २१ किस। २२ अनिन्द्रिय।

श्रमणो, जिनो, तीर्थंकरो आ रीत सेवी मार्ग ने । सिद्धि वर्या; नमुं तेमने, निर्वाण ना ते मार्ग ने ॥१९९॥

ए रीत तेथी आत्मने ज्ञायक स्वभावी जाणीने । निर्ममपणे रही स्थित आ परिवर्जु छुं हुं ममत्वने ॥२००॥

३-चरणानुयोग सूचक चूलिका

ए रीत प्रणमी सिद्ध, जिनवरवृषभ, मुनिने फरी फरी । श्रामण्य अंगीकृत करो, अभिलाष जो दुःखमुक्ति नी ॥२०१॥

बंधु जनोनी विदाय लइ, स्त्री-पुत्र वडीलो थी छूटी । दृग-ज्ञान-तप-चारित्र-वीर्याचार अंगीकृत करी ॥२०२॥

'मुज ने ग्रहो' कही, प्रणत थई, अनुगृहीत थाय गणी वडे । -वयरूप कुल विशिष्ट, योगी, गुणाढ्य ने मुनिइष्ट जे॥२०३॥

परनो न हुं, पर छे न मुज, मारुं नथी कंई पण जगे । -ए रीत निश्चित ने जितेंद्रिय साहजिकरूपधर बने ॥२०४॥

जन्म्याप्रमाणे रूप, लुंचनकेशनुं, शुद्धत्वने । हिंसादिथी शून्यत्व, देह-असंस्करण-ए लिंग छे ॥२०५॥

आरंभ मूर्छाशून्यता, उपयोग योग विशुद्धता । निरपेक्षता परथी-जिनोदित मोक्षकारण लिंग आ ॥२०६॥

ग्रही परमगुरु-दीधेलँ लिंग नमस्करण करी तेमने । व्रत ने क्रिया सुन, थई उपस्थित, थाय छे मुनिराज ए ॥२०७॥

व्रत, समिति, लुंचन, आवश्यक, अणचेलँ इंद्रियरोधनं, नहि स्नान दातण, एक भोजन, भूशयन स्थिति भोजनं ॥२०८॥

-आ मूलगुण श्रमणो तणा जिनदेवथी प्रज्ञप्त छे । तेमां प्रमत्त थतां श्रमण छेदोपस्थापक थाय छे ॥२०९॥

जे लिंगग्रहणे साधु पद देनार ते गुरु जाणवा । छेदद्वये स्थापन करे ते शेष मुनि निर्यापका ॥२१०॥

जो छेद थाय प्रयत्न सह कृत कायनी चेष्टाविषे । आलोचना पूर्वक क्रिया कर्तव्य छे, ते साधुने ॥२११॥

छेदोपयुक्त मुनि, श्रमण व्यवहार विज्ञ कने जई । निज दोष आलोचन करी, श्रमणोपदिष्ट करे विधि ॥२१२॥

प्रतिबंध परित्यागी सदा अधिवास अगर विवासँ मां । मुनिराज विहरो सर्वदा थई छेदहीन श्रामण्यमां ॥२१३॥

जे श्रमण ज्ञान-दृगादिके प्रतिबद्ध विचरे-सर्वदा । ने प्रयत मूलगुणो विषे, श्रामण्य छे परिपूर्ण त्यां ॥२१४॥

मुनि क्षपणे मांहीं, निवासस्थान, विहार वा भोजनमहीं । उपधि-श्रमण-विकथा महीं प्रतिबंधने इच्छे नहीं ॥२१५॥

आसन-शयन-गमनादिके चर्या प्रयत्न विहीन जे । ते जाणवी-हिंसा सदा संतानवाहिनी श्रमण ने ॥२१६॥

जीवो-मरो जीव, यत्नहीन आचार त्यां हिंसा नक्की । समिति-प्रयत्नसहितने नहि बंध हिंसा मात्रथी ॥२१७॥

मुनि यत्न हीन आचार वंत छकायनो हिंसक कह्यो । जल कमलवत् निर्लेप भाख्यो, नित्य यत्न सहित ने ॥२१८॥

दैहिक क्रिया थकी जीव मरता बंध थाय-न थाय छे । परिग्रह थकी ध्रुव बंध, तेथी समस्त छोड्यो योगीए ॥२१९॥

निरपेक्ष त्याग न होय तो नहि भावशुद्धि भिक्षु ने । ने भावमां अविशुद्ध ने क्षय कर्मनो कई रीत बने ? ॥२२०॥

आरंभ, अणसंयम अने मूर्छा न त्यां-ए क्यम बने ? पर द्रव्यरत जे होय ते कई रीत साधे आत्म ने ? ॥२२१॥

---

१ प्राप्ति की । २ निर्ममत्व । ३ गुरुजनों, पूज्यजनों । ४ विनययुक्त प्रणाम करके । ५ [illegible] । ६ गुणसमृद्ध । ७ कुल । ८ यथाजातरूप धारी, जन्मसमयके शरीरका रूपधारी अर्थात् निर्ग्रंथ । ९ [illegible] । १० शृंगार नहीं करना, वेशभूषा युक्त न करना । ११ जिनेन्द्र निरूपित । १२ [illegible] । १३ [illegible] । १४ दिये गये । १५ दिगम्बरत्व । १६ दतौन । १७ नियामक, [illegible] । १८ [illegible] । १९ एकलविहारी, गुरुसे अलग रहकर । २० [illegible] । २१ [illegible] । २२ [illegible] । २३ [illegible] । २४ निश्चित । २५ से, द्वारा । २६ प्रयोजन रहित । २७ किस प्रकार ।

ग्रहणे विसर्गे सेवतां नहि छेद जे थी थाय छे। ते उपधि सह वर्तो भले मुनि काल क्षेत्र विजाणीने ॥२२२॥
उपधि अनिंदितने, असंयत जन थकी अणप्रार्थ्यने। मूर्च्छादिजननरहितने ज ग्रहो श्रमण, थोडो भले ॥२२३॥
क्यम अन्य परिग्रह होय ज्यां कही देहने परिग्रह अहो! मोक्षेच्छु ने देहेय निष्प्रतिकर्म उपदेशे जिनो? ॥२२४॥
जन्म्या प्रमाणे रूप भाख्युं उपकरण जिन मार्गमां। गुरुवचन ने सूत्राध्ययन, वली विनय पण उपकरणमां ॥२२५॥
आलोक मां निरपेक्ष ने परलोक-अणप्रतिबद्ध छे। साधु कषाय रहित, ते थी युक्त आहार विहारी छे ॥२२६॥
आत्मा अनेषक ते य तप, तत्सिद्धिमां उद्यत रही। वण-एषणा भिक्षा वली तेथी अनाहारी मुनि ॥२२७॥
केवलशरीर मुनि त्यांय 'मारुं न' जाणी वण-प्रतिकर्म छे। निज शक्तिना गोपन विना तप साथ तन योजेल छे ॥२२८॥
आहार ते एक ज, ऊणोदर ने यथा-उपलब्ध छे। भिक्षा वडे, दिवसे, रसेच्छाहीन वर्ण-मधुमांस छे ॥२२९॥
वृद्धत्व, बालपणा विषे, ग्लानत्वे, श्रांतदशा विषे। चर्या चरो निजयोग्य, जे रीत मूलछेद न थायछे ॥२३०॥
जो देश-काल तथा क्षमा-श्रम-उपधि ने मुनि जाणीने। वर्ते अहारविहारमां, तो अल्प लेपी श्रमण ते ॥२३१॥
श्रामण्य ज्यां ऐकाग्र्य, ने ऐकाग्र्य वस्तुनिश्चये। निश्चय बने आगम वडे, आगम प्रवर्तन मुख्य छे ॥२३२॥
आगमरहित जे श्रमण ते जाणे न परने आत्मने। भिक्षु पदार्थ-अजाण ते क्षय कर्मनो कई रीति करे? ॥२३३॥
मुनिराज आगमचक्षु ने सौ भूत[11] इन्द्रिय चक्षु छे। छे देव अवधिचक्षुने सर्वत्र चक्षु सिद्ध छे ॥२३४॥
सौ चित्रे[12] गुण पर्याय युक्त पदार्थ आगमसिद्ध छे। ते सर्व ने जाणे श्रमण ए देखी ने आगम वडे ॥२३५॥
दृष्टि न आगमपूर्विका ते जीवने संयम नहीं। -ए सूत्र केरुं[13] छे वचन; मुनि केम होय असंयमी? ॥२३६॥
सिद्धि नहीं आगमयकी, श्रद्धा न जो अर्थो तणी। निर्वाण नहीं अर्थो तणी श्रद्धाथी, जो संयम नहीं ॥२३७॥
अज्ञानी जे कर्मो खपावे लक्ष कोटि भवो वडे। ते कर्म ज्ञानी त्रिगुप्त बस उच्छ्वास मात्र थी क्षय करे ॥२३८॥
अणु मात्र पण मूर्च्छा तणो सद्भाव जो देहादि के। तो सर्व आगमधर[14] भले पण नव लहे सिद्धत्वने ॥२३९॥
जे पंचसमित, त्रिगुप्त, इन्द्रिनिरोधी विजयी कषायनो। परिपूर्ण दर्शन ज्ञानथी, ते श्रमण ने संयत कह्यो ॥२४०॥
निंदा प्रशंसा, दुःख सुख, अरि-बंधुमां ज्यां साम्यछे। वली लोष्ठ-कनके, जीवित-मरणे साम्यछे ते श्रमण छे ॥२४१॥
दृग, ज्ञानने चारित्र, त्रयमां युगपदे आरूढ़ जे। तेने कह्यो एकाग्रयगत; श्रामण्य त्यां परिपूर्ण छे ॥२४२॥
परद्रव्य ने आश्रय श्रमण अज्ञानी पामे[15] मोह ने। वा रागने वा द्वेषने, तो विविध बांधे कर्म ने ॥२४३॥
नहि मोह, ने नहि राग, द्वेष करे नहि अर्थोविषे। तो नियमथी मुनिराज ए विधविध कर्मो क्षय करे ॥२४४॥
शुद्धोपयोगी श्रमण छे, शुभ युक्त पण शास्त्रे कह्या। शुद्धोपयोगी छे निराश्रव शेष साश्रव जाणवा ॥२४५॥
वात्सल्य प्रवचनरत विषे ने भक्ति अर्हंतादि के। -ए होय जो श्रामण्य मां तो चरण ते शुभयुक्त छे ॥२४६॥
श्रमणो प्रति वंदन, नमन, अनुगमन अभ्युत्थान ने। वली श्रम निवारण छे न निंदित रागयुत चर्या विषे ॥२४७॥
उपदेश दर्शन ज्ञान नो, पोषण-ग्रहण शिष्यो तणुं[16]। उपदेश जिनपूजा तणो-वर्तन तुं जाण सराग नुं ॥२४८॥

---

१ जानकर। २ अप्रार्थनीय। ३ निरपेक्षता, निर्मोहभाव। ४ आहार। ५ आहारेच्छासे रहित। ६ बिना, रहित। ७ रहित। ८ रोगीपना, व्याधियुक्तता। ९ सहनशक्ति। १० विचार, मनन। ११ प्राणी। १२ अनेक प्रकारके। १३ का, वक्त, कहा गया। १४ समस्त शास्त्रोंका ज्ञाता। १५ प्राप्त होता है। १६ का।

वर्णी जीवकाय विराधना उपकार जे नित्ये करे । चउ विध साधु संघ ने, ते श्रमण रागप्रधान छे ॥२४९॥

वैयावृते उद्यत श्रमण षटकाय ने पीड़ा करे । तो श्रमण नहि पण छे गृही; ते श्रावको नो धर्म छे ॥२५०॥

छे अल्प लेप छतां य दर्शन ज्ञान परिणत जैन ने । निरपेक्षता पूर्वक करो उपकार अनुकंपा वडे ॥२५१॥

आक्रान्त देखी श्रमण ने श्रम, रोग वा भूख, प्यास थी । साधु करो सेवा स्वशक्ति प्रमाणे ए मुनिराजनी ॥२५२॥

सेवा निमित्ते रोगी-बालक-वृद्ध-गुरु श्रमणो तणी । लौकिकजनो सह वात शुभ-उपयोगयुत निंदित नथी ॥२५३॥

आ शुभ चर्या श्रमणने, वली मुख्य होय गृहस्थ ने । तेनी वडे जे गृहस्थ पामे मोक्षसुख उत्कृष्टने ॥२५४॥

फल होय छे विपरीत वस्तु विशेष थी शुभ रागने । निष्पत्ति विपरीत होय भूमि विशेषथी ज्यम बीज ने ॥२५५॥

छद्मस्थ-अभिहित ध्यान दाने व्रत नियम पठनादि के । रत जीव मोक्ष लहे नहि बस भाव शातात्मक लहे ॥२५६॥

परमार्थ थी अनभिज्ञ, विषयकषाय अधिक जनो परे । उपकार सेवा-दान सर्व कुदेवमनुजपणे फले ॥२५७॥

'विषयो कषायो पापछे' जो एम निरुपण शास्त्र मां । तो केम तत्प्रतिबद्ध पुरुषो होय रे निस्तारकां? ॥२५८॥

ते पुरुष जाण सुमार्गशाली, पाप-उपरम जेह ने । समभाव ज्यां सौ धार्मिके, गुणसमूहसेवन जेह ने ॥२५९॥

अशुभोपयोग रहित श्रमणो-शुद्ध वा शुभयुक्त जे । ते लोकने तारे; अने तद्भक्त पामे पुण्यने ॥२६०॥

प्रकृत वस्तु देखी अभ्युत्थान आदि क्रिया थकी । वर्तो श्रमण पछी वर्तनीय गुणानुसार विशेष थी ॥२६१॥

गुणथी अधिक श्रमणो प्रति सत्कार अभ्युत्थान ने । अंजलिकरण, पोषण, ग्रहण सेवन अहीं उपदिष्ट छे ॥२६२॥

मुनि सूत्र-अर्थ प्रवीण संयम ज्ञान तप समृद्ध ने । प्रणिपात अभ्युत्थान, सेवा साधु ए कर्तव्य छे ॥२६३॥

शास्त्रे कह्युं तप सूत्र संयम युक्त पण साधु नहीं । जिन-उक्त आत्मप्रधान सर्व पदार्थ जो श्रद्धे नहि ॥२६४॥

मुनि शासने स्थित देखी ने जे द्वेषथी निंदा करे । अनुमत नहि किरिया विषे, ते नाश चरण तणो करे ॥२६५॥

जे हीन गुण होवा छतां 'हुं पण श्रमण छुं' मद करे । इच्छे विनय गुण-अधिक पास, अनंत संसारी बने ॥२६६॥

मुनि अधिकगुण हीनगुण प्रति वर्ते यदि विनयादि मां । तो भ्रष्ट थाय चरित्र थी उपयुक्त मिथ्याभाव मां ॥२६७॥

सूत्रार्थनिश्चयवंत, शमितकषाय, अधिक तपी भले । पण ते नथी संयत, यदि छोडे न लौकिक-संगने ॥२६८॥

निर्ग्रंथ रूप दीक्षा वडे संयम तपे संयुक्त जे । लौकिक कह्यो ते ने य, जो छोडे न ऐहिक कर्मने ॥२६९॥

ते थी श्रमणने होय जो दुःख मुक्ति केरी भावना । तो नित्य वसवुं समान अगर विशेष गुणीना संगमां ॥२७०॥

समयस्थ हो पण सेवी भ्रम अयथाग्रहे जे अर्थ ने । अत्यन्त फल समृद्ध भावी कालमां जीव ते भमे ॥२७१॥

अयथाचरण हीन, सूत्र-अर्थ सुनिश्चयी उपशांत जे । ते पूर्ण साधु अफल आ संसार मां चिर नहि रहे ॥२७२॥

जाणी यथार्थ पदार्थ ने, तजी संग अंतर्बाह्य ने । आसक्त नहि विषयो विषे जे 'शुद्ध' भाख्या तेमने ॥२७३॥

रे ! शुद्ध ने श्रामण्य भाख्युं, ज्ञानदर्शनशुद्धने । छे शुद्ध ने निर्वाण, शुद्ध ज सिद्ध प्रणमुं तेहने ॥२७४॥

साकार अण-आकार चर्यायुक्त आ उपदेशने । जे जाणतो ते अल्प काले [illegible] ॥२७५॥

❁ समाप्त ❁

---

१ विना, रहित । २ सेवा; शुश्रूषा । ३ तो भी । ४ द्वारा । ५ उनके । ६ हां । ७ यत्न । ८ प्राप्त करते । ९ प्रणाम । १० सांसारिक । ११ निस्सार, फलरहित ।

साधक जीवकी दृष्टि

अध्यात्ममें सदा निश्चयनय ही प्रधान है, उसीके आश्रयसे धर्म होता है। शास्त्रोंमें जहां विकारी पर्यायोंका व्यवहारनयसे कथन किया जावे वहाँ भी निश्चयनय को ही मुख्य और व्यवहारनयको गौण करनेका आशय है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि पुरुषार्थ के द्वारा अपने में शुद्ध पर्यायको प्रगट करने अर्थात् विकारी पर्यायको टालने के लिये सदा निश्चयनय ही आदरणीय है। उस समय दोनों नयोंका ज्ञान होता है, किन्तु धर्मको प्रगट करनेके लिये दृष्टिमें दोनों नय कदापि आदरणीय नहीं हैं। व्यवहार नयके आश्रयसे कभी आंशिक धर्म भी नहीं होता, प्रत्युत उसके आश्रयसे रागद्वेषके विकल्प ही उठा करते हैं।

छहों द्रव्य, उनके गुण और उनकी पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये कभी निश्चय नयकी मुख्यता और व्यवहार नयकी गौणता रखकर कथन किया जाता है, और कभी व्यवहार नयको मुख्य करके और निश्चयनयको गौण रखकर कथन किया जाता है। स्वयं विचार करे उसमें भी कभी निश्चय नयकी और कभी व्यवहार नयकी मुख्यता की जाती है। अध्यात्म शास्त्रमें भी जीवकी विकारी पर्याय जीव स्वयं करता है तो होती है, और वह जीवका अनन्य परिणाम है—इसप्रकार व्यवहार नयसे कहा या समझाया जाय, किन्तु उस प्रत्येक समयमें दृष्टिमें तो निश्चयनय एक ही मुख्य और आदरणीय है— ऐसा ज्ञानियोंका कथन है। शुद्धता प्रगट करनेके लिये कभी निश्चयनय आदरणीय होता है और कभी व्यवहारनय;—ऐसा मानना भूल है। तीनों कालमें एकमात्र निश्चयनयके आश्रयसे ही धर्म प्रगट होता है,—ऐसा समझना चाहिये।

साधक जीव प्रारंभसे अंत तक निश्चय की ही मुख्यता रखकर व्यवहारको गौण ही करता जाता है, जिससे साधक दशामें निश्चयकी मुख्यताके बलसे साधकके शुद्धताकी वृद्धि ही होती जाती है और अशुद्धता टलती ही जाती है। इस प्रकार निश्चयकी मुख्यताके बलसे पूर्ण केवलज्ञान होने पर वहाँ मुख्यत्व गौणत्व नहीं होता, और नय भी नहीं होते।

श्री प्रवचनसारकी वर्णानुक्रम गाथासूची

कलशकाव्योंकी वर्णानुक्रम सूची

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
५४	२४	काण	कारण
६५	१३	शुद्धिकी	शुद्धिके
९२	१०	स्वछन्द	स्वच्छन्द
८८	१५	क	को
९३	११	भगवन्तोंके द्वारा	भगवन्तों ने स्वयं
११३	१२	[श्रुवन्ति]	[ब्रुवन्ति]
११८	२	पीततात्पुपाद	पीततात्पुरवाद
१२५	७	नुत्पन्नमलीनत्वाघ	नुत्पन्नमलीनत्वाद
१५६	१४	उत्पन्न	उत्पन्न
१९८	११	लोकनियमोनास्ति	लोकनियमो नास्ति
२००	३०	भेदरहित	भेदरहित
२१४	२७	दृष्टिसंस्थानम]	दृष्टिसंस्थानम्]
२१५	८	विपयरयस्य	विपर्ययस्य
२२०	२२	.... ए	निमित्त हैं ऐसे
२३४	२१	अतिन्द्रिय	अतीन्द्रिय
२३४	२५	गधं	गंध
२३६	२१	उपयोगात्क	उपयोगात्मक
२६०	८	अविद्यासे	अविद्यासे
२७५	१६	क्योंकि	क्योंकि
२८२	२१	[[illegible]]	[[illegible]]
२८६	८	[illegible]	[illegible]
३१६	२४	निरतर	निरंतर
३२०	२१	अलिक	अधिक
३२६	२१	पत्मादर्श	पद्मादर्श